मनोहर विचारों के मनोहर चित्र

द्वितीय भाग

लेखक

उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक आगम-वारिधि

उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज

प्रेरक

आत्म-कुल-कमल-दिवाकर संघ-प्रमुख विद्वद्रत्न

श्री रत्न मुनि जी महाराज

सम्पादक

श्री तिलकधर शास्त्री

प्रकाशक

आचार्य श्री आत्माराम जैन शिक्षा निकेतन बोर्ड

जैन स्थानक, लुधियाना

मूल्य पच्चीस रुपये

पुस्तक : मनोहर विचारों के मनोहर चित्र भाग-दो

लेखक : उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक आगम-वारिधि
उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज

प्रेरक : आत्म-कुल-कमल-दिवाकर संघ-प्रमुख विद्वद्रत्न
श्री रत्न मुनि जी महाराज

सम्पादक : श्री तिलकधर शास्त्री
सम्पादक आत्म-रश्मि, लुधियाना

प्रकाशक : आचार्य श्री आत्माराम जैन शिक्षा निकेतन बोर्ड
जैन स्थानक लुधियाना

मुद्रक : आत्म जैन प्रिंटिंग प्रेस
३५०-इण्डस्ट्रियल एरिया-ए, लुधियाना-३

प्रकाशनवेला : आत्म-पुण्य तिथि माघ शुक्ला नवमी सं. २०४१
३० जनवरी १९८५



जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर आचार्य-सम्राट

श्री आतमा राम जी महाराज

(उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज के गुरुदेव)



चारित्र के सुन्दर सौध में
दर्शन का दीप जला कर
ज्ञान की दिव्य ज्योति
प्रदान की जिन्होंने

जिनके कृपा-कटाक्ष की
पहली ही किरण ने
मेरे लिए साधना का पथ
आलोकित कर दिया

जिनकी चरण-शरण में
पहुँच कर मुझे प्राप्त हुआ
परम शान्ति का अक्षय भण्डार
और
जीवन लक्ष्य का परिज्ञान हुआ

उन्हीं प्रातः-स्मरणीय
निगमागम पारगामी
आचार्य-सम्राट परम श्रद्धेय
देवलोकवासी गुरुदेव
श्री आत्मा राम जी महाराज को
सादर समर्पित

मुनि मनोहर

आशीर्वचन

आत्म-कुल-कमल-दिवाकर विद्वद्रत्न श्री रत्न मुनि जी महाराज

जब मैं परम-श्रद्धेय प्रातः-स्मरणीय आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के परम पावन सान्निध्य में बैठ कर वैयावृत्य द्वारा अपने जीवन को सार्थक कर रहा होता था, उस समय मेरे लघु गुरु भ्राता श्री मनोहर मुनि गुरुदेव के चरणों में बैठ कर शास्त्र-स्वाध्याय किया करते थे। कभी-कभी मनोहर मुनि जी की चिन्तन-शीलता ऐसे प्रश्न कर दिया करती थी जिनके समाधान के लिये आचार्य श्री को भी सहज पाठन-क्रम से ऊपर उठ कर विशिष्ट अध्यापन शैली द्वारा समाधान देने पड़ते थे। मेरा हृदय उस समय ही कहा करता था कि "यह मनोहर मुनि किसी समय जैन आगमों के विशिष्ट चिन्तक के रूप में समाज द्वारा सम्मानित होंगे" और उस समय की मेरी-भावना तब सार्थक हुई जब श्री मनोहर मुनि "उपाध्याय-पद" से अलंकृत हुए।

यह ठीक है कि किसी के सम्मान एवं गौरव को कुछ ईर्ष्या-प्रिय व्यक्ति सहन नहीं कर पाते, न कर पायें, परन्तु उपाध्याय-पद की घोषणा ने यह तो प्रमाणित कर ही दिया है कि उत्तरी भारत के जैन श्रमणों में उपाध्याय पद के योग्य श्री मनोहर मुनि जी ही हैं। किसी की दृष्टि में वे उपाध्याय हैं या नहीं, मुझे इस वाद-विवाद से दूर रहने में ही श्रेय प्रतीत होता है, अतः मैं उससे दूर हूं। परन्तु मेरी दृष्टि, मेरी भावना और मेरी कर्तव्य-परायणता उन्हें उपाध्याय ही मानती है, क्योंकि गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज उपाध्याय पद के जिन विशिष्ट गुणों पर प्रकाश डाला करते थे वे सब मेरे इस लघु गुरु भ्राता में विद्यमान हैं, अतः मैंने उनकी गरिमा के अनुरूप उन्हें उपाध्याय-पद से विभूषित कर दिया है।

उनके प्रवचनों की प्रभावशीलता का जय-जयकार भारत के कोने-कोने में गूंज रहा है, उत्कल की धरती का कण-कण उन्हें 'उत्कल-केसरी'



आचार्य श्री अमर सिंह जैन-संघ के प्रमुख
आत्म-कुल-कमल-दिवाकर विद्वद्रत्न
श्री रत्न मुनि जी महाराज

कह कर सम्मान प्रदान करता है। उनके प्रवचन स्थायी रहें इस दृष्टि से मैंने श्री मनोहर मुनि जी को उनके प्रवचनों में व्यक्त होने वाली भावनाओं को लेख रूप में निबद्ध करने की प्रेरणा दी और विनयशील श्री मनोहर मुनि जी ने मानो मेरी प्रेरणा को ही मेरी आज्ञा मानते हुए लेखनी उठाई और वे अपने गम्भीर चिन्तन को लेख बद्ध करने लगे और आपके वे लेख समय-समय पर आत्म-रश्मि में प्रकाशित होने लगे, परन्तु पत्र-पत्रिकाओं की अपेक्षा पुस्तक रूप में प्रकाशित साहित्य का स्थायित्व अधिक होता है, इस दृष्टि से "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" रूप निबन्ध-संग्रह के रूप में मेरी-भावना साकार हुई है, जिससे मेरा मन सन्तुष्ट है—तृप्त है।

ज्ञान को दिव्य नेत्र माना गया है और यह नेत्र जन्म के बाद ही खुलता है निरन्तर की जाने वाली साधना के द्वारा, शास्त्र-अध्ययन से, चिन्तन-मनन एवं पूर्व जन्मों के संस्कारों से तथा मोहनीय कर्म के क्षय से। इसके लिये महापुरुषों की कृपा को भी एक महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। महापुरुष स्वाध्याय के लिये ऐसा आधार प्रस्तुत कर देते हैं जिसके निरन्तर अभ्यास से, उनके प्रवचनों के श्रवण से एवं उनके द्वारा बताई गई साधना-पद्धति से साधनाशील व्यक्ति के ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं और वह आत्मोत्थान के लिये प्रकाश प्राप्त करता है। श्री मनोहर मुनि जी की सशक्त चिन्तनशील लेखनी ने इस कृति के रूप में चिन्तनशील पाठकों के लिए एक ऐसा ही आध्यात्मिक एवं साहित्यिक आधार दिया है जो तत्त्व-जिज्ञासु पाठकों के स्वाध्याय का आधार बन कर उनका जीवन-पथ प्रशस्त करता रहेगा।

मेरी समस्त हार्दिक मंगल-कामनायें यही प्रार्थना करती हैं कि "उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी की चिन्तनशील प्रतिभा लेखनी के माध्यम से युग-युगान्तरों तक संघ एवं चिन्तनशील अध्यात्म-प्रिय पाठकों को ज्ञानामृत प्रदान करती रहे।" ●

स्व-कथ्य

उत्कल-केसरी उपाध्याय श्री मनोहर मुनि "कुमुद"

आपके कर-सम्पुटों को जो कृति सुशोभित कर रही है इसका मनोहर नाम है "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र"। इसका प्रथम भाग कुछ वर्ष पूर्व जिज्ञासु एवं मुमुक्षु पाठकों के नयन-पथ पर आ चुका है। विचारों की इस मंजूषा में है क्या ? वह तो लगन, श्रद्धा एवं औत्सुक्य की चावी से इसे खोल कर ही ज्ञात हो सकेगा, किन्तु विचारों के रंग-बिरंगे चित्रों का आविर्भाव कैसे और कब हुआ ? इस तथ्य को समझाने के लिए मुझे अतीत की ओर मुड़ कर उसके अन्त-स्तल से कुछ मनोहर स्मृतियों के मनोहर मुक्ता आपके समक्ष प्रस्तुत करने होंगे। तब इस विचार-कलश के उद्भव की कहानी कुछ पूरी हो सकेगी।

एक समय था जबकि मैं अपने वयोवृद्ध सहयोगी बाबा श्री विजय मुनि जी महाराज के साथ बंगाल की धरती पर विचरण कर रहा था। अपने कलकत्ता चातुर्मास के उपरान्त मैं खड़ग पुर पहुंचा। वहां सर्व-प्रथम सन् १९७० में "आत्म-ज्योति" नाम की लुधियाना से प्रकाशित एक पत्रिका मुझे मिली, उसे आद्योपान्त पढ़ा मैंने। इसमें प्रस्तुत लेखों, कथाओं कविताओं तथा इसकी अन्य उपयोगी सामग्री ने मेरे मन को प्रभावित किया। इसमें एक लेख मेरा भी था जो मैंने भेजा नहीं था, किन्तु पूज्य श्री रतन मुनि जी महाराज ने मेरे एक पुराने लेख को अपनी ओर से ही प्रकाशित करवा दिया था। यह मेरे लिये आप श्री जी की एक मौन प्रेरणा थी कि "भाई मनोहर ! वाणी के साथ-साथ लेखनी का व्यायाम भी करो तो और भी सुन्दर होगा, क्योंकि वाणी की अपेक्षा लिखित साहित्य का स्थायित्व अधिक होता है।" हमारे संघ-प्रमुख आत्म-कुल-कमल-दिवाकर मेरे अग्रज भ्राता विद्वद्रत्न महामुनीश्वर श्री रतन मुनि जी महाराज की इस मूक सत्प्रेरणा को पा कर मेरी लेखनी ने कुछ लिखना आरम्भ कर दिया और मेरे इस उत्साह में अभिवृद्धि

मनोहर विचारों के मनोहर चित्र-२



प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक

उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक उपाध्याय

श्री मनोहर मुनि जी महाराज 'कुमुद'



की मेरे आदर्श एवं अभिन्न तथा अनुभवी सहयोगी स्थविर [illegible] दाता श्री विजय मुनि जी महाराज ने।

उन्होंने फरमाया—"आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति आचार्य-सम्राट् पूज्य गुरुदेव का एक महत्व पूर्ण स्मारक है। आत्म-ज्योति का प्रकाशन उन्हीं के विचारों एवं चिन्तन-बिन्दुओं को जन-मानस तक पहुंचाने का एक सफल प्रयास है। इस प्रयास को उत्साह मिले और इसके माध्यम से आपके विचार जनता तक पहुंचे, इसके लिए आप आत्म-ज्योति (जो दो साल बाद "आत्म-रश्मि" के नाम से प्रकाशित होने लगी) के प्रत्येक अंक में प्रकाशनार्थ नियमित रूप से अपने विचार अवश्य भेजें।" बस, तब से मैंने इस पत्रिका के लिए कुछ विशेष लिखना आरम्भ कर दिया।

कोई सरल हृदय कहीं यह न समझ ले कि इससे पूर्व मैं कुछ भी लिखता नहीं था। लिखता तो मैं सदैव ही कुछ न कुछ रहा हूं और कितनी ही छोटी - मोटी कृतियों के रूप में मेरी चिन्तन - धारा साकार भी होती रही है, किन्तु मैं उसे केवल अपना बाल प्रयास ही समझता हूं। हां, उसे मैं आज के चिन्तन का शुभारम्भ अवश्य कह सकता हूं।

पंजाब से चलने के बाद लम्बे समय तक मेरे लेखन-कार्य में व्यवधान बना रहा। तीन-चार वर्षों में मैं केवल एक ही पुस्तक लिख पाया। जो मैंने जैन शिक्षा निकेतन के विद्यार्थियों के लिये पाठ्यक्रम की दृष्टि से लिखी थी। इससे अधिक कुछ भी नहीं लिख सका। लिखना भी कैसे सम्भव था? लम्बे और उग्र विहार सदैव सामने खड़े रहते थे। कहीं टिक कर बैठने के शान्त एकान्त क्षण तो मिलते ही नहीं थे। हां, वाणी का व्यायाम सन्त का अवश्य बना रहता है वह जहां भी जाता है लोग उस से कुछ न कुछ सुनना चाहते हैं, इस लिए उसका वह अभ्यास सदैव बना रहता है। बना ही नहीं रहता बल्कि उत्तरोतर बढ़ता भी रहता है। फिर सामाजिक जीवन में जन सम्पर्क भी निरन्तर बढ़ता ही जाता है जो लेखन के लिये समय मिलने में बाधक होता है, क्योंकि इससे स्वाध्याय में अवरोध उत्पन्न होता

और लेखन की दिशा में विशेष प्रगति नहीं हो पाती है। यह मेरा अपना अनुभव है, क्योंकि कुछ वर्षों के निरन्तर विहार के कारण मैं अपने भावों को अक्षरों के सांचे में इच्छा होते हुए भी ढाल नहीं पाता था। फिर भी एक छोटी सी पुस्तक मैंने अपने विहार के संस्मरणों के रूप में कलकत्ता में बैठ कर अवश्य लिखी थी, किसी तरह अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकाल कर ही मैं इसे पूरा कर सका था।

यह सब कुछ लिखने का मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि मेरी लेखनी का अनियमित व्यायाम खडगपुर के पश्चात् फिर नियमित रूप से आरम्भ हो गया। मेरे इस लिखने के उत्साह में आत्म-रश्मि एक प्रबल निमित्त बनी। मैं आत्म-रश्मि के आगामी अंक के लिये कुछ लिखना ही है इस भावना से प्रेरित होकर अपने उद्‌गारों, भावों एवं चिन्तन को साकार रूप देने में संलग्न रहने लगा।

उत्कल की धरती पर निरन्तर पांच वर्ष रहने का मुझे सौभाग्य मिला। वहां स्वाध्याय एवं लिखने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता था। आत्म-रश्मि के प्रायः प्रत्येक अंक में मेरे प्रयास को स्थान मिलता था और मेरे पाठकों ने भी मेरी उत्साह-वृद्धि की जिससे यह क्रम डेढ़ शतक तक अविराम गति से चलता रहा।

कुछ महानुभावों ने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हुए कहा कि "यदि इन लेखों का संग्रह हो जाए तो वह लोक-मानस के लिए अधिक उपयोगी हो सकेगा।" सुझाव एवं विचार अच्छा लगा। मेरे मन ने भी इसका समर्थन किया। फलस्वरूप मेरे लेखों का प्रथम संग्रह "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" प्रकाशित हो कर पाठकों तक पहुंच गया।

सुमन-गुच्छ में जैसे विविध रंगों के सुमन रहते हैं, इस संकलन में भी मैंने ठीक इसी प्रकार सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों से सम्बद्ध विविध लेखों के सुमन एकत्रित करने का प्रयास किया।

फूलों में जैसे सौन्दर्य एवं सौरभ दोनों अभीष्ट हैं, ठीक इसी तरह लेखों में भी शब्द-सौन्दर्य एवं अर्थ और भाव का सौरभ दोनों

का होना अनिवार्य है। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार अपनी विचार-वाटिका में से कुछ सुन्दर एवं सुरभित पुष्प चुन कर उन्हें एक गुलदस्ते के रूप में पाठकों को समर्पित किया है।

मेरे विचार-सुमन पाठकों को प्रिय लगे, क्योंकि पाठकों की ओर से "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" के द्वितीय भाग के प्रकाशित करने के प्रेरणा-स्वर कभी-कभी सुनने को मिल जाते थे। परम श्रद्धेय श्री रत्न मुनि जी महाराज ने भी द्वितीय भाग के प्रकाशन के लिये मुझे समुत्साहित किया, अतः मैंने प्रथम भाग के प्रकाशन के अनन्तर लिखे गए लेखों का संग्रह किया और उन्हें प्रकाशित करने की भावना व्यक्त की। बस, यहीं तक था मेरा कार्य। मेरी भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिये कुछ गृहस्थों ने प्रयास किये और "आचार्य श्री आत्माराम जैन शिक्षा-निकेतन बोर्ड" को अर्थ-सहयोग देकर इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर दी, एतदर्थ सभी प्रकाशन-सहयोगियों के लिये मैं अपनी मंगल-कामनायें प्रदान करता हूं।

"मनोहर विचारों के मनोहर चित्रों" के लिये मैंने विविध विध सुमन श्री तिलकधर शास्त्री को दे दिये। उनकी सम्पादन-कला ने उन सुमनों की जो मनोहर माला सजाई है उसके लिये मेरा आभार-प्लावित हृदय उनके सर्वतोमुखी विकास की कामना करता है।

—मनोहर मुनि

कारण है कि आपकी वाणी का अमृत-पान करते ही श्रोता कृत-कृत्य हो जाते हैं और आपके उपदेशों के अनुरूप स्वयं को ढालने लगते हैं।

आप श्री जी ने आगमों का स्वाध्याय ही नहीं किया, अपितु आगमों के प्रत्येक दुरूह विषय पर मनन-चिन्तन भी किया है, साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों की तात्त्विक दृष्टि एवं मान्यताओं को जाना है, जाना ही नहीं जहां जो कुछ ग्राह्य है उसे उदारता से स्वीकार भी किया है, साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठ कर। उसके साथ जैन संस्कृति के सिद्धान्तों का समन्वय भी किया है, अतः आपकी वाणी एवं लेखनी दोनों में उदारता है जिसके कारण जैन-अजैन सभी आपके विचारों से प्रभावित हो जाते हैं।

समाज की विषम एवं दुरूह समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्त आपके विचारों को कौन नकार सकता है? इन विचारों की अभिव्यक्ति में आपकी स्पष्ट वादिता और निर्भीकता के साथ-साथ विचार-गाम्भीर्य भी प्रकट होता है।

आपकी भाषा में लालित्य है, भावाभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता है, शब्द-चित्र बनाने की कला है, सरलता है और शैली इतनी सरस है कि गद्य भी पद्य जैसा सुमधुर प्रतीत होता है, अतः उसमें एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।

आपकी कथनी और करनी में कहीं भिन्नता नहीं देखी जा सकती, जिस चारित्र-निष्ठा के दर्शन आपके लेखों में होते हैं वही चारित्र-निष्ठा आपके जीवन में भी स्पष्ट देखी जा सकती है। जिस स्पष्ट वादिता को आपके लेखों में देखा जाता है उसी स्पष्टता वादिता के आपकी वाणी और व्यवहार में भी दर्शन होते हैं। आपकी शिष्टता और सहृदयता सबको आपके प्रति श्रद्धान्वित कर देती है।

आज समाज में अनुशासन-हीनता बढ़ रही है, नैतिकता का ह्रास हो रहा है, युवा वर्ग दिग्भ्रान्त होकर पतनोन्मुख बन रहा है, ऐसी विषम परिस्थितियों में आपके द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक देश के चारित्रोत्थान में सहायक होगी और विद्वानों के द्वारा सम्मानित होगी—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

युग-युगान्तरों तक आपकी लेखनी जन-मन को उद्बुद्ध करती रहे यही है मेरी हार्दिक प्रार्थना।

में एक विशिष्ट आकर्षण होता है, हृदय को छू कर उसको उद्बुद्ध करने की शक्ति होती है, प्रत्येक वाक्य में दिव्यता एवं भव्यता होती है। उनकी वाणी में पर्वत से उतरती गंगा जैसा निर्मल प्रवाह होता है, उसमें कहीं शब्दाडम्बरों का घुमाव या अटकाव नहीं होता है।

उनकी प्रवचन-पटुता ही मानो निबन्ध-पटुता का भी रूप धारण कर लेती है। कुछ मुनीश्वर प्रवचन-पटु होते हुए भी लेखन कला पर अधिकार नहीं रखते, कुछ ऐसे भी महामुनीश्वर हैं जो लेखन - कुशल होते हैं, परन्तु प्रवचन-कुशल नहीं। ऐसे कम मुनीश्वर हैं जिनका दोनों पर समान अधिकार हो। उपाध्याय श्री जी प्रवचन एवं लेखन दोनों के कुशल कलाकार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी वाणी और उनकी लेखनी में बड़ा गहरा आपसी समझौता है। दोनों ने एक दूसरे को सहायता करते रहने की शपथ ले रखी है। यही सब कुछ मैंने "मनोहर विचारों के मनोहर चित्रों" के प्रथम भाग में देखा था।

उसके अनन्तर बीच-बीच में सुदूरता एवं व्यस्तता के कारण व्यवधान होते हुए भी उपाध्याय श्री के निबन्ध आत्म-रश्मि में प्रकाशित होते रहे। उन समस्त निबन्धों में तथा उपाध्याय श्री जी के द्वारा कांधला में एक मास की मौन-साधना के समय लिखे गए निबन्धों में महाराज श्री ने सामयिक समस्याओं पर विशिष्ट चिन्तन किया है, साधु-जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने का महा प्रयास किया है, हृदय-स्पर्शी भावनाओं को ऐसी रोचक शैली में अभिव्यक्त किया है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते भावधारा में बहता हुआ उन विचारों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

विगत दो वर्षों से उपाध्याय श्री जी पंजाब में विहरण करते हुए जनता को अपने प्रवचनों से लाभान्वित कर रहे हैं। परन्तु प्रवचन - प्रभाव अस्थायी होता है, क्योंकि श्रुत विषय पर चिन्तन का आधार कभी-कभी विस्मृति में खो भी जाता है। ऐसी दशा में यदि चिन्तन-प्रिय पाठक को लिखित आधार मिल जाये तो वह अपनी चिन्तन-धारा से सहज ही अपने प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये उपाध्याय श्री के निबन्धों को "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र भाग-दो" के

में एक विशिष्ट आकर्षण होता है, हृदय को छू कर उसको उद्बुद्ध करने की शक्ति होती है, प्रत्येक वाक्य में दिव्यता एवं भव्यता होती है। उनकी वाणी में पर्वत से उतरती गंगा जैसा निर्मल प्रवाह होता है, उसमें कहीं शब्दाडम्बरों का घुमाव या अटकाव नहीं होता है।

उनकी प्रवचन-पटुता ही मानो निबन्ध-पटुता का भी रूप धारण कर लेती है। कुछ मुनीश्वर प्रवचन-पटु होते हुए भी लेखन कला पर अधिकार नहीं रखते, कुछ ऐसे भी महामुनीश्वर हैं जो लेखन - कुशल होते हैं, परन्तु प्रवचन-कुशल नहीं। ऐसे कम मुनीश्वर हैं जिनका दोनों पर समान अधिकार हो। उपाध्याय श्री जी प्रवचन एवं लेखन दोनों के कुशल कलाकार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी वाणी और उनकी लेखनी में बड़ा गहरा आपसी समझौता है। दोनों ने एक दूसरे को सहायता करते रहने की शपथ ले रखी है। यही सब कुछ मैंने "मनोहर विचारों के मनोहर चित्रों" के प्रथम भाग में देखा था।

उसके अनन्तर बीच-बीच में सुदूरता एवं व्यस्तता के कारण व्यवधान होते हुए भी उपाध्याय श्री के निबन्ध आत्म-रश्मि में प्रकाशित होते रहे। उन समस्त निबन्धों में तथा उपाध्याय श्री जी के द्वारा कांधला में एक मास की मौन-साधना के समय लिखे गए निबन्धों में महाराज श्री ने सामयिक समस्याओं पर विशिष्ट चिन्तन किया है, साधु-जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने का महा प्रयास किया है, हृदय-स्पर्शी भावनाओं को ऐसी रोचक शैली में अभिव्यक्त किया है कि पाठक पढ़ते-पढ़ते भावधारा में बहता हुआ उन विचारों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

विगत दो वर्षों से उपाध्याय श्री जी पंजाब में विहरण करते हुए जनता को अपने प्रवचनों से लाभान्वित कर रहे हैं। परन्तु प्रवचन - प्रभाव अस्थायी होता है, क्योंकि श्रुत विषय पर चिन्तन का आधार कभी-कभी विस्मृति में खो भी जाता है। ऐसी दशा में यदि चिन्तन-प्रिय पाठक को लिखित आधार मिल जाये तो वह अपनी चिन्तन-धारा से सहज ही अपने प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेता है। इसीलिये उपाध्याय श्री के निबन्धों को "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र भाग-दो" के

मेरा मन्तव्य

● साध्वी-प्रमुखा महासती श्री अभय कुमारी जी महाराज, [illegible]

सन्तत्व के उदय का लक्ष्य है—सांसारिक [illegible] से [illegible] प्राणियों का उद्धार, अशान्त विश्व में शान्ति का संचार, धर्म-जागृति और धर्मतत्त्व का उद्घाटन। [illegible] की पूर्ति के लिये दो साधन अपनाता है। प्रथम साधन है, [illegible] देशानुदेश, प्रान्तानुप्रान्त एवं ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए अपनी ओजस्वी एवं प्रभावशील वाणी द्वारा जन-मानस को उद्बुद्ध करता है, [illegible]-नामयी एवं विरक्तिमयी वाणी द्वारा उनके [illegible] करता है, और धर्मतत्त्व के मर्म को समझा कर जन-मन को धर्म में प्रवृत्त करता है।

द्वितीय साधना के रूप में सन्त की सशक्त लेखनी उसकी साधना की गरिमा का विस्तार करती हुई उसके हार्दिक भावों को ऐसी अभिव्यक्ति देती है जिसको पढ़ते ही पाठकों के मन आन्दोलित, जागृत एवं चिन्तनशील बन जाते हैं और लेखनी के धनी उस सन्त के प्रति श्रद्धान्वित हो उठते हैं, किन्तु लेखनी के माध्यम से धर्मोद्बोधन महा-प्रयास, एकान्त, ध्यान-निष्ठा और पाण्डित्य की अपेक्षा रखती है।

उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज का सन्तत्व प्रबुद्ध सन्तत्व है। उनकी ओजस्विनी वाणी और सशक्त लेखनी दोनों में अपूर्व क्षमता है। सन्त के वाणी-प्रभाव की सफलता को देखने के लिये उसके सान्निध्य में जाने की अनिवार्यता है, अतः उनसे केवल वे ही व्यक्ति प्रभावित होकर ज्ञानोपलब्धि कर सकते हैं जो उनके सान्निध्य में पहुंच जाते हैं, अथवा जहां उनके विहरणशील चरण स्वतः ही आ जाते हैं, किन्तु उनकी प्रबुद्ध एवं सशक्त लेखनी से ऐसा कोई भी स्वाध्याय-प्रिय पाठक लाभ उठा सकता है जिसके मन में धर्म-तत्त्व, आत्म-ज्ञान एवं शास्त्र-रहस्य की जिज्ञासा की ज्योति प्रदीप्त हो। इसी अपेक्षा से उनके मननीय निबन्धों का संग्रह "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिससे जिज्ञासु एवं प्रबुद्ध पाठक बहुत ही लाभान्वित हुए थे।

मेरा मन्तव्य

● साध्वी-प्रमुखा महासती श्री अभय कुमारी जी महाराज, लुधियाना

सन्तत्व के उदय का लक्ष्य है—सांसारिक वासनाओं से सन्तप्त प्राणियों का उद्धार, अशान्त विश्व में शान्ति की स्थापना, धर्म-जागृति और धर्मतत्त्व का उद्‌घाटन। सन्तवृन्द अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये दो साधन अपनाता है—प्रथम साधन के रूप में वह देशानुदेश, प्रान्तानुप्रान्त एवं ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए अपनी ओजस्वी एवं प्रभावशील वाणी द्वारा जन-मानस को उद्‌बुद्ध करता है, सान्त्वनामयी एवं विरक्तिमयी वाणी द्वारा उनके अशान्त मन को शान्त करता है, और धर्मतत्त्व के मर्म को समझा कर जन-मन को धर्म में प्रवृत्त करता है।

द्वितीय साधना के रूप में सन्त को सशक्त लेखनी उसके सन्तत्व की गरिमा का विस्तार करती हुई उसके हार्दिक भावों को ऐसी अभिव्यक्ति देती है जिसको पढ़ते ही पाठकों के मन मस्तिष्क जागृत एवं चिन्तनशील बन जाते हैं और लेखनी के धनी उस सन्त के प्रति श्रद्धान्वित हो उठते हैं, किन्तु लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति महा-प्रयास, एकान्त, ध्यान-निष्ठा और पाण्डित्य की अपेक्षा करती है।

उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक उपध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज का सन्तत्व प्रबुद्ध सन्तत्व है। उनकी ओजस्विनी वाणी और सशक्त लेखनी दोनों में अपूर्व क्षमता है। सन्त के वाणी-प्रभाव की सशक्तता को देखने के लिये उसके सान्निध्य में जाने की अनिवार्यता है, अतः उससे केवल वे ही व्यक्ति प्रभावित होकर ज्ञानोपलब्धि कर सकते हैं जो उनके सान्निध्य में पहुंच जाते हैं, अथवा जहां उनके विहरणशील चरण स्वतः ही आ जाते हैं, किन्तु उनकी प्रबुद्ध एवं सशक्त लेखनी से ऐसा कोई भी स्वाध्याय-प्रिय पाठक लाभ उठा सकता है जिसके मन में धर्म-तत्त्व, आत्म-ज्ञान एवं शास्त्र-रहस्य की जिज्ञासा की ज्योति प्रदीप्त हो। इसी अपेक्षा से उनके मननीय निबन्धों का संग्रह "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिससे जिज्ञासु एवं प्रबुद्ध पाठक बहुत ही लाभान्वित हुए थे।

मेरा मन्तव्य

● साध्वी-प्रमुखा महासती श्री अभय कुमारी जी महाराज, लुधियाना

सन्तत्व के उदय का लक्ष्य है—सांसारिक वासनाओं से सन्तप्त प्राणियों का उद्धार, अशान्त विश्व में शान्ति की स्थापना, धर्म-जागृति और धर्मतत्त्व का उद्‌घाटन। सन्तवृन्द अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये दो साधन अपनाता है—प्रथम साधन के रूप में वह देशानुदेश, प्रान्तानुप्रान्त एवं ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए अपनी ओजस्वी एवं प्रभावशील वाणी द्वारा जन-मानस को उद्‌बुद्ध करता है, सान्त्वनामयी एवं विरक्तिमयी वाणी द्वारा उनके अशान्त मन को शान्त करता है, और धर्मतत्त्व के मर्म को समझा कर जन-मन को धर्म में प्रवृत्त करता है।

द्वितीय साधना के रूप में सन्त की सशक्त लेखनी उसके सन्तत्व की गरिमा का विस्तार करती हुई उसके हार्दिक भावों को ऐसी अभिव्यक्ति देती है जिसको पढ़ते ही पाठकों के मन मस्तिष्क जागृत एवं चिन्तनशील बन जाते हैं और लेखनी के धनी उस सन्त के प्रति श्रद्धान्वित हो उठते हैं, किन्तु लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति महा-प्रयास, एकान्त, ध्यान-निष्ठा और पाण्डित्य की अपेक्षा करती है।

उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक उपध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज का सन्तत्व प्रबुद्ध सन्तत्व है। उनकी ओजस्विनी वाणी और सशक्त लेखनी दोनों में अपूर्व क्षमता है। सन्त के वाणी-प्रभाव की सशक्तता को देखने के लिये उसके सान्निध्य में जाने की अनिवार्यता है, अतः उससे केवल वे ही व्यक्ति प्रभावित होकर ज्ञानोपलब्धि कर सकते हैं जो उनके सान्निध्य में पहुंच जाते हैं, अथवा जहां उनके विहरणशील चरण स्वतः ही आ जाते हैं, किन्तु उनकी प्रबुद्ध एवं सशक्त लेखनी से ऐसा कोई भी स्वाध्याय-प्रिय पाठक लाभ उठा सकता है जिसके मन में धर्म-तत्त्व, आत्म-ज्ञान एवं शास्त्र-रहस्य की जिज्ञासा की ज्योति प्रदीप्त हो। इसी अपेक्षा से उनके मननीय निबन्धों का संग्रह "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिससे जिज्ञासु एवं प्रबुद्ध पाठक बहुत ही लाभान्वित हुए थे।

मेरा मन्तव्य

● साध्वी-प्रमुखा महासती श्री अभय कुमारी जी महाराज, लुधियाना

सन्तत्व के उदय का लक्ष्य है—सांसारिक वासनाओं से सन्तप्त प्राणियों का उद्धार, अशान्त विश्व में शान्ति को स्थापना, धर्म-जागृति और धर्मतत्त्व का उद्घाटन। सन्तवृन्द अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये दो साधन अपनाता है—प्रथम साधन के रूप में वह देशानुदेश, प्रान्तानुप्रान्त एवं ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए अपनी ओजस्वी एवं प्रभावशील वाणी द्वारा जन-मानस को उद्‌बुद्ध करता है, सान्त्वनामयी एवं विरक्तिमयी वाणी द्वारा उनके अशान्त मन को शान्त करता है, और धर्मतत्त्व के मर्म को समझा कर जन-मन को धर्म में प्रवृत्त करता है।

द्वितीय साधना के रूप में सन्त को सशक्त लेखनी उसके सन्तत्व की गरिमा का विस्तार करती हुई उसके हार्दिक भावों को ऐसी अभिव्यक्ति देती है जिसको पढ़ते ही पाठकों के मन मस्तिष्क जागृत एवं चिन्तनशील बन जाते हैं और लेखनी के धनी उस सन्त के प्रति श्रद्धान्वित हो उठते हैं, किन्तु लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्ति महा-प्रयास, एकान्त, ध्यान-निष्ठा और पाण्डित्य की अपेक्षा करती है।

उत्कल-केसरी तत्त्व-चिन्तक उपध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज का सन्तत्व प्रबुद्ध सन्तत्व है। उनकी ओजस्विनी वाणी और सशक्त लेखनी दोनों में अपूर्व क्षमता है। सन्त के वाणी-प्रभाव की सशक्तता को देखने के लिये उसके सान्निध्य में जाने की अनिवार्यता है, अतः उससे केवल वे ही व्यक्ति प्रभावित होकर ज्ञानोपलब्धि कर सकते हैं जो उनके सान्निध्य में पहुंच जाते हैं, अथवा जहां उनके विहरणशील चरण स्वतः ही आ जाते हैं, किन्तु उनकी प्रबुद्ध एवं सशक्त लेखनी से ऐसा कोई भी स्वाध्याय-प्रिय पाठक लाभ उठा सकता है जिसके मन में धर्म-तत्त्व, आत्म-ज्ञान एवं शास्त्र-रहस्य की जिज्ञासा की ज्योति प्रदीप्त हो। इसी अपेक्षा से उनके मननीय निबन्धों का संग्रह "मनोहर विचारों के मनोहर चित्र" के रूप में प्रकाशित हुआ था, जिससे जिज्ञासु एवं प्रबुद्ध पाठक बहुत ही लाभान्वित हुए थे।

प्रकाशकीय निवेदन

दान का महत्त्व सर्व-विदित है, सर्व-मान्य है। विश्व का शायद ही ऐसा कोई धर्म-सम्प्रदाय हो जिसमें दान को कम महत्त्व दिया गया हो। दान के पीछे वह करुणा, अनुकम्पा और दया रहती है जिसे लोक-विचारकों ने "दया धर्म का मूल है" कह कर उसे धर्म का मूल माना है।

परन्तु यह भावना प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है कि 'जो बोएगा सो पाएगा' अर्थात् मनुष्य यदि कुछ दान करेगा तभी वह आगामी जन्मों में पाएगा। इतना ही नहीं एक ऋषि ने तो यहां तक कहा है कि—

"सुपात्र-दानाच्च भवेद् धनाढ्यः, धन-प्रभावेण करोति पुण्यम्।
पुण्य-प्रभावात् स्वर्गं प्रयाति, पुनर्धनाढ्यः पुनरेव भोगी॥

उचित व्यक्ति या स्थान पर दान देने से मनुष्य धनाढ्य बनता है, धन से वह पुण्य कार्य करता है, पुण्य के प्रभाव से व्यक्ति स्वर्ग में जाता है और स्वर्ग से धरती पर आकर बारम्बार आने-जाने के क्रम से धनाढ्य, दानी और सुखोपभोगी बनता रहता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि अन्य सभी दानों का फल मनुष्य से भिन्न अन्य योनियों में भी उपलब्ध हो सकता है—अतः अन्न-दान का फल स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ अन्य पालतू प्राणियों को भी प्राप्त होते देखे जा सकते हैं। किन्तु विद्या-दान का फल केवल मनुष्य-जन्म उपलब्ध होने पर ही प्राप्त हो सकता है, इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर महा-मुनीश्वर "विद्यादानं महादानं" का उद्घोष करते हैं।

विद्यादान के अनेक रूप हैं—विद्या पढ़ाना, स्कूल-कालेज खोलना, पुस्तकें बांटना, सत्-साहित्य के प्रकाशन में सहयोग देना और सत् साहित्य का लिखना। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में विद्यादान के अन्तिम दोनों रूप हमारे सामने हैं। परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज ने लेखन-कार्य किया है और निम्नलिखित दानी सज्जनों ने इस के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

श्री सरदारी लाल कपिल कुमार जैन, श्री ओम प्रकाश सुरेश कुमार जैन, तथा श्री सन्त कुमार सुरेन्द्र मोहन जैन (मालिक फर्म० आर० एन० ओसवाल हौजरी फैक्टरी लुधियाना) ने अपने पूर्वजों

प्रथम

साधुत्व : साधना : साध्य

(१-८४)

जैन जगत् में अरिहन्त, सिद्ध, साधु तथा धर्म इन चारों को लोकोत्तर मंगल और सर्वोत्तम कह कर इन्हें भवार्णव से पार करने में "सर्व श्रेष्ठ शरण" के रूप में स्वीकार किया गया है। अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् की तरह साधु भी शरण्य है, भव्य जीवों के लिये शरण-भूत है।

१

अरिहन्त आराध्य भी साध्य भी

●

इस लेख में मैं साधु-जीवन और उसके पावन उद्देश्यों एवं कर्त्तव्यों पर कुछ चिन्तन करने का प्रयत्न करने जा रहा हूं।

इस अनन्त संसार में कर्मानुसार भ्रमण करते हुए जीव को मानव-जीवन की उपलब्धि दुर्लभ होती है, किन्तु मानव-जीवन में मुनित्व का उदय अत्यन्त दुर्लभ होता है। शास्त्र ने जिन दुर्लभ अंगों का उल्लेख किया है, वे निम्न लिखित हैं—

१. दुल्लहे खलु माणुसे भवे—मनुष्य जीवन दुर्लभ है।

२. सुई धम्मस्स दुल्लहा—सत्य शास्त्र-श्रुति दुर्लभ है।

३. सद्धा परम दुल्लहा—श्रद्धा तो अति दुर्लभ है।

४. वीरियं पुण दुल्लहं—संयम में पुरुषार्थ अत्यन्त दुर्लभ है।

भगवान महावीर के उपर्युक्त सूक्तों के अनुसार सब कुछ मिल जाने के बाद भी जीवन का संयम की दिशा में मुड़ना और फिर सदा-सदा के लिए संयम में ही प्रतिष्ठित हो जाना—यह सौभाग्य के उदय के बिना कदापि सम्भव नहीं हो सकता।

लोक-व्यवहार में 'संयम' शब्द साधारण अर्थ में प्रयुक्त होता है, मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों के विवेक-पूर्ण एवं संयत व्यवहार को लोक-भाषा में संयम कह दिया जाता है। जब कोई व्यक्ति बिना

विचारे कुछ कह देता है। तो दूसरा विचारशील व्यक्ति उसे उद्-बोधन देते हुए कहता है—

"भला ऐसे क्यों बोलते हो ? मनुष्य को अपनी वाणी पर संयम रख कर ही कुछ कहना चाहिए। ऐसे ही अंट-संट बोल देना उचित नहीं होता। कुछ तो बोलने में विवेक होना चाहिये और फिर सभा में तो और भी अधिक संयम से काम लेना चाहिए।"

यहां किसी को बोलने से रोका नहीं जा रहा, केवल विवेक और विचार-पूर्वक बोलने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। संयम शब्द यहां बड़े ही सामान्य से अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। केवल शुभ प्रवृत्ति को ही यहां संयम कह दिया गया है। निवृत्ति का यहां विशेष स्थान नहीं, किन्तु जैन-धर्म में "संयम" शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है वह बड़ा ही महान् तथा गम्भीर है।

जैन-धर्म ने मन, वाणी और शरीर के सावद्य योगों अर्थात् पाप-पुण्यमय व्यापारों के प्रत्याख्यान को ही संयम के नाम से विभूषित किया है।

संयम के इस भाव की पुष्टि के लिये उत्तराध्ययन सूत्र का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में २६वां प्रश्न गौतम स्वामी ने संयम के सम्बन्ध में पूछा है, प्रश्न है—

प्रश्न—संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ।

उत्तर—संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ॥

भगवन् ! संयम से क्या लाभ होता है ?

देवानुप्रिय ! संयम से आश्रवों का निरोध होता है।

जैन-धर्म में पाप की तरह पुण्य को भी आश्रव कहा गया है। केवल अन्तर इतना ही है कि एक अशुभ आश्रव है और दूसरा शुभ, किन्तु हैं दोनों ही बन्धन। एक आरम्भ में ही हेय है, दूसरा अन्त में हेय है, सागर में नौका की तरह। नौका से ही सागर पार किया जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु उसे छोड़े बिना किनारा मिल नहीं

सकता। नौका को छोड़े बिना सागर नहीं छूटता। ठीक इसी तरह पुण्य को छोड़े बिना भी मुक्ति नहीं हो सकती। पाप दुखद बन्धन है तो पुण्य को सुखद बन्धन कह सकते हैं, किन्तु जो बन्धन है उसमें सुख कहां? वह सुख भी केवल मानने का ही है। यथार्थ में तो वह भी दुख ही है। पक्षी लोहे के पिंजरे में यदि बन्दी है तो स्वर्ण के पिंजरे में भी वह बन्दी ही है। नील गगन के उन्मुक्त विहार का आनन्द सोने के पिंजरे में भी भला कहां मिल सकता है उसे?

संयम में कोई भी बन्धन आत्मा के लिए तैयार नहीं होता। मैं बन्धन से दूर रहने की एक दीर्घ साधना को ही "संयम" कहता हूं।

यदि मैं कुछ और गहराई में जा कर कहूं तो कह सकता हूं कि मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही संयम का बीज है। वहीं से जीवन में संयम का अंकुर निकलता है। जीवन में अनाश्रव की सतत साधना से वह पुष्पित एवं पल्लवित होकर आनन्द और शान्ति के रूप में एक दिन सघन छाया प्रदान करने में सक्षम हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में जो पञ्चेन्द्रिय-निग्रह, त्रियोग-गुप्ति, त्रियोग-समाधारणा तथा चतुष्कषाय-विजय के सम्बन्ध में अलग-अलग प्रश्न पूछे गए हैं, मेरा विचार है कि वे सब विस्तार एवं विषय के स्पष्टीकरण के लिए ही हैं, क्योंकि इन सब प्रश्नों का समावेश तो संयम के एक व्यापक प्रश्न में ही हो जाता है।

वस्तुतः संयम की आराधना निग्रह, गुप्ति, समाधारणा तथा कषाय-विजय से ही होती है और संयम के सिद्ध होने पर उपर्युक्त सभी तत्वों की सिद्धि तो स्वतः ही हो जाती है। संयम तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि सब अभिन्न साधनाएं हैं। इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैन-धर्म का संयम विवेक-मूलक होकर भी निवृत्ति-परक है, परिग्रह के त्याग को ही मैं निवृत्ति कहता हूं। संसार में जितना भी आरम्भ-समारम्भ किया जाता है उसकी जड़ में परिग्रह की आसक्ति ही रहती है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में पांच आश्रव-द्वारों में हिंसा, असत्य, स्तेय

अब्रह्म और परिग्रह के नामों का उल्लेख हुआ है। परिग्रह आश्रव-द्वार ही नहीं, अपितु सब आश्रवों का मूल है। इसे यदि "महा आश्रव-द्वार" कहा जाये तो कोई भी इसे अनुचित नहीं कह सकता।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि निवृत्ति, अपरिग्रह, अनाश्रव तथा संयम ये सब एक ही तत्व के विभिन्न नाम हैं। इनमें कारण-कार्य-भाव का सम्बन्ध होने पर भी ये एक ही भाव के द्योतक हैं।

एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये वह यह है कि निवृत्ति और अपरिग्रह किसी भी साधक के जीवन में दृष्टि-गोचर हो सकते हैं, किन्तु यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि उसके जीवन में अनाश्रव और संयम भी प्रतिष्ठित हो गए हैं। मैं यह स्वीकार करता हूं कि निवृत्ति और अपरिग्रह का अन्तर्जगत से भी गहरा सम्बन्ध है, किन्तु इनका एक बाह्य रूप भी होता है जिसे देख कर व्यक्ति बाहर से किसी भी निवृत्ति-शील और अपरिग्रही साधक को संयमी समझने लगता है, किन्तु वास्तविकता सदैव ऐसी नहीं होती। कभी-कभी विपरीत स्थिति भी देखने में आती है।

अनाश्रव और संयम का सम्बन्ध अधिकतया अन्तर्जगत् से रहता है और ये दोनों जन्य-जनक-भाव से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अनाश्रव होने से ही संयम सिद्ध होता है और संयम की सत्य-साधना से अनाश्रव की उपलब्धि होती है। जहां इन दोनों का सद्भाव होता है वहां अपरिग्रह और निवृत्ति का आविर्भाव सहज में ही हो जाता है। तब मुनि मुनित्व की सच्ची साधना के धरातल पर उतर जाता है, वहीं से उसकी आत्मा का विकास की श्रेणियों पर आरोहण आरम्भ हो जाता है।

यहां एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। वह यह है कि अनाश्रव से केवल कर्म-बन्ध रुकता है, किन्तु संयम कर्म-बन्ध को रोकता भी है और पूर्व-बन्धनों को खोलता भी है। यह कैसे? इसे जरा समझ लेना चाहिये।

साधक जब संसार का त्याग करता है तो उसे दीक्षित होते समय

सर्वव्रती चारित्र से अलंकृत किया जाता है। तीन करणों और तीन योगों से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—इन पांच व्रतों को बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग भाव से ग्रहण करना ही सर्वव्रती चारित्र कहा जाता है। इसमें अहिंसा आधेय है और शेष चार व्रत आधार रूप हैं। आधार के विना आधेय नहीं टिक सकता, ठीक इसी तरह सत्यादि व्रतों की आराधना के विना अहिंसा की साधना जीवन में कोई भी नहीं कर सकता। साध्य को प्रधान मान कर यदि अहिंसा को ही चारित्र कहा जाये तो तनिक भी इसमें भूल नहीं होगी। अब मैं आपको दूसरी ओर ले जाना चाहता हूं।

जैन-धर्म में सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय तथा यथाख्यात—ये पांच चारित्र कहे गये हैं। मुनि की साधना सामायिक चारित्र से ही शुरू होती है। सामायिक में सर्व सावद्य-योगों का त्याग किया जाता है। सामायिक की परिभाषा है—"वह साधना जिससे समभाव की उपलब्धि हो, किन्तु वह समभाव अनात्म-योगों का निरोध किये बिना नहीं आ सकता। इसलिए अनाश्रव से सामायिक, सामायिक से अहिंसा और अहिंसा से चारित्र का उदय होता है, चारित्र की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

चयरित्तकरं चारित्तं होइ।

अर्थात् कर्मों के चय को नष्ट करने वाली साधना को चारित्र कहते हैं। चारित्र का संक्षिप्त एवं परिष्कृत स्वरूप आपको दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में मिल सकता है—वह है अहिंसा, संयम और तप। कहा जा सकता है कि वह तो धर्म का स्वरूप है, किन्तु स्मरण रहे कि धर्म और चारित्र तो एक ही हैं। इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं। आचार-रूप धर्म और चारित्र अभिन्न तत्त्व हैं, किन्तु जब धर्म का अर्थ वस्तु का स्वभाव करेंगे तो फिर चारित्र उसका कारण बन जायेगा। वहां अवश्य ही धर्म और चारित्र में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध बन जाता है, किन्तु आचार-रूप धर्म और चारित्र तो एक ही वस्तु हैं, दोनों में शब्द-भेद होने पर भी अर्थ-भेद नहीं है।

जैन-धर्म में मोक्ष का सूत्र है—**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः।**

तत्त्वार्थ-सूत्र का यह प्रथम सूत्र है। मोक्ष के साधनों में चारित्र सर्वोपरि है। चारित्र का मूल संयम है। प्रत्येक चारित्रशील साधक को हम संयमी पुरुष कहते हैं। क्यों? इसलिए कि संयम के बिना चारित्र की आराधना नहीं हो सकती। संयम के अभाव में जीवन की प्रत्येक साधना बाह्य बन कर रह जाती है। उससे प्रदर्शन हो सकता है आत्म-दर्शन नहीं।

तप जीवन की एक विशिष्ट साधना मानी जाती है, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाये तो यह संयम से बिल्कुल भी अलग नहीं। संयम के बिना तप व्यर्थ है। उसे केवल देह-दमन ही कहा जायेगा। बारह प्रकार के तपों में "अनशन" एक 'तप' है, किन्तु यदि इसके साथ मन के विकारों, इन्द्रियों के भोगों तथा शरीर की कुचेष्टाओं का नियमन न हो तो उस अनशन को तप नहीं कहा जा सकता, वह केवल लंघन ही होगा, अधिक कुछ नहीं।

अनशन से संयम आरम्भ होकर—कायोत्सर्ग में वह अपने चरम-बिन्दु पर पहुंच जाता है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की विस्मृति। प्रायः अपने शरीर की आसक्ति संसार की हर चीज से अधिक होती है। जब साधक उस शरीर को ही भूलने लगता है तो फिर वहां किस पदार्थ की स्मृति रह सकती है?

कायोत्सर्ग का एक अर्थ स्व-शरीर विस्मृति है तो दूसरा अर्थ है 'स्व-रूपोपस्थिति' और यह स्थिति उत्कृष्ट संयम-साधना के बिना कदापि सम्भव नहीं हो सकती। इस हेतु से यह कहा जा सकता है कि तप का अन्तर्भाव संयम में ही हो जाता है। इसी आधार पर मैंने ऊपर लिखा है कि संयम से आश्रव का निरोध भी होता है और तप-निष्ठ होने पर संयम से कर्मों का क्षय भी हो जाता है, अर्थात् कर्मों के पूर्व बन्धन भी खुल जाते हैं। इस प्रकार के संयम के विकट-पथ पर आजीवन अग्रसर रहने वाले मुक्ति के राही को साधु एवं मुनि कहा

जाता है। मेरे विचार में "मोक्ष" ही मुनि जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मोक्ष क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—

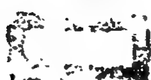
"कर्मक्षयो मोक्षः"—कर्मों का क्षय ही मोक्ष है? कर्म का बीज जब तक नष्ट नहीं होता तब तक कर्म का विनाश नहीं हो सकता। इसलिए कर्म के बीज को जानना आवश्यक है। शास्त्र ने कर्म-बीज का उल्लेख करते हुए कहा है—

रागो य दोसो य कम्मबीयम्।

राग-द्वेष ही कर्म के बीज हैं। मुनि-जीवन की साधना रागद्वेष की विजय से आरम्भ होकर कर्म-क्षय पर जाकर पूर्ण होती है। वीतरागतारूप लक्ष्य-बिन्दु पर साधुत्व एवं मुनित्व की साधना की पूर्णता होती है, क्योंकि उस 'पूर्णता' पर साधक अरिहन्त बन जाता है। अरिहन्तत्व हमारी साधना का सर्वोपरि लक्ष्य है। अरिहन्त केवल हमारा आराध्य ही नहीं, बल्कि हमारे जीवन का साध्य भी है, जीवन में साधक प्रतिक्रमण, क्षमापना तथा आलोचना आदि समस्त धार्मिक अनुष्ठानों का अवलम्बन अपने चित्त के समस्त रागद्वेषात्मक विकारों का उन्मूलन करने के लिए ही लेता है।

मैं स्वीकार करता हूं कि साधना-काल में ये विकार साधक को कई बार अपने पावन उद्देश्य से विचलित करने का प्रयास करते हैं, किन्तु साधक यदि अपने लक्ष्य के प्रति सजग एवं जागरूक रहे और रागद्वेष के उन्मूलन पर उसकी दृष्टि सदैव केन्द्रित रहे तो मुनि अवश्य ही एक दिन अरिहन्तत्व को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।







साधु का आचार : एक विश्लेषण



साधक जीवन में लोकैषणा एक नागपाश ही है। आज का साधक बाहर से बन्धन-मुक्त होते हुए भी अन्तर्जगत् में वह लोकैषणा के सूक्ष्म बन्धनों से प्रायः बन्धा ही रहता है, परन्तु यह कोई नियम नहीं है, केवल एक विचार है। इस विचार का संशोधन केवल इतना ही है कि सभी साधक एक ही श्रेणी के नहीं होते। अपवाद तो सर्वत्र रहता ही है, किन्तु गम्भीर पर्यवेक्षण के पश्चात् साधना के सामान्य लोक में जो कुछ दृष्टि-पथ में आता है, उस के आधार पर अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश साधक, रूढ़ि, व्यवहार तथा लोक-साधना के क्षेत्र में जितने जागरूक, सचेष्ट तथा सक्रिय हैं उतने वे अन्तरङ्ग आचार तथा आत्म-साधना में सजग एवं सतर्क नहीं हैं।

साधक बाह्याचार में जितना कठोर होता है यदि वह अन्तरङ्ग में भी गृहीत आचार के प्रति उतना ही आस्थावान् होजाए तो बाहर-भीत का सामञ्जस्य ठीक बैठ सकता है, किन्तु जीवन में विडम्बना का जन्म उस समय होता है, जब कि बाहर के जगत् में कठोर आचार का प्रदर्शन किया जाता है और अन्तःकरण विभिन्न लोकैषणाओं से ग्रस्त रहता है। ऐसा साधक जिसे बाहर प्रदर्शित करता है उसे स्वयं अन्तरङ्ग में स्वीकार नहीं करता। जीवन का यह भयावह वैषम्य साधक के जीवन में माया-द्वार का निर्माण करता है। इधर लोक-भय और प्रतिष्ठा का मोह उसे कठोर बाह्यचार के लिये प्रेरित करता

है तो उधर भीतर की महत्वाकांक्षाओं का व्यामोह उसे दम्भ के मार्ग से अपने क्षुद्र अहं के पोषण के लिए उत्साहित एवं सक्रिय करता रहता है।

सिद्धान्त इस बात का साक्षी है कि मानव सदैव अपने अन्तरङ्ग का ही अनुसरण करता है। अन्दर की आवाज ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाती है। जीवन का बाह्य तो केवल जगत की आंखों को रिझाने तथा वाह-वाह लूटने के लिये ही होता है। वस्तुतः वह बाह्याचार की उत्कट साधना के प्रदर्शन से भी किसी दूसरे ही लक्ष्य पर पहुंचने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह लक्ष्य उसके अन्तःस्थित संकल्पों के द्वारा पहले से ही निर्मित रहता है, और वही उसकी साधना का ध्रुव बन जाता है। साधक व्रतों की कठोर तथा लम्बी पगडण्डी पर जीवन भर चल कर भी अन्ततः लोक-सिद्धि की नश्वर किन्तु मोहक तथा सुखद छाया के नीचे ही विश्राम पाने के लिए आतुर रहता है।

मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूं कि बाह्याचार भी जीवन की साधना का एक पक्ष है, उसकी उपेक्षा जीवन के किसी भी क्षेत्र में सम्भव नहीं, किन्तु जीवन में मिथ्यात्व का उद्भव उस समय होता है जब साधक का आचार अपने लक्ष्य से दूर हट कर चल पड़ता है। बुद्धिमान् तथा आत्मज्ञानी ऐसे आचार को जड़ आचार की संज्ञा देने के लिए विवश हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में बाह्याचार जो एक साधन के रूप में जीवन में आता है, एक प्रकार से वह मिथ्याचार बन कर रह जाता है।

लोकैषणा जीवन का मिथ्या पक्ष है। आत्मज्ञानी की दृष्टि में आत्म-शान्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है। एक आत्मा और उसका विशुद्ध स्वरूप ही सत्य है, अन्य सब कुछ असत् है, मिथ्या है। प्रत्येक लोकैषणा असत् है, नश्वर है और अनित्य है। जो अनित्य है वह आत्म-ज्ञानी की दृष्टि में मिथ्या ही है। जिस से केवल मिथ्या की उपलब्धि हो वह आचार भी मिथ्या ही होता है।

आचार के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा और चिन्तन कर लेना अच्छा रहेगा। शास्त्र में साधक के लिये समुच्चय रूप में ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप तथा वीर्याचार के रूप में आचार-पंचक का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह एक तरह से साधक के सम्यक् आचार का विधान है। यह स्मरणीय है कि साधक की भावना तथा लक्ष्य जब "आत्मा" ही होता है तो आचार भी आत्ममुखी हो जाता है, किन्तु जब साधक बहिर्मुखी हो जाता है तो सम्यक् आचार भी असम्यक् बन कर लोकैषणा की मृग-मरीचिका में भटकने लगता है। प्रस्तुत लेख में आचार शब्द से वस्तुतः जैन साध्वाचार ही अभिप्रेत है। साधक शब्द से भी मेरा प्रयोजन मोक्ष-मार्ग के पथिक सर्व-विरति उस साधक से है जो साधु ही होता है।

साधु के आचार की पूर्ण झांकी देखने के लिये महाव्रत, नियम, समिति, गुप्ति, भावना तथा संघ की समाचारी इन सब के अन्तस्तल में झांकना पड़ेगा। इन सब के एकीकरण एवं सम्मिलन से जो रूप बनता है वही असली साधु का आचार माना जाता है। इस आचार में कुछ तो शाश्वत सत्य है, जिसमें तीन काल में भी परिवर्तन सम्भव नहीं और न कोई करने में समर्थ हो सकता है। जैसे कि महाव्रत, समिति तथा गुप्ति आदि। इनको बदलने का अर्थ है आचार का मूलोच्छेदन। ऐसी स्थिति में मोक्ष-मार्ग के पथिक साधु के आचार का कोई भी रूप प्रशस्त नहीं रह सकता और न ही वह भोग-मार्ग से ऊंचा उठ कर योग का साधक बन सकता है।

नियम और समाचारी आचार का शाश्वत अंग नहीं हैं, वे अन्तरंग आचार के साधन मात्र हैं। वे महाव्रतरूप आचार को परिपुष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं। वह जीवन की एक मर्यादा है, बंधन है। आचार रूपी खेत की वह एक तरह से बाड़ कही जा सकती है। जैसे कांटेदार बाड़ खेती की रक्षा करती है, वैसे ही बाहर की कठोर मर्यादाएं अन्तरङ्ग आचार को निर्दोष बनाये रखने में सहायक होती हैं। नियम तथा समाचारी की आवश्यकता का यदि कोई आधार है तो उपर्युक्त मान्यता ही है।

इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि बाह्य बन्धन तभी कुछ उपयोगी हो सकता है जब कि वह आचारोन्मुख रहे और साधक की उसके ऊपर पूरी आस्था बनी रहे। नहीं तो बाहर का बंधन केवल बंधन ही बन कर रह जाता है, अंतरंग के आचार से उसका सम्बन्ध छूट जाता है।

साधक उस मर्यादा का पालन केवल लोक-लज्जा तथा प्रतिष्ठार्जन की दृष्टि से ही करता है, हृदय से उसकी श्रद्धा उस पर नहीं रहती। **जो नियम हृदय से निकल जाता है वह आचार का शृङ्गार नहीं, बल्कि जीवन का भार बन जाता है और कभी-कभी तो दम्भ का सहकार मिल जाने पर जीवन का बहुत बड़ा विकार बन जाता है।** जीवन की इस स्थिति में नियम तथा समाचारी का आचार-साधना में कोई स्थान नहीं रह जाता। भावना और लक्ष्य-भेद से साधक के जीवन में संक्षेप से आचार के प्रायः तीन रूप देखे जाते हैं जैसे कि (१) शुद्धाचार (२) बाह्याचार (३) मिथ्याचार।

१. शुद्धाचार—

मुक्ति ही जिस आचार का लक्ष्य है, जो कर्म-क्षय करता हुआ आत्म-शुद्धि तथा आत्म-विकास की घाटियों को पार करके अन्ततः पूर्णत्व को उपलब्ध करने के लिए सदैव सचेष्ट रहता है, जो आचार जीवन में प्रभुता, सत्ता तथा अधिकारों के संघर्ष में उलझ कर अपने पावन ध्येय से कभी विचलित नहीं होने देता, जो प्रदर्शन से दूर रह कर आत्म-दर्शन के लिये सदैव लालायित रहता है, जो अपने गृहीत व्रतों को पूनम के चांद की तरह शुभ्र रखने के लिये दोषों की आशंका से सदैव अप्रमत्त रहता है, जो आचार अपनी उत्कृष्टता के अभिमान से कभी ग्रस्त नहीं होता तथा दूसरों के आचार को हलका समझ कर अपने आप को पर के प्रति हीन-भावना से दूषित नहीं होने देता, वही आचार सच्चा आचार कहा जाता है।

सच्चा आचार बहिर्मुखी नहीं, बल्कि अन्तर्मुखी होता है। वह विभाव से हट कर स्वभाव की ओर अग्रसर रहता है। दोष की

स्थिति में सरल हृदय से सदैव आत्म-निंदा, गर्हा, आलोचना, प्रायश्चित्त तथा पश्चात्ताप करने के लिए तत्पर रहता है। आत्मार्थी साधक का ऐसा आचार शुद्धाचार कहा जाता है।

यह मैंने जो कुछ लिखा है वह सब आध्यात्मिक जगत की दृष्टि से लिखा है। अब सामाजिक धरातल पर उतर कर कुछ लिखना चाहता हूं। शुद्धाचार का समाज में सर्वत्र अभिनन्दन होता है, किन्तु वह स्वयं अभिनन्दनों के लिये कभी याचना नहीं करता। संसार के बड़े-बड़े पद उसका वरण करने के लिये लालायित रहते हैं, किन्तु वह पवित्र आचार पदों के मोह में बन्ध कर कभी असत् मार्ग का अनुसरण नहीं करता। शुद्धाचार कभी अलंकरणों की उपलब्धि के लिए अपना पथ तैयार नहीं करता और न ही कभी इसके लिये कपट का आश्रय लेता है। सरल और सीधे ढंग से समाज द्वारा उसे जो उपलब्ध होता है वह उसे समत्व-योग से स्वीकार कर लेता है। साधक यदि समाज से दूर जंगल में रहे तो सामाजिक धरातल पर एक दूसरे से उन्नत उत्कृष्ट बन कर रहने का अहं उसके अन्तरंग में जन्म ही नहीं ले सकता और शासक बन कर रहने की भावना भी उसके अन्दर कभी उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु सामाजिक-जीवन में पद-प्रतिष्ठा अभिनन्दन तथा अलंकरण को अर्जन करने की भावना साधक के मन में हृदय-दौर्बल्य के कारण प्रायः पैदा हो जाती है।

कभी-कभी निस्पृह साधकों को भी योग्य पदों पर प्रतिष्ठित करना पड़ता है, क्योंकि सामाजिक जीवन में शासन और शासन में फिर अनुशासन रखना अत्यावश्यक होता है। सामूहिक साधना में शासन अनिवार्य बन जाता है और निस्पृह एवं निष्काम साधक के लिये भी वह अपरिहार्य होता है। सन्मान तथा अभिनन्दन आदि तो सामाजिक-जीवन का एक सामान्य अंग माने जाते हैं। वह साधक के लिये उत्साह-वर्धक तथा अन्य के लिये प्रेरणा-स्रोत अवश्य हैं।

समाज में यह सब कुछ होने पर भी शुद्धाचार का पालक कभी किसी प्रलोभन में पड़ कर कभी गलत रास्ता नहीं लेता। वह किसी

सत्ता के पीछे नहीं भागता, बल्कि सत्ता उस के पीछे भागती है और वह फिर भी आत्म-लक्ष्यी बन कर अपने ध्यान को आत्मा के विशुद्ध स्वरूप में ही केन्द्रित रखता है। जो दायित्व उसे सम्भाला जाता है, वह शासन-हित के लिये उसे निष्ठा से निभाता है। जीवन की प्रत्येक स्थिति में वह अपने आचार को सदैव शुद्ध रखने के लिए सजग रहता है। आचार मुक्ति एवं आत्म-शान्ति के लिये होता है। बाह्य व्यवहार के लिए नहीं। यदि लक्ष्य-सिद्धि के साथ व्यवहार का समन्वय हो जाये तो व्यवहार अवश्य ग्राह्य है, किन्तु यदि व्यवहार को रखने के लिये लक्ष्य में बाधा पड़े तो फिर तो आचार व्यवहार से अलग हट कर अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ता है। बस, वही आचार शुद्धाचार कहलाता है।

२. बाह्याचार—

अब बाह्याचार के सम्बन्ध में थोड़ा चिन्तन प्रस्तुत करना है, क्योंकि जड़ बाह्याचार को समझे बिना शुद्धाचार का स्वरूप भी ठीक तरह से हृदय में नहीं उतरता। कभी ही नहीं, बल्कि प्रायः साधक जड़ क्रियाओं के पालन मात्र को ही आचार समझ लेते हैं, जिससे जीवन के अनमोल क्षण बाह्याचार की मृग-मरीचिका में भटकने में ही नष्ट हो जाते हैं और जीवन में शान्ति कभी भी नसीब नहीं होती।

बाह्याचार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यदि कोई मेरे से मांगे तो मेरा समाधान कुछ इस प्रकार होगा कि "कुछ आवश्यक-क्रियाएं, कुछ बाहरी नियम तथा समाचारी के कुछ विधान आदि—इन सब को मिला लिया जाये तो बाह्याचार का चूर्ण तैयार हो जाता है।" चूर्ण का अपना गुण अवश्य होता है, किन्तु रस-लोलुपी तथा अपथ्य-सेवी के लिये चूर्ण का प्रयोग निष्फल होता है, बल्कि कभी-कभी वह जीवन के लिये एक व्यसन बन जाता है। जिसका अपने आहार पर संयम हो तो फिर चूर्ण का सेवन उस आहार में रस का संचार कर के उस आहार को पोषण दे सकता है। ठीक इसी तरह जिस साधक की दृष्टि सदैव आत्म-शुद्धि पर ही केन्द्रित रहती है, जिसका अपने

मन, वचन तथा काया पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रहता है; उसके लिये बाह्याचार केवल रूढ़ि का निर्वाह मात्र नहीं बनता, बल्कि वह अन्तरङ्ग आचार का एक अभिन्न अंग बन कर रहता है।

कोरा बाह्याचार क्या है ? यह भी ज़रा समझ लेना चाहिए। साधक जब अन्तरङ्ग की ओर न जाकर केवल जड़ क्रियाओं में ही उलझा रहे, बाहर के नियमों का कठोरता से पालन तो करे, किन्तु कषायों का दमन करने में उसका पराक्रम ज़रा भी सचेष्ट न हो तो समझ लेना चाहिए कि साधक का आचार कोरा बाह्याचार ही है। ऐसे आचार वाला साधक बड़े-बड़े जप-तप भी कर लेता है, किन्तु हृदय से कषायों को धकेल कर बाहर नहीं निकाल पाता। वह साधक जड़ क्रियाओं के बल पर अपने को ऊंचा समझता रहता है, किन्तु आत्मा से वह जीवन में कभी भी ऊंचा नहीं उठ पाता।

मैं यह नहीं कहता कि बाह्याचारी साधक को आचार में श्रद्धा या विश्वास नहीं होता। आस्था तो उसे बहुत रहती है, किन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि सच्चा आचार क्या है ? वह बाहर से जो बन्धी हुई क्रियाएं करता है उन्हें ही वह धर्म समझता रहता है। वह उतने मात्र में ही मुक्ति की कल्पना कर लेता है। वह मानने लगता है कि इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। कभी-कभी तो उसे अपने कठोर आचार का अहंकार भी सताने लगता है और वह अपने अहं के दर्पण में अपने को विराट् और अन्य को क्षुद्र देखने की एक भयंकर भूल भी कर बैठता है। इससे उसके मन में दूसरे साधकों के प्रति हीन भावना पैदा हो जाती है, जीवन से मैत्री जाती रहती है और घृणा आ जाती है। साधक की यह मनोवृत्ति समाज में कितने ही अनावश्यक एवं अवाञ्छनीय संघर्षों को जन्म देती है। इस तरह साधक का बाह्याचार आत्म-शुद्धि की बजाय जीवन के लिए कभी-कभी वैर-विरोध एवं विद्वेष का द्वार बन जाता है।

बड़े-बड़े क्रिया-पात्र साधुओं के जीवन में भी प्रायः यही स्थिति देखने में आई है और अभी तक तो कुछ ऐसा नजर आ रहा है कि

बाह्याचार का मिथ्या व्यामोह संघ में संघर्षों एवं कलहों का एक तरह से मूल बना हुआ है।

३. मिथ्याचार—

अब मिथ्याचार के बारे में भी दो पंक्तियां लिख देना आवश्यक समझता हूं। इस आचार के तीन रूप हैं। एक रूप वह है जिसमें जीवन का लक्ष्य भी असत् रहता है और उस लक्ष्य पर पहुंचने के लिये मार्ग भी असत् ही होता है। साधक मिथ्यात्व के उदय से उस मार्ग को सत् ही मान लेता है, किन्तु वस्तुतः वह असत् ही होता है, क्योंकि असत् दृष्टि से किसी असत् वस्तु को सत् मान लेने से वह सत् नहीं हो जाती। केवल मिथ्यात्व दोष से व्यक्ति असत् को सत् समझता रहता है।

जैसे कि कुछ लोग भौतिक सुखों को पाने के लिए हिंसा के मार्ग का अवलम्बन लेते हैं, यह वस्तुत: ठीक नहीं है, क्योंकि किसी को दु:ख देकर सुख किसी को नहीं मिल सकता। यदि यह जीवन का सिद्धान्त बन जाये तो अपने सुख के लिये सभी दूसरों को दु:ख देने लगेंगे और इस तरह दुनिया में कोई भी सुखी नहीं रह सकेगा। सुख से सुख होता है, यही जीवन का सत् सिद्धान्त है। जो इसके विपरीत धारणा रख कर किसी मार्ग का अनुसरण करते हैं, उनका आचार मिथ्या कहा जाता है।

दूसरा मिथ्याचार का रूप वह है जिसमें लक्ष्य तो सत्य रहता है, किन्तु मार्ग गलत होता है, जैसे कि कुछ लोग जीवन में मुक्ति पाने के लिये उत्कट तप करते हैं, किन्तु वे सम्यक् तप नहीं करते, बाल-तप में ही दिन-रात जुटे रहते हैं। बाल-तप में शरीर को कष्ट अधिक और कर्म-निर्जरा कम, आश्रव ज्यादा और संवर की साधना कम होती है। याद रहे कि अविवेक-बहुल तप किसी भी साधक को अपने गन्तव्य पर नहीं पहुंचा सकता। ऐसा आचार सत्य-लक्ष्यी होकर भी मिथ्या ही कहा जाता है। पहले आचार की अपेक्षा इसमें आत्म-ज्ञान का अवश्य कुछ प्रकाश रहता है, किन्तु इसे साधना का एकदम शुक्ल-पक्ष

नहीं कहा जा सकता। मिथ्यात्व के राहु का प्रभाव इसमें अवश्य बना रहता है।

तीसरा मिथ्याचार तो अत्यन्त विचित्र प्रकार का होता है। जिसे साधारण-मति वाले व्यक्ति के लिये समझना भी कठिन होता है। इस आचार का पालक साधक जीवन का लक्ष्य भी अच्छी तरह समझता है, सम्यक्त्व के स्वरूप को भी जानता है। मार्ग भी ठीक ही लेता है, किन्तु भावना में दम्भ का समावेश हो जाने से साधक स्वार्थ-वश बाहर से ठीक रास्ते पर चलता हुआ भी अन्तरंग से किसी अन्य ही लक्ष्य-बिन्दु पर पहुंचने के लिये सचेष्ट रहता है। इस तथ्य को यूं भी कह सकते हैं कि उसके व्यवहार में मार्ग और लक्ष्य सबको ठीक ही लगता है, किन्तु निश्चय में वह उसके मार्ग और लक्ष्य दोनों ही भिन्न रहते हैं।

बगुले का उदाहरण इसके लिये पर्याप्त रहेगा। गंगा के किनारे पर बगुला एक-निष्ठ ध्यान लगा कर खड़ा रहता है, वह कोई योग-साधना नहीं करता, उसका लक्ष्य केवल मछली पकड़ना ही रहता है। ऐसा आचार जीवन और जगत के लिए सबसे अधिक भयावह होता है। गीता के शब्दों में मिथ्याचार का वर्णन कुछ इस प्रकार से किया गया है—

> कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
> इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते॥

जो साधक कर्मेन्द्रियों का निग्रह करके भी मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है, ऐसा साधक अज्ञानी ही कहा जाता है और उसका आचार मिथ्या ही होता है।

जीवन में शुद्धाचार की साधना के लिये बाह्याचार और मिथ्याचार से दूर हट कर आगे बढ़ने की आवश्यकता है। इसी में जीवन और जगत का कल्याण है।



३

साहू सरणं पवज्जामि

●

भारतीय संस्कृति में साधु का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का जन्म साधु की दिव्य आत्मा से ही हुआ है, यदि ऐसा कहा जाये तो कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की एक प्रमुखतम धारा है। भगवान ऋषभदेव इस धारा के आदि स्रोत माने जाते हैं। जैन-धर्म के अनुसार वे इस अवसर्पिणी काल में सर्व प्रथम इस धरती पर एक तीर्थङ्कर के रूप में अवतरित हुए थे। अरिहन्त पद पाने के लिए वे भी सबसे पहले साधु बने। यदि मैं यह कह दूं कि वे अपने काल में इस आर्यावर्त्त के पहले ही साधु थे तो भी किसी तरह असंगत नहीं होगा।

तीर्थङ्कर तथा अरिहन्त में जो अन्तर है उसे भी ज़रा समझ लेना चाहिए। तीर्थङ्कर पद शुभ नाम-कर्म की उपलब्धि है, जब कि अरिहन्त पद मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण होने से उपलब्ध होता है। जैन-धर्म की दृष्टि में आत्मा के विकास के लिए मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त करनी आवश्यक है। आत्मा का यह विकास-क्रम मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय पर आधारित रहता है।

जैन-धर्म ने अरिहन्त पद को मोहनीय कर्म के आत्यन्तिक क्षय का ही फल माना है। यह आत्मा के विकास की चरम सीमा है।

दुनिया को छोड़ने वाला प्रत्येक सच्चा साधक जीवन के इस सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने के लिए ही साधु-जीवन अंगीकार करता है। तीर्थङ्कर भी दीक्षित होकर पहले साधु-जीवन धारण करता है। साधना की पग-डण्डी पर अडिग पगों से वह आगे बढ़ता है। वह अपना निर्माण पहले करता है और तीर्थ की स्थापना बाद में करता है। कोई भी तीर्थङ्कर पूर्ण आत्म-ज्ञान से पहले देशना नहीं देता। जन-कल्याण के धरातल पर उतरने से पूर्व तीर्थङ्कर की आत्म-कल्याण की साधना पूरी हो जाती है। एक पुरुष के जीवन में बाह्य मर्यादा का भले ही विशेष महत्व एवं मूल्य न रहे, किन्तु पूर्ण पुरुष के पीछे अपूर्ण साधकों का जो दल रहता है उसे निरन्तर सन्मार्ग पर गतिशील रखने के लिए एक महान् पुरुष के लिए भी मर्यादा की परिधि में रहना अनिवार्य हो जाता है। तीर्थङ्कर साधना के केन्द्र में जिस रूप में रहता है, उसी प्रकार उसका मनोयोग जन-हित के केन्द्र में भी आत्म-स्थित ही रहता है।

तीर्थङ्कर लोक-हित की भावना से जिस तीर्थ की स्थापना करते हैं उसमें साधु का स्थान सर्वोपरि रहता है।

साधु पद से साध्वी का भी उप-लक्षण से ग्रहण हो जाता है। दोनों के व्रतों तथा दोनों की मर्यादाओं में कुछ भी मौलिक भेद नहीं होता, इसलिए एक को ग्रहण करने से दूसरे का ग्रहण स्वतः ही हो जाता है। जैन-शासन के चतुर्विध-संघ में साधु सर्वोच्च स्थान पर रहता है। जैन-जगत् में साधु का पद कितना सम्माननीय है यह स्पष्ट करने के लिये मैं पाठकों का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करना चाहता हूं।

नवकार-मन्त्र जैन-धर्म का सबसे बड़ा मन्त्र है, इस महामन्त्र में जहां अरिहन्त और सिद्ध को नमस्कार किया गया है वहां साधु को भी उसी श्रद्धा से नमन किया गया है। आचार्य और उपाध्याय भी कोई साधु से अलग नहीं होते, पद की अपेक्षा से भले ही कोई आचार्य या उपाध्याय बन जाये, किन्तु होते तो वे सब साधु ही हैं। इस तरह नवकार मन्त्र में साधु के तीन पद हो जाते हैं और देव के पद तो दो

हो रह जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नमस्कार-मन्त्र में देव की अपेक्षा साधु को अधिक बार वन्दन किया गया है। ऐसा क्यों ? मेरे चिन्तन में इसका उत्तर कुछ इस प्रकार है :—

जब यह धरती तीर्थङ्कर के चरणाम्बुजों के पावन स्पर्श से वंचित हो जाती है तो उस समय जिन-शासन के संरक्षण, संचालन तथा संवर्धन का समस्त भार साधु के कन्धों पर ही आ जाता है। वैसे तीर्थङ्कर के समय में भी साधु का दायित्व कुछ कम नहीं रहता। घर-घर में ज्ञान एवं चारित्र की ज्योति जगाने के लिए ही उसका जन्म होता है, किन्तु तीर्थङ्कर की अनुपस्थिति तथा उनके अभाव में तीर्थङ्कर-पुत्र साधु का कर्त्तव्य और भी अधिक बढ़ जाता है।

शास्त्र जिसे संघ रूपी रथ का सारथी कहते हैं वह आचार्य भी एक साधु ही होता है। साधुत्व की चमत्कृति ही आचार्यत्व की प्रतिष्ठा शोभा एवं सुषमा है। उपाध्याय भी साधुता के शिखरों से ही संघ में ज्ञान-रश्मियां बिखेरने में सक्षम होता है। देखा जाये तो आचार्य तथा उपाध्याय के जीवन का यदि कोई प्राण है तो वह साधुता की सजीव साधना ही है और इसी साधना के बल पर वह तीर्थङ्कर के शासन को सम्भालने में सशक्त होता है।

जैन-धर्म में साधु की भूमिका कितनी गरिमा-पूर्ण है इसके पक्ष में एक और दृष्टि प्रस्तुत कर रहा हूं।

जैन जगत् में अरिहन्त, सिद्ध, साधु तथा धर्म इन चारों को लोकोत्तर मंगल और सर्वोत्तम कह कर इन्हें भवार्णव से पार करने में "सर्वश्रेष्ठ शरण" के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान की तरह साधु भी शरण्य है—भव्य जीवों के लिए शरणभूत है, क्योंकि धर्म ज्ञान और क्रिया के रूप में सबसे पहले साधु के जीवन में ही प्रतिष्ठित होता है और धर्म ही इस दुनिया में प्राणियों के लिये सबसे बड़ा शरण है। शास्त्र भी इस विषय में अपनी सहमति प्रकट करता हुआ कहता है—

जरा-मरण-वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरण-मुत्तमं ॥

जरा और मृत्यु रूप वेग से डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा श्रेष्ठ स्थान तथा उत्तम शरण है।

जब साधक तीन करण और तीन योग से हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह को छोड़ कर साधु-जीवन में दीक्षित होता है तब धर्म साकार रूप में उसके जीवन में प्रतिष्ठित हो जाता है। निश्चय नय में तो आत्मा का स्वरूप एवं विशुद्ध स्वभाव ही आत्मा का कार्य है, किन्तु उसमें अवस्थित होने के लिये चारित्र रूप धर्म में स्थित होना भी आवश्यक होता है। बिना चारित्र के आत्मा का स्वरूप किसी भी साधक को नहीं मिल सकता, क्योंकि जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार आत्मा का स्वभाव कषायों के गहन आवरणों से आच्छन्न है, उसे प्रकट करने के लिये राग-द्वेष को चित्त से हटाने की आवश्यकता है। राग-द्वेष पर विजय पाने के लिए साधक की सबसे बड़ी शक्ति समता है। समता के लिए संयम अपेक्षित रहता है।

संयम-साधना के लिए मन वचन तथा काया को बाहर की समस्त शुभाशुभ प्रवृत्तियों से अलग करना पड़ता है। इस त्रियोग-संयम की सफल-साधना के लिये ही साधु-जीवन में व्रत ग्रहण करता है। व्रतों की रक्षा के लिए प्रत्येक साधक के चारों ओर विभिन्न नियमों तथा मर्यादाओं की एक प्राचीर खड़ी रहती है। वह केवल राग-द्वेष के रूप में आने वाले बाहर के शत्रुओं के भयंकर आक्रमणों से आत्म-रक्षा करने के लिये ही होती है। वह मर्यादा की प्राचीर कितनी ऊंची एवं लम्बी-चौड़ी होनी चाहिये? यह प्रश्न देश-काल पर आधारित करता है। उसमें समयानुसार परिवर्तन भी हो सकता है, इस तथ्य से कोई भी बुद्धिमान् इनकार नहीं करेगा, किन्तु जीवन में किसी नियम, बन्धन तथा मर्यादा की आवश्यकता ही नहीं यह बात किसी भी समझदार व्यक्ति के गले नहीं उतर सकती।

यदि कोई कहे कि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। जिसने उसे पा

लिया है वह तो सदा चारित्र तथा संयम में ही है। उसके लिये किसी नियम तथा मर्यादा की आवश्यकता नहीं रहती, उसके लिए तो वाहर का प्रत्येक व्यवहार केवल बाह्य भाव ही है। ऐसे धारणाशील महानुभावों को चिन्तन के अन्तस्तल में उतर कर एक गहरी डुबकी लगानी होगी, तभी वे सत्य-मुक्ता तक पहुंच सकेंगे।

उनके विचार में यदि स्वभाव के अतिरिक्त सब कोरा व्यवहार तथा बाह्य भाव ही है तो फिर वेश भी जीवन की एक मर्यादा ही तो है। निश्चय के साथ तो उसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं। उसकी उपयोगिता तो केवल व्यवहार में ही है, फिर उस वेश का मोह क्यों ?

जैन-धर्म में साधु-जीवन का प्रधान लक्ष्य आत्म-सिद्धि को कहा गया है। शेष सब लक्ष्य उसके जीवन में गौण रूप में रहते हैं। अपने लक्ष्य-बिन्दु तक पहुंचने के लिए ही वह सारी दुनिया के सुख छोड़ कर साधना का विकट मार्ग अंगीकार करता है।

साधु की साधना समता रूप चारित्र से आरम्भ होकर वीतरागता पर जा कर समाप्त होती है। चारित्र अन्तरंग तथा बाह्य रूप से उभयपक्षी रहता है। जैसे पक्षी दोनों ही पक्षों से गगन में विहार करता है ऐसे ही साधक द्रव्य-चारित्र तथा भाव-चारित्र रूप दोनों पक्षों से ही संयम-पथ पर विहार करता है। बाह्य अन्तरंग का सहायक एवं पोषक बन कर रहता है और अन्तरंग बाह्य को प्रभावक बनाता हुआ चलता है। माना कि चारित्र का प्राण तो आत्मा का शुद्ध भाव ही है, वह ही साधक की साधना का सर्वस्व है, द्रव्य तो जड़ मात्र है, किन्तु यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि शरीर भले ही जड़ है, किन्तु आत्मा का परिज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति तो जड़ शरीर में ही होती है। इसी तरह बाहर की क्रिया भले ही शरीर की तरह जड़ हो, किन्तु साधक के चारित्र का ज्ञान तथा उसकी छवि ये दोनों बाह्य-चारित्र में ही परिलक्षित होते हैं। बाह्य के बिना अन्तरङ्ग के अस्तित्त्व का भी क्या प्रमाण है ? कुछ नहीं।

इसके सम्बन्ध में एक दूसरा उदाहरण देना भी उपयुक्त रहेगा।

दधि-मन्थन के समय दोनों हाथ मिल कर काम करते हैं। कभी एक आगे हो जाता है तो दूसरा पीछे, फिर पीछे वाला आगे आ जाता है और आगे वाला पीछे चला जाता है। आगे-पीछे होने पर भी वे एक दूसरे के सहयोगी बने रहते हैं। ठीक इसी तरह आत्मा के लोक में अन्तरङ्ग चारित्र आगे रहता है, यहां बाह्य मर्यादाएं बहुत पीछे चली जाती हैं, किन्तु सामाजिक धरातल पर बाह्य मुख्य बन जाता है और आभ्यन्तर चारित्र के प्रमाण में वह ही साक्षी बन कर रहता है। दोनों मुख्य एवं गौण हो कर भी एक दूसरे के सहायक बने रहते हैं। सम्प्रदाय की परिधि में रह कर एकान्त निश्चय पक्ष को पकड़ कर चलना ठीक नहीं कहा जाता। सम्प्रदाय में तो व्यवहार-पक्ष का ही प्राधान्य रहता है। व्यवहार ही सम्प्रदाय की एकरूपता, अनुशासन तथा संगठन की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

वैसे तो सभी सम्प्रदायों में व्यवहार का किसी न किसी रूप में स्थान है ही, किन्तु जैन-शासन में संयम के व्यवहार-पक्ष पर अत्यधिक बल दिया गया है। उसका सदा से ही यह विश्वास रहा है कि जब साधक के अन्तरंग जगत में मोह तथा वासना का ज्वालामुखी फूटता है तो सब से पहले उसके व्यवहार में ही भूकम्प आता है। उस भूकम्प के एक ही धक्के से साधक के जीवन की समस्त मर्यादाएं खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़ती हैं। एक चतुर साधक अपने चारित्र-दौर्बल्य पर आवरण डालने के लिए जीवन के उस पतन को परिवर्तन तथा क्रान्ति का नाम देने लगता है।

परिवर्तन क्या है? और क्रान्ति किसे कहते हैं? यह एक अलग विषय है, विस्तार भय से इसे मैं छेड़ना नहीं चाहता। समय मिला तो कभी फिर इस विषय पर विस्तार से लिखूंगा, किन्तु एक बात अति स्पष्ट तथा अत्यन्त सत्य है कि त्याग-मार्ग से विचलित हो कर कोई भी साधक दुनिया में क्रान्ति नहीं कर सकता। त्याग ही सब से बड़ा प्रभाव, शक्ति तथा आकर्षण है। कोई भी साधक अपने त्याग की जड़ों को हिलाकर दुनिया को नहीं हिला सकता। बल्कि अपने त्याग की जड़ों को सुदृढ़ बना कर ही दुनिया पर विजय पा सकता है। जिस

दिव्य पुरुष ने संसार में धर्म-प्रचार का महाव्रत लिया है उसे यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि इस महाव्रत की आधार-शिला भी त्याग ही है। अन्य को धर्म-मार्ग पर लगाने से पूर्व अपने अन्तस् में धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। धर्म-प्रचार केवल वाणी या लेखनी से ही नहीं होता, वह होता है अपने जीवन के उच्च आचार और व्यवहार से। अपने अन्तरंग को ज्योति बुझा कर कोई भी व्यक्ति दूसरे के मन में ज्योति नहीं जगा सकता।

जैन धर्म के अनुसार अहिसा और सत्य रूप चारित्र ही जीवन की ज्योति है। यदि उस चारित्र को साधक की आत्मा ही कह दिया जाये तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। साधु चारित्र के बल पर ही आत्म-विकास कर के ऊंचा उठता है और अरिहन्तत्व को प्राप्त करके अन्त में सिद्ध, वुद्ध और मुक्त हो जाता है। वस्तुतः चारित्रवान् साधु ही भव्य जीवों के लिए शरण्य समझा जाता है। जैन धर्म के श्रमणोपासक का मन-मयूर साधु को देखकर प्रमोद-भावना से नाच उठता है। वह उसके चरणों का निश-दिन सत्कार एवं सम्मान द्वारा अभिनन्दन करता रहता है। श्रावक उसे देव तुल्य मान कर अपना हृदय-द्वार उसके लिये खोल देते हैं, वे उसे ज्ञान का दिनकर मान कर अन्तर्ज्योति के लिए उस से अभ्यर्थना करते हैं। अपने मंगल तथा कल्याण के लिए वे उस से शुभाशीषों की सदैव कामना करते हैं।

ज़रा सोचिये जैन-शासन में साधु का स्थान कितना महान् है—कितना गौरव-पूर्ण है। इस विषय पर एक दृष्टि और देता हूं। बौद्ध धर्म जैन धर्म के काफी निकट है, किन्तु उसने अपने त्रिशरण में साधु का शरण स्वीकार नहीं किया। बुद्ध, संघ और धर्म उसके ये तीन ही शरण हैं। कोई कह सकता है कि संघ के शरण में ही साधु के शरण का ग्रहण हो जाता है, किन्तु यह समाधान उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि संघ में तो श्रावक का ग्रहण भी होता है। जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म में भी गृहस्थ को श्रावक ही कहा गया है। बौद्ध धर्म ने **"संघं शरणं गच्छामि"** कह कर साधु और श्रावक को एक ही भूमिका पर रख दिया है। जब यह सूत्र गृहस्थ बोलेगा तो उसके लिए साधु

शरण्य होगा, किन्तु जब यह शरण-सूत्र साधु द्वारा उच्चरित होगा तब श्रावक भी उसके लिये शरणभूत हो जायेगा। जैन धर्म ने चार शरणों का विधान कर के बौद्ध धर्म की इस दृष्टि को सर्वथा अमान्य कर दिया है।

जैन धर्म का चिन्तन यह है कि श्रावक यदि दर्शनी हो तो केवल सम्यक्त्वी होता है और यदि चारित्री भी हो तो वह देशव्रती होता है। देशव्रती श्रावक आध्यात्मिक मार्ग में महाव्रत धारी साधु के लिए शरणभूत नहीं हो सकता। श्रावक साधु का सहयोगी तथा उसका संयम-मार्ग में सहायक हो सकता है, किन्तु उपासक के लिये कभी शरण देने वाला नहीं बन सकता। इसी दृष्टि को लेकर जैन धर्म ने अपने 'चत्तारि शरणं" पाठ में संघ का ग्रहण नहीं किया। उसने **"साहू शरणं पवज्जामि"** कह कर साधु को गृहस्थ की अपेक्षा ऊंचे पद पर रखा है।

जैन धर्म में श्रावक को श्रमणोपासक कहा गया है, अर्थात् श्रावक साधु का उपासक होता है और साधु उसके जीवन में उपास्य के रूप में रहता है। उपास्य का जीवन कितना महान् होना चाहिये, यह सोचने का विषय है। उपास्य अपने उपासक के लिये त्याग का एक सजीव उदाहरण होना चाहिये, क्योंकि वह ही श्रावक के लिए मार्ग-दर्शक तथा धर्म-प्रेरक है। वह अपने उपासक के लिए श्रद्धा का सबसे बड़ा केन्द्र है। श्रद्धा की नींव त्याग है। जब उपास्य का त्याग गिरता है तो गृहस्थों की श्रद्धा भी डगमगाने लगती है। इस त्याग के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं।

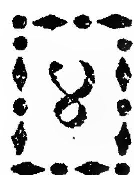
कुछ साधक बाहर से अपनी बाह्य क्रियाओं को खूब प्रभावक बना कर रखते हैं, किन्तु अंतरंग से कपट का आंचल नहीं छोड़ते। यह कोई जीवन का स्वच्छ-पक्ष नहीं है। प्रायः क्रियाकाण्डी साधुओं के सम्बन्ध में बहुतों को यही आपत्ति रहती है कि वे जो बाहर से दिखाते हैं वह अन्दर से करते नहीं। उनके जीवन की स्थिति हाथी के दांतों जैसी बन जाती है, जो खाने में और दिखाने में और रहते हैं।

साधक-जीवन में ऐसी स्थिति अवश्य ही चिन्तनीय है। जब साधक अन्तरंग और वाह्य में एकरूपता को खो बैठता है तो उसके जीवन में दम्भ अर्थात् माया का प्रवेश होता है। जैन धर्म ने माया को साधना-मार्ग का शल्य तथा मोक्ष-मार्ग का विघ्न कहा है। त्याग कोई प्रतिष्ठा कमाने के लिए नहीं होता है, जो साधक प्रदर्शन के व्यामोह में उलझ जाता है, उसे जीवन में कभी भी आत्म-दर्शन नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त उतना ही सत्य है जितना कि सूर्य के सामने दिन का अस्तित्व।

वाहर की विवेक-शून्य, जड़ तथा कोरी क्रियाओं, रूढ़ियों एवं परम्पराओं का दिखावा मात्र करने से आत्मा का स्वरूप नहीं मिलता। यह वात मानने योग्य है, किन्तु जो अध्यात्म-योगी वन गया है उसे वाहर की किसी भी मर्यादा की आवश्यकता नहीं रहती। यह वात विल्कुल भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। यदि अध्यात्म-योगी साधक भी स्वस्थ मर्यादाओं के वन्धन में रहे तो इससे क्या हानि है? एक आत्मस्थित व्यक्ति के लिए मर्यादा में रहना तो और भी अधिक सरल होता है।

अध्यात्म-योग तथा उचित स्वस्थ मर्यादा का क्या कोई विरोध है? यदि नहीं तो फिर मर्यादा के प्रति अश्रद्धा क्यों? मैं मानता हूं कि देश, काल, शक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार मर्यादा के पालन में सर्वत्र कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है, किन्तु मर्यादा की सर्वथा उपेक्षा तथा अवहेलना सर्वत्र सब के लिये ही असाध्य होती है। जैन शासन के शरणभूत तथा उपास्य रूप देवता यदि इस पर चिन्तन करें तो शासन के अभ्युदय में उनका योगदान उल्लेखनीय वन सकता है। आज भी जैन शासन की "साहू सरणं पवज्जामि" यदि इस सूत्र में श्रद्धा है तो उसका आधार साधु का त्याग ही है। ●





साधु और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध



साधु और समाज के सम्बन्ध

साधक कोई भी हो—साधु हो या गृहस्थ उसके धार्मिक जीवन का लक्ष्य केवल आत्म-साधना ही रहता है। गृहस्थ होने पर साधक यह साधना संसार में रह कर ही करता है और साधु बन जाने पर यह साधना संसार छोड़ कर करता है।

वैसे तो साधु-जीवन का प्रधान लक्ष्य मुक्ति ही है, किन्तु संसार के कुछ अन्य कर्त्तव्य भी साधु के जीवन में गौण रूप से रहते हैं और वे सब सामाजिक जीवन में उसके साथ जुड़ जाते हैं। उनसे बचना भी कठिन होता है। समाज में धर्म-प्रचार जन-सेवा तथा साहित्य-साधना आदि कार्यों का भी कुछ मूल्य एवं स्थान है ही। ऐसा लगता है कि मुक्ति के अमर पथिक साधु के जीवन में अब ये सब कार्य ही नहीं रहे, बल्कि कर्त्तव्य ही बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। कोई भी साधक अपने सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा करके यदि आगे बढ़ना चाहे तो बढ़ नहीं सकता है। उसे कुछ न कुछ समाज-हित में अपनी अमूल्य साधना में से अर्पण करना ही पड़ता है।

यदि कोई कहे कि साधु तो आत्मार्थी होता है, उसका सामाजिक कर्त्तव्यों से क्या मतलब है? मेरा विचार है आज के युग में यह चिन्तन

कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता। वैसे तो समाज के प्रति कभी भी साधक उदासीन हो कर नहीं रहा। भारतीय जीवन के प्रत्येक विचार, व्यवहार तथा आचार में किसी न किसी रूप में सन्तों-ऋषियों तथा मुनियों के चिन्तन का प्रभाव रहा ही है और वह अब भी है। भारत, धर्म तथा सन्त का अभिन्न सम्बन्ध है। ये तीनों न आज तक अलग हुए हैं और न हो ही सकते हैं। अन्य देशों की अपेक्षा भारत का यही वैशिष्ट्य है।

जो साधक समाज में रह कर अपने जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति समाज से ही करता है तो फिर उस समाज के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य भी बन ही जाते हैं। साधु सारी दुनिया छोड़ देता है, मन की सभी इच्छाएं तथा वासनाएं भी वह छोड़ सकता है और इन्हें छोड़ने के लिए ही वह साधना का कठिन मार्ग ग्रहण करता है, किन्तु एक आत्मार्थी साधक जीवन की आवश्यकताएं तो नहीं छोड़ सकता। जब तक जीवन है, उसे आहार, स्थान तथा वस्त्र तो चाहिये ही। जो दिगम्बर हैं उन्हें भले ही वस्त्र की आवश्यकता न रहे, किन्तु आहार तथा स्थान तो उन्हें भी अपेक्षित है ही, इससे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। आवश्यकता में साधना की शक्ति संस्कार तथा वातावरण के अनुसार न्यूनाधिकता तो हो सकती है, किन्तु कुछ न कुछ तो जरूरत जीवन में सदा बनी ही रहती है।

एक अपरिग्रही तथा अकिंचन साधु अपनी शक्ति से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का स्वयं प्रबन्ध नहीं कर सकता। उसे इसके लिए समाज पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

उसके इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये केवल समाज ही नहीं, बल्कि एक धर्म-परायण, सभ्य तथा सु-संस्कारी समाज की अपेक्षा रहती है। समाज तो सर्वत्र रहता है, किन्तु कभी-कभी साधक किसी ग्राम या नगर में एक भी रात्रि के लिए ठहरने को तैयार नहीं होता। क्या वहां मानव-समूह के रूप में समाज नहीं रहता? फिर वहां क्यों पांच-सात दिन साधु नहीं ठहर सकता? पूछने पर आपको उत्तर मिलेगा कि

"वहां क्या ठहरें, वहां तो कुछ सुविधा ही नहीं, किसी प्रकार की अनुकूलता ही नहीं। ठहरें क्या ?"

अनुकूलता से साधु का तात्पर्य होता है कि संयम-निर्वाह के लिये वहां साधन उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि लोग उनके आचार-विचार की मर्यादाओं को जानते नहीं। जो लोग उनको समझते नहीं वे उनका सन्मान क्या करेंगे ? जहां आवश्यकता की पूर्ति भी नहीं होती वहां से सम्मान क्या मिलेगा ?

इस चिन्तन से यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि एक आत्मार्थी साधु को भी अपने साधनामय जीवन की रक्षा के लिये समाज के धर्म-संस्कारों की रक्षा करनी पड़ती है। बाहर के सब सुख-साधन तो समाज का बाह्य वैभव हैं, किन्तु अहिंसा तथा सत्य के रूप में मिले हुए संस्कार ही समाज का आन्तरिक वैभव होता है। अहिंसा और सत्य ही मानवता के मूलभूत सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त जिस समाज के जीवन में जितने गहरे प्रतिष्ठित होते हैं उस समाज में प्रेम मैत्री सेवा तथा त्याग के रूप में मानवता के तत्व भी उतने ही सुदृढ़ हो कर बैठ जाते हैं। जहां ऐसा समाज होता है वहीं साधु विचरता है, ठहरता है तथा टिक सकता है। फिर साधु कैसे कह सकता है कि उसका समाज से कुछ भी सरोकार नहीं है ?

आज जो क्षेत्र हमारे सामने हैं कोई यह न समझ ले कि वे सदा से ऐसे ही थे। उनमें बहुत से तो अक्षेत्र ही थे। पूर्वाचार्यों को उन्हें क्षेत्र बनाने में अपने सुखों की आहुति देनी पड़ी है, बड़े-बड़े कष्ट उठा कर उन्होंने आप के लिये स्वर्ग के द्वार खोले हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिन क्षेत्रों को आज आप स्वर्ग समझ कर बैठे हैं वे उन्हीं आचार्यों के परिश्रम का ही मधुर फल हैं। जहां उनको स्थान नहीं मिलता था वहां आपको बड़े-बड़े महल मिल रहे हैं, जिन क्षेत्रों में धर्म-संस्कार न होने से उन्हें कभी पानी का गिलास भी नहीं मिलता था वहां आपके लिए आज दूध के घड़े भरे रहते हैं। जिन स्थानों में पहले धर्म-प्रचारक धर्माचार्य को आक्रोश एवं भयंकर परीषह सहन करने

पड़े, वहां आज हजारों लोग आप का जयनादों से अभिनन्दन करने के लिये कुछ ही घण्टों में एकत्रित हो जाते हैं। क्या यह सब धर्म-प्रचार के बिना ही हो गया ? नहीं ! यह सब प्रचार से ही सम्भव हो सका।

क्या वे धर्मोद्योत करने वाले धर्म-गुरु आत्मार्थी नहीं थे। क्या यह सब किसी जादू के डण्डे से हो गया ? नहीं ऐसा कुछ नहीं था। इसके पीछे उनके तप-त्याग, धैर्य तथा सहिष्णुता का ही चमत्कार था। इसी आत्म-बल के सहारे वे अक्षेत्रों को धर्म-क्षेत्रों में बदलने में सफल हुए। यदि उन्होंने भी ऐसा सोचा होता कि हम तो आत्मार्थी हैं, हमने तो आत्मा के कल्याण के लिये ही घर-बार छोड़ा है, हमें समाज से क्या मतलब ? अपने राम को तो अपने से ही मतलब है। मेरा विचार है फिर आज हमारे लिए भी इस धरती पर कुछ नहीं होता। जो समाज से सब कुछ ले और समाज को कुछ नहीं दे, मेरे विचार में वह आत्मार्थी नहीं, बल्कि स्वार्थी है।

वैसे समूचे जैन समाज का भार प्रायः त्यागी वर्ग पर ही रहता है, किन्तु स्थानकवासी समाज तो और भी अधिक साधु-सन्तों पर निर्भर है। साधु ही समाज की श्रद्धा तथा प्रेरणा का स्रोत है। कोई भी धार्मिक एवं सामाजिक कार्य हो, साधु-समाज की प्रेरणा तथा उपस्थिति के बिना वह वेग तथा बल नहीं पकड़ता और न ही वह शोभा तथा साफल्य से मण्डित होता है। साधु-संस्था का जैन-शासन में अवश्य ही एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है, किन्तु यदि साधु स्वयं ही अपने स्थान के महत्त्व एवं गौरव को न समझे तो फिर क्या किया जाये ? यदि समाज के प्रति वफादार रह कर वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहे तो इसमें उसका तथा शासन दोनों का ही भला हो सकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

युवा पीढ़ी के लिये मार्गदर्शन—

आज हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न युवा पीढ़ी का है। सभी सन्त ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि युवा-वर्ग धर्म से विमुख होता

जा रहा है। धर्म तथा धर्म-गुरुओं पर उसकी श्रद्धा दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। मैं पूछना चाहता हूं कि क्या यह सब दोष उन्हीं का ही है या इस दोष को जन्म देने में किसी और का भी दोष है? जहां तक मेरे चिन्तन का निर्णय है मैं उस निर्णय के बल पर दृढ़ता से कह सकता हूं कि युवक-जीवन को धर्म से विमुख करने में धर्म के कर्णधारों का भी काफी दोष है।

आज का युवक समाज पहले जैसा नहीं रहा। उसके पास शिक्षा तर्क तथा चिन्तन की पर्याप्त शक्ति है। उसके हृदय में धर्म को समझने का उत्कट औत्सुक्य भी है। उसे भी जीवन में सुख तथा शान्ति पाने की सदैव कामना रहती है और वह सदैव उसकी खोज भी करता है। यदि उसे धर्म के रूप में शान्ति का ठीक मार्ग मिल जाये तो यह उस पर चलने के लिये अवश्य तैयार हो सकता है, किन्तु इसके लिये धर्म-गुरुओं का भी यह कर्तव्य बन जाता है कि वे इस दिशा में उन्हें ठीक मार्ग-दर्शन दें।

युवावर्ग अपने सन्मुख धर्म का आदर्श भी यथार्थ रूप में देखना चाहता है। कथनी और करनी का अन्तर उसे पसन्द नहीं। केवल 'सत्य-वचन' कहकर गुरु का कृपार्जन वह नहीं करना चाहता। अपने धर्म-गुरु में वह कुछ देख कर ही सिर झुकाना चाहता है, उसकी कोरी बातों के आगे नहीं। कोरी बातें तो कोई भी बना सकता है, उससे श्रद्धा जमती नहीं, बल्कि जमी हुई आस्था की जड़ें भी उखड़ जाती हैं।

आज के युवक को उसके प्रश्नों का समाधान वैज्ञानिक तथा आधुनिक ढंग से देने की आवश्यकता है, यदि वह यह समझ जाये कि धर्म उसके लिये बहुत ही काम की चीज है, धर्म कोई परलोक का आलोक ही नहीं, बल्कि वह इस धरती की दिव्य तथा अमर ज्योति है जो हर मानव को उसके लक्ष्य की ओर ले जाने में उसकी सदैव सहायता करती है, यदि उसे पता हो कि धर्म में मानव-जीवन की कितनी ही उलझनों तथा समस्याओं का समाधान निहित है, तो फिर

धर्म से विमुख युवावर्ग भी धर्म के उन्मुख हो सकता है। मेरा विचार है कि युवा पीढ़ी को धर्म की ओर मोड़ने के महत्त्वपूर्ण कार्य में आत्मार्थी सन्तों के ही उच्चादर्श अधिक उपयोगी बन सकते हैं। यदि वे महापुरुष ही इस पुनीत कर्तव्य से दूर रहेंगे तो फिर इस धरती पर धर्म, दर्शन तथा संस्कृति की रक्षा कौन करेगा ?

अहिंसा के प्रचार की आवश्यकता—

हमारे सामने दूसरा प्रश्न अहिंसा के प्रचार एवं प्रसार का है। भौतिक युग जब भी आता है वह अपने साथ हिंसा का अभिशाप ले कर ही आता है। कैसे ? यह ज़रा समझने की बात है।

आज के भौतिक विज्ञान ने नये-नये सुख-साधनों से जीवन को सुसज्जित कर दिया है। यह एक प्रकार से जीवन का परिग्रह है। परिग्रह से सदा ही जीवन में राग-द्वेष का प्रवेश होता है। राग-द्वेष ही संघर्ष का मूल बनते हैं और अज्ञान-मूलक संघर्ष का परिणाम हिंसा के रूप में ही प्रकट हुआ करता है। आज जीवन और जगत में यदि सुख के साधन बढ़े हैं, तो हिंसा भी अवश्य बढ़ी है, इस तथ्य को कोई भी इनकार नहीं सकता।

जीवन में यदि आज सुख एक है तो दुःख सौ हैं। सुख मनुष्य की आंख के सामने है और दुःख कर्म-भोग के गोदाम में पड़े रहते हैं। जब एक सुख जाता है तो फिर सौ दुःख सामने आकर खड़े हो जाते हैं।

जीवन को दुःख-मुक्त बनाने तथा उसमें सच्चे सुख की प्रतिष्ठा करने के लिये भौतिक-विज्ञान के साथ-साथ आत्म-ज्ञान की नितांत आवश्यकता रहती है। मन की इच्छाएं इन्द्रियों के विषय तथा शरीर के समस्त कर्म यह सब भौतिक विज्ञान में ही समाविष्ट हो जाते हैं और आत्मा के सत्य-मूलक चिन्तन की गणना आत्म-विज्ञान में होती है। जिसके मन में सत्य-चिन्तन की एक भी रश्मि नहीं उसे कोई भी भौतिक साधन सुख नहीं दे सकता। क्षणिक सुख के बाद उसके जीवन में दुख की काली घटाएं छाने लगती हैं। सुख तो मानव को आत्म-ज्ञान होने पर ही मिलता है। आत्म-ज्ञान के अभाव में हृदय

में जो अज्ञान रहता है जैन-धर्म की शास्त्रीय भाषा में उसे ही मिथ्यात्व कहते हैं। यही मिथ्यात्व हिंसा का मूल है।

यदि महावीर तथा बुद्ध के युग में हिंसा थी तो आज भी हिंसा कुछ कम नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को हिंसा ने किसी न किसी रूप में प्रभावित कर रखा है। हिंसा अहिंसा-प्रधान संस्कृति के लिये एक बहुत बड़ा खतरा है। भगवान महावीर तथा बुद्ध ने हिंसा के विरोध में जो अभियान आरम्भ किया था, उसी तरह के अभियान की आवश्यकता आज भी प्रतीत हो रही है। जो आत्मार्थी साधु केवल आत्म-कल्याण की ही बात करते हैं उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि जैसे अग्नि की लपटों में कमल नहीं खिल सकता, इसी तरह हिंसा की भड़कती ज्वालाओं में बैठ कर कोई भी साधक आत्म-साधना नहीं कर सकता। क्या जैन-शासन का त्यागी वर्ग इस तथ्य को कभी समझने की कृपा करेगा ?

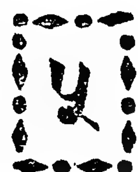
समाज के कल्याण के लिये महाव्रतों की आहुति नहीं देनी

मैं एक बात यहां स्पष्ट कर देना चाहता हूं वह यह है कि मेरी लेखनी का यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि साधक समाजोद्धार तथा धर्म-प्रचार की ज्योति जगाने के लिये अपने महाव्रतों की ही आहुति दे दे। ऐसा करना भी कर्तव्य के सामने जीवन के प्रधान लक्ष्य की सर्वथा उपेक्षा होगी, क्योंकि अपने अन्तरङ्ग की ज्योति को बुझाकर कोई भी व्यक्ति दूसरों के मन में ज्योति नहीं जगा सकता, किन्तु जो साधक केवल रूढ़िग्रस्त हो कर सामाजिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन रहते हैं उन्हें मैं उचित नहीं समझता। मैं तो क्या कोई भी बुद्धिमान् उन्हें ठीक नहीं कहेगा।

जीवन में मर्यादा तो रहनी ही चाहिये, किन्तु दुख उस समय होता है जब कि स्वस्थ मर्यादाओं के स्थान पर केवल रूढ़िवाद का ही आधिपत्य हो जाता है। एक स्वस्थ मर्यादा के पीछे विवेक और चिन्तन का बल रहता है और रूढ़ि के पीछे रहता है अविवेक और केवल कदाग्रह। रूढ़ियों का व्यामोह न तो संयम के लिए और न

आत्म-कल्याण के लिए हितकर होता है और न समाज के लिए ही वह उपयोगी बनता है। आज समय काफी बदल चुका है। देश काल के अनुसार जड़ रूढ़िवाद के स्थान पर स्वस्थ मर्यादावाद की स्थापना करने की नितान्त आवश्यकता है। वे रूढ़ियां क्या-क्या हैं और उनके विकल्प रूप से मर्यादाएं क्या-क्या और कैसी-कैसी होनी चाहियें? यह निर्णय देना मेरा काम नहीं है, यह काम है समाज के कर्णधारों का। यदि समय रहते वे चेत गए तो इससे शासन का काफी हित हो सकता है। नहीं तो हमारे हित तथा अहित का निर्णय आने वाले समय को करना पड़ेगा, किन्तु तब शासन के महापुरुषों की महानता तथा दूर-दर्शिता का क्या मूल्य रह जायेगा? कुछ नहीं। जो साधक समाज के द्वारा मिलने वाले सुखों से ऊपर नहीं उठ सकता, वह समाज के प्रति अपने कर्तव्यों से दूर क्यों रहता है? युग के इस प्रश्न का हमें उत्तर भी देना होगा।





सामाजिक जीवन में श्रमण-वर्ग का सर्वोच्च कर्तव्य

भारतीय संस्कृति में साधु के पद को अत्यन्त सम्मान एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता है। समाज के अभ्युदय में उस का स्थान दायित्वपूर्ण एवं महत्वपूर्ण है। मानव-समाज में यदि वैभव का कुछ स्थान है तो विचारों का मूल्य भी कुछ कम नहीं है। व्यक्ति का घर तो बड़ा हो, किन्तु विचार ऊंचे न हों, मनुष्य के वस्त्र तो सुन्दर हों, किन्तु उसका शरीर सुन्दर न हो, व्यक्ति का अन्य सब कुछ सरस एवं चित्ता-कर्षक हो, किन्तु उसका चिन्तन मधुर एवं हितकर न हो तो ऐसा व्यक्ति न तो भारत के आध्यात्मिक जगत में महान समझा जाता है और न ही उसे अपने लौकिक जीवन में कभी शान्ति नसीब हो सकती है।

विचार मनुष्य के व्यवहार तथा आचार की बीज-शक्ति हैं, क्योंकि समाज का समस्त कर्म-चक्र व्यक्ति के विचारों की धुरी पर ही चलता है।

विचार जीवन की आन्तरिक शक्ति है। शक्ति अपने आप में न अच्छी होती है और न बुरी ही होती है, यह सब उसके उपयोग पर निर्भर करता है। उपयोग व्यक्ति के चिन्तन पर आधारित होता है। सत्य-चिन्तन से शक्ति का सदैव सदुपयोग ही होता है और असत् चिन्तन से व्यक्ति अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है। एक चिन्तन से स्वर्ग का एवं दूसरे चिन्तन से रौरव नरक का द्वार खुल जाता है।

स्वर्ग और नरक के दृश्य मानव के हृदय-पटल पर सदैव बनते तथा बिगड़ते रहते हैं, किन्तु जिसमें मनुष्य का मन स्थिर हो जाता है वही उसके जीवन का रूप बन जाता है और उसके भावी जन्म का प्रारूप भी वहीं से तैयार हो जाता है।

एक श्रेष्ठ समाज की बीज-शक्ति भी एक श्रेष्ठ जीवन है, जैसे सिन्धु बिन्दु का विराट् रूप है, वैसे ही समाज भी मानव जीवन का एक विशाल रूप ही है। व्यक्ति में से ही समष्टि का उदय होता है। व्यक्ति जब बिगड़ता है तो समाज भी बिगड़ने लगता है और जब व्यक्ति सुधरता है तो फिर समाज भी सुधार की ओर गति करने लग जाता है। जैसे गिनती एक से दो और दो से तीन की ओर जाती है और फिर क्रमशः आगे बढ़ती है, ठीक इसी तरह प्रगति एवं निर्माण भी व्यक्ति से आरम्भ होकर फिर धीरे-धीरे समाज में व्याप्त हो जाते हैं। केवल निर्माण ही नहीं, बल्कि व्यक्ति का पतन भी समाज का पतन बन जाता है।

आज समाज में जो कुछ भी अवांछनीय है वह कोई देव-कृत या ईश्वर-कृत तो नहीं है? आखिर यह सब मनुष्य-कृत ही तो है। मनुष्य जब आसुरी वृत्तियों का शिकार हो जाता है तो उसका स्वार्थ उसे अपने पार्थिव पिण्ड में ही सीमित कर देता है। उस समय व्यक्ति के लिये अपने अहं के सामने सारा संसार नगण्य प्रतीत होता है। जिसके जीवन में अपना सुख प्रधान बन जाये, वह दूसरे के सुख की फिर बिल्कुल परवाह नहीं करता। ऐसा व्यक्ति दूसरे के सुख-साधन छीन कर अपने को ही सर्वाधिक सुखी बनाने के स्वप्न देखने लगता है। यहीं से अन्याय तथा शोषण का श्री गणेश होता है। जब समाज का अधिकाँश वर्ग आसुरी पथ का ही पथिक बन जाता है तो समाज का दैवी पक्ष निर्बल हो जाता है। ऐसी स्थिति में सारे समाज की शान्ति खतरे में पड़ जाती है।

समाज के दैवी पक्ष को सबल बनाने के लिए उसके अन्तस् में क्रीड़ारत आसुरी वृत्तियों का उपशमन तथा दमन आवश्यक हो जाता है। यह कार्य मानव-जीवन में सब से अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु दुःख

एवं खेद इस बात का है कि उस की कार्य-सूची में इस कार्य का कोई उल्लेख तक नहीं रहता। जीवन के अन्यान्य कृत्यों में रत मानव जब आन्तरिक जीवन के विशोधन को उपेक्षा करके चलता है तो फिर उसके समूचे जीवन पर आसुरी भावनाओं का ही आधिपत्य हो जाता है। ऐसे मनुष्य के कर्म-क्षेत्र में फिर कहीं भी दिव्यता का दर्शन नहीं हो पाता। सुख के नन्दन-कानन में जाने की बजाय वह दुःखों, कष्टों तथा संकटों की मरुभूमि में ही पहुंच जाता है। आज सर्वत्र मानव-जीवन का चांद दुःख एवं अशान्ति के काले बादलों से आवृत है। यह उसके अपने कुकर्मों का ही कुफल है। इसमें ईश्वर का या किसी अन्य दैवी शक्ति का कुछ भी दोष नहीं है? दोष है मनुष्य के अपने अविवेक का। अविवेक मन का अन्धकार है। अन्धकार में व्यक्ति भटकता है और ठोकरें खाता है। भटकना कोई चलना नहीं होता। विवेक-पूर्वक धीरे-धीरे चलकर तो मनुष्य अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है, किन्तु जीवन में इधर-उधर जीवन भर भटकने वाला कदापि अपनी मंजिल पर नहीं पहुंच सकता।

विवेक अन्तर्जीवन का प्रकाश है। जबकि पुण्य भौतिक जीवन की क्षणिक चमक है। किसी पुण्यशील के पास जीवन के सब सुख-साधन तो रहते हैं, किन्तु उसके अन्तरङ्ग में विवेक की एक किरण भी नहीं होती। अविवेक की स्थिति में सुख के साधन भी दुःख के साधन बन जाते हैं। ऐसा कैसे हो जाता है? इसके लिए एक उदाहरण देना उपयुक्त रहेगा।

एक कमरा है, उसमें मेजें कुर्सियां तथा अन्य फर्नीचर पड़ा है। वह कमरा सुख के समस्त साधनों से खूब सुसज्जित है, किन्तु यदि उस कमरे में प्रकाश के लिये एक मिट्टी का दीपक नहीं है तो गहन अन्धकार में कोई भी व्यक्ति किसी मेज या कुर्सी से टकरा कर लुढ़क सकता है और उसकी किसी भी प्रकार की शारीरिक हानि हो सकती है। ऐसी स्थिति में सुख-भोग का साधन दुःख-भोग का उपकरण बन जाता है।

ठीक इसी तरह जीवन सुख के रंगारंग साधनों से खूब अलंकृत हो, पर यदि मनुष्य के हृदय में विवेक-दीप की एक क्षीण शिखा तक

भी न हो तो जीवन का वह सुख कभी भी दुःख में परिणत हो सकता है। शायद इसीलिए किसी ने कहा है कि—"एक वैभवशील व्यक्ति की अपेक्षा एक विवेकशील गरीब आदमी अधिक अच्छा है, क्योंकि वैभवशील कभी भी अपने अविवेक के कारण असत् मार्ग पकड़ सकता है, किन्तु विवेकशील गरीब व्यक्ति अभाव-ग्रस्त होने पर भी कभी असत् पथ का ग्रहण नहीं करता। ज्ञान और चारित्र का भले ही अविना-भाव सम्बन्ध न हो, किन्तु विवेक और धर्म सदा अभिन्न ही रहते हैं। इसकी पुष्टि में एक सुन्दर दोहा स्मृति-पथ पर आ रहा है। वह कुछ इस तरह है—

धर्म न वाड़ी ऊपजे, धर्म न हाट विकाय।
धर्म विवेक ते ऊपजे, जो करिये सो पाय॥

दोहा सरल है, कोई भी इसे सुगमता से समझ सकता है। इसका सार इतना ही है कि धर्म की साधना विवेक की धरती पर ही होती है। विवेक और आत्म-विद्या अन्योन्याश्रित हैं। विवेक के विना आत्म-विद्या कदापि सम्भव नहीं और आत्म-विद्या वह तैल है जो विवेक की ज्योति को सर्वत्र प्रज्ज्वलित रखता है। आत्म-विद्या से व्यक्ति आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझने लगता है। अनात्म-तत्व की भी उसे परख होने लगती है। मानव के आसुरी भावों तथा उसके अन्तस् के विकारों की जीवन और जगत पर क्या प्रतिक्रिया होती है? इसका भी उसे वोध होने लग जाता है। आत्म-विद्या के दर्पण में व्यक्ति को अपने अन्तःकरण की छवि यथार्थ रूप में नजर आने लगती है। वास्तव में यही जीवन में विवेक का उदय है। यह जीवन की अत्यन्त दुर्लभ उपलब्धि है, जैसे कि शास्त्र कहता है—

खिप्पं ण सक्केइ विवेगमेऊं

अर्थात् विवेक जीवन में कोई यूंही नहीं मिल जाता, इसे पाना कोई सरल काम नहीं है। विवेक जन्म-जन्म की उपार्जित विद्या का नवनीत-पिण्ड है। यह व्यक्ति के मन को सत्य की ओर मोड़ता है और सत्य ही आत्म-साधना का केन्द्र-विन्दु है। इस केन्द्र में जब मनुष्य की श्रद्धा दृढ़ हो जाती है तो वह आसुरी वृत्तियों तथा भीतर के विकारों

से मुक्त हो जाता है। मुक्ति की इस साधना को लोक-व्यवहार में धर्म कहा जाता है। **धर्म कोई प्रदर्शन की चीज नहीं, वह आत्म-दर्शन की आध्यात्मिक कला है। आत्मा के अनन्त साम्राज्य की यह चाबी है।** जो इस चाबी को खो देता है वह आत्मा के आनन्दमय लोक में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकता।

धर्म स्वयं का स्वयं पर अनुशासन है। जो सदैव इस अनुशासन में रहता है उस पर अनुशासन रखने की किसी को भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर की यह वाणी कितनी मार्मिक है।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बन्धणेहिं वहेहिं य॥

बन्धन तथा यातना से अन्य द्वारा दमन की अपेक्षा संयम तथा तप से स्वयं अपना निग्रह कर लेना श्रेष्ठ है।

जो आत्माधीन है वह ही पुरुष स्वाधीन होता है, वह संसार में स्वतन्त्र विहार करता है, किन्तु उच्छृङ्खल कभी नहीं होता। जो हर जगह और हर समय जागृत रहता है और जिसने संयम को ही जीवन का महामन्त्र समझ लिया है, उसे किसी शिक्षा तथा उपदेश की भी आवश्यकता नहीं रहती। आचाराङ्ग सूत्र में भगवान महावीर का यह निम्न सूक्त कितना सारपूर्ण है—

उद्देसो पासगस्स नत्थि—उपदेशः पश्यकस्य नास्ति।

अर्थात् यथार्थ-द्रष्टा आत्म-योगी के लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं होती।

इस सूक्त में जीवन के जिस शिखर की ओर संकेत किया गया है वहां तक पहुंचने से पूर्व साधक को कितने ही आचार्यों के उपदेशों को शिरोधार्य करके धर्म की साधना करनी पड़ती है। विघ्न-बाधाओं के पाषाणों को हटा कर बड़ी देर के बाद साधक आत्मा के शिखर पर पहुंच कर सत्य-द्रष्टा बनता है। धर्म के उस शिखर पर आसीन उस महामानव को देखने के लिए लाखों आंखें आतुर बन कर खड़ी रहती हैं। करोड़ों कान उसका उपदेश सुनने के लिए बेचैन हो जाते हैं। भला

ऐसा क्यों ? यह एक रहस्य है अध्यात्म-जीवन का। इसे कोई अध्यात्म-पुरुष ही जान सकता है, किन्तु फिर भी दो शब्दों में इसे खोल देता हूं। एक अध्यात्म-योगी की आत्मा समुद्र के समान होती है, उसमें से ज्ञान के बादल उठते हैं और उन बादलों से जो उपदेशामृत बरसता है वह सचमुच अलौकिक होता है। उस उपदेश के अनवरत सिञ्चन से मनुष्य जगत की ऊसर मनोभूमियां भी उर्वरा बन जाती हैं।

आत्मा का प्रत्येक साधक सबसे पहले स्वयं को बदल कर स्वयं को ऊंचा उठाता है। उसके पश्चात् ही वह समाज के मञ्च पर अवतरित होने का अधिकारी होता है। ऐसा ही साधक समाज के आचार और विचार के विषय में नव चेतना ला कर उसका कायाकल्प कर सकता है।

जीवन में केवल परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं, किन्तु हर एक परिवर्तन के साथ आचार और विचार का ऊर्ध्व दिशा की ओर मुड़ना भी आवश्यक है। जिसका विचार अवनति की ओर जा रहा हो उसका आचार भी उसके विचार का अनुसरण करता हुआ रसातल में पहुंच जाता है। प्रश्न हो सकता है कि व्यक्ति का विचार ऊर्ध्व गमन कर रहा है, या उसका अधःपतन हो रहा है, इसका ज्ञान एक साधारण व्यक्ति को कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर केवल इतना ही है कि वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार उसके अन्तरङ्ग का दर्पण होता है, किन्तु जब मनुष्य के जीवन में दम्भ आ जाता है तो उसके व्यवहार के दर्पण में भी उसके हृदय का वास्तविक चित्र शीघ्र नहीं उतरता। हां समय पाकर वह भी सामने आ जाता है। किन्तु यदि व्यक्ति थोड़ा चिन्तक हो तो वह दूसरे के चित्त का चित्र जल्दी ही देख लेता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना अच्छा रहेगा।

मोक्ष-मार्ग का एक साधक है. उसके पास मिट्टी का एक पात्र है, भोजन करने के लिए। साधना के कुछ वर्षों के बाद उसका मन बदल गया। उसने मिट्टी का पात्र छोड़ दिया और रजत-पात्र में खाने लगा। यदि उसके विचारों की ऊर्ध्वगति होती तो वह मृत्तिका-पात्र को छोड़कर करपात्री बन जाता। यदि वह रजत एवं स्वर्ण - पात्र की ओर

बढ़ता है तो यह उसके विचार-जगत की प्रत्यक्ष अधोगति ही है। भले ही वह अपने समभाव एवं अनासक्ति-योग के आवरण में अपने मनः-दौर्बल्य को छिपाने का प्रयत्न करे, किन्तु यह कोरा बुद्धिवाद ही होगा, यथार्थवाद नहीं। ऐसे लोग वस्तुतः भौतिकता के धरातल पर खड़े होकर ही समाज-सुधार एवं जन-कल्याण की बातें किया करते हैं, किन्तु भौतिक जगत के सन्देश आत्मा तक पहुंचाने में असमर्थ होते हैं। केवल अध्यात्म-शिखरों पर स्थित होकर किये गए उद्घोष ही जन-मानस को वदल कर उन्हें आसुरी विचारों से मुक्त कर सकते हैं और समाज के प्रांगण में वे विद्या विचार और विवेक का आलोक विखेर कर उसे अभ्युदय की ओर ले जा सकते हैं।

जैन-शासन में भी संयम एवं तप के साधक कोई कम नहीं हैं, बल्कि जैन-जगत के साधु संयम तथा तप की साधना में सारी दुनिया में प्रसिद्ध हैं, किन्तु संयम के अग्रदूत भी संगठन एवं अनुशासन के अभाव में सामाजिक जीवन में सबसे पीछे खड़े हुए मालूम होते हैं।

आज आवश्यकता है समाज को सच्ची विद्या का स्वरूप बताने की और उसके अन्तस् को सद्विचारों से खींचने की और सबसे अधिक जरूरत है उसके जीवन में विवेक की प्रतिष्ठा करने की। मेरा अपना विश्वास है कि जो काम बड़े-बड़े स्कूल और कालेजों की शिक्षा से नहीं हो सकता, वह काम त्याग के आदर्श सन्त लोग उपदेश द्वारा अवश्य कर सकते हैं। संयम जीवन की अमूल्य निधि है। यदि उसके साथ प्रतिभा का योग हो जाये तो उसका मूल्य और भी बढ़ जाता है और यदि प्रतिभा अपनी लेखनी तथा वाणी द्वारा सत्य को शालीन ढंग से प्रस्तुत करने में समर्थ हो तो वह प्रतिभा संयम का शृङ्गार बन जाती है और वह अपने कर्त्तव्य के प्रति भी सदैव सजग रहती है। यदि समाज का तपस्वी तथा मनीषी वर्ग व्यर्थ के मतभेदों तथा संघर्षों से ऊपर उठ कर जन-हृदय को सम्यक् दिशा-दर्शन देने के महत्त्वपूर्ण कार्य में अपने मनोयोग को केन्द्रित करे तो यह समाज की तथा राष्ट्र की सबसे बड़ी सेवा होगी और आने वाले समय के इतिहास में उनके नाम का स्वर्णाक्षरों में उल्लेख होगा।

६

जैन-शासन का शक्ति-केन्द्र : जयवन्त श्रमण-वृन्द



साधु जीवन और आचार-पक्ष

साधु-जीवन में आचार का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। साधु-जीवन के आचार-पक्ष को अच्छी तरह समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि व्रतों का स्वीकार एवं ग्रहण मात्र ही आचार नहीं, बल्कि व्रतों का मन, वाणी एवं शरीर द्वारा आचरण ही आचार को जन्म देता है। आचार की भूमिका पर आकर ही साधु गृहस्थी से बड़ा एवं ऊंचा माना जाता है। साधु-पद द्वारा उपलक्षण से साध्वी शब्द का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि स्त्री और पुरुष में बाह्य भेद होने पर भी उनकी आत्मा में कोई भेद नहीं होता और जिस आचार को साधु-साध्वी ग्रहण करते हैं वह भी समान ही होता है, इसलिए साधुत्व की भूमिका पर साधु तथा साध्वी में अन्तर नहीं माना जाता। एक ही मार्ग के दो पथिक एक ही लक्ष्य को लेकर एक ही आचार की पगडण्डी पर वे निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं क्षुद्र से विराट्, लघु से महान् तथा ससीम से असीम की ओर।

यह बात मैं उन साधकों की कर रहा हूं जो अपने आत्म-लोक में अपने प्रति सच्चे एवं ईमानदार हैं, जिनके कण-कण में सरलता का वास है और अपने गृहीत व्रतों में जिन्हें पूर्ण निष्ठा है, जिनका

हृदय दिशा-सूचक यन्त्र की सूई की तरह सदा आत्मा के ध्रुव पर केन्द्रित रहता है, आचार ही जिनके जीवन की आत्मा है, जिनके अन्तरङ्ग और बाह्य में सदैव एकरूपता रहती है, जो दम्भ प्रदर्शन और आत्म-वञ्चना से सदैव दूर ही रहते हैं, ऐसे आचारवान् साधु-साध्वी का जैन-शासन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

वैसे तो प्रत्येक सम्प्रदाय में साधु का अपना विशिष्ट स्थान होता है, किन्तु जैन-जगत में आध्यात्मिक गुरु के रूप में साधु का एक महत्त्व-पूर्ण स्थान है। अपने जीवन का वह सच्चा साधक है। समाज की साक्षी में वह साधना का मार्ग अङ्गीकार करता है। फिर उसी संघ के समक्ष वह एक धर्मगुरु के रूप में सामने आता है। लाखों मस्तक उसकी संयम-साधना के सम्मुख श्रद्धा से नत हो जाते हैं। संघ उसे सच्चे साधना-पथ पर शक्ति, स्फूर्ति तथा वेग देता रहता है, ताकि वह उत्तरोत्तर अपने गन्तव्य की ओर गतिशील रहे। साधु बन जाने के बाद संघ से उसका सम्बन्ध घटता नहीं, बल्कि बढ़ता है। एक घर को छोड़ देने के बाद लाखों घर उसके लिए खुल जाते हैं। परिवार के दो चार या पांच-सात बन्धुओं का स्नेह एवं मोह छोड़ देने के बाद संसार के लाखों बहनों व भाइयों की श्रद्धा का वह केन्द्र बन जाता है। उसे इस जीवन में इस धरती पर जो कुछ अपेक्षित रहता है वह उसे सहज भाव में उपलब्ध होने लगता है। वह भी निरादर से नहीं, बड़े आदर और सन्मान के साथ। संघ के साथ उसका एक बहुत ही पवित्र, मधुर तथा घनिष्ठ सम्बन्ध बन जाता है।

जैन-शासन में साधु ही संघ के लिए प्रेरणा-स्रोत है। उसके एक संकेत से कितने ही जटिल काम सरल हो जाते हैं। जन-मानस को पाप-पुण्य और धर्म का स्वरूप समझाने के लिए साधु ही उनके सामने व्याख्याता बन कर आता है। कभी-कभी समाज की प्रसुप्त आत्मा को प्रबुद्ध करने के लिये वह सिंह-नाद करता हुआ एक महान् क्रान्तिकारी महापुरुष के रूप में प्रकट होता है। जन साधारण की यह धारणा एवं विश्वास रहता है कि साधु जीवन के लिए एक अच्छा पथ-प्रदर्शक, प्रगति एवं अभ्युदय के लिए एक अच्छा परामर्शक तथा

जीवन में हिताहित विवेकिनी बुद्धि का उन्मेष करने के लिए वह एक अच्छा उपदेशक भी होता है। लोक-हृदय की यह श्रद्धा लाखों लोगों को उसके चरण-सरोजों में लाकर खड़ा कर देती है। संघ की कितनी ही आशाओं का वह केन्द्र बन जाता है। साधु की साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है त्यों-त्यों वह संघ के लिए आकर्षण का केन्द्र बनता जाता है। उपाध्याय और आचार्य के गरिमापूर्ण पदों को भी साधु ही अलंकृत करता है।

साधु : उपाध्याय—

जैन-शासन में उपाध्याय तथा आचार्य के पदों को विशेष गौरव से देखा जाता है। उपाध्याय एक प्रकार से संघ का मस्तिष्क होता है। मस्तिष्क ही चिन्तन का केन्द्र है। चिन्तन का आधार है शिक्षा और ज्ञान। संघ में ज्ञान का केन्द्र उपाध्याय को ही माना गया है। जिस संघ का चिन्तन जितना स्पष्ट एवं स्वच्छ होता है, उसका आचार भी उतना ही निर्मल तथा समुन्नत होता है। वह केवल संघ के नियम, बन्धन और किसी विशेष मर्यादा से चिपक कर ही नहीं रहता, बल्कि उस बन्धन के पीछे जो एक पावन उद्देश्य रहता है वह उसे भी भली-भांति समझने लगता है। एक चिन्तनशील व्यक्ति में देश-काल के साथ समन्वय करने की एक अलौकिक क्षमता आ जाती है। सत्य को आधार बनाकर उभरने वाला चिन्तन संकुचित एवं क्षुद्र बनकर नहीं रह सकता, वह चिन्तन उतना ही विराट् होता है जितना कि सत्य विशाल होता है। बाहर के किसी भी बन्धन में आबद्ध रहने वाला चिन्तन सत्य को उपलब्ध करने में सक्षम नहीं हो सकता।

मर्यादा जीवन के लिए होती है और जीवन सत्य के लिए होता है। जो मर्यादा जीवन में सत्य को प्रतिष्ठित कर सके वही ग्राह्य है—उपादेय है। वह मर्यादा नयी है या पुरानी प्रश्न यह नहीं होता, प्रश्न केवल उसकी उपादेयता का होता है और यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिए कि देश-काल-परिस्थिति तथा वातावरण प्रत्येक उपादेय को अनुपादेय तथा अनुपादेय को उपादेय बना देते हैं। शीत-काल का गरम

ग्रीष्म-काल में अग्राह्य बन जाता है और ग्रीष्म-काल में प्राण-हरण करने वाला सूर्य शीतकाल में जीवन में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला हो जाता है। ग्रीष्म में कूलर Cooler जितना प्रिय होता है, शीत में हीटर Heater भी उतना ही प्रिय बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रश्न वस्तु का नहीं है। जिस गरम कपड़े को व्यक्ति सर्दी में अपने तन के साथ लगा कर रखता है, गरमी के आने पर वह उसे उतार कर अलग रख देता है। कारण स्पष्ट है कि गर्मी के दिनों में वह शरीर के लिए उपयोगी नहीं रहा। प्रश्न केवल कपड़े को पहनने का नहीं है, बल्कि शरीर की रक्षा करने का है। शरीर की रक्षा करनी है तो किसी विशिष्ट प्रकार के कपड़े का मोह तो छोड़ना ही पड़ेगा। उसकी जगह किसी ऐसे वस्त्र की प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी जो उस गर्मी के गरम दिनों में शरीर के लिए उपयोगी हो सके। वैसे यह एक अलग विषय है। इस पर अधिक लिखना अप्रासंगिक होगा।

मैं अपने प्रस्तुत लेख में केवल यह स्पष्ट करना चाहता हूं कि व्यक्ति तथा समाज का चिन्तन यदि सत्य पर आधारित होता है रूढ़ियों पर नहीं, तभी वह समाज के लिए उज्ज्वल भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। समस्त संघ के इस सम्यक् चिन्तन की पहली धुरी उपाध्याय है। वही संघ में चिन्तन एवं परिशोध की एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

मैंने अपने लेख में उपाध्याय शब्द का जो उल्लेख किया है उसका प्रयोजन यहां केवल इतना ही स्पष्ट करना है कि उपाध्याय के इस महत्वपूर्ण पद को भी जैन-शासन में केवल साधु ही अलंकृत करता है। साधु शासन का कितना दायित्वपूर्ण पक्ष है यह बात बड़ी सरलता से समझ में आ सकती है। अब मैं थोड़ा और आगे बढ़ता हूं।

साधु और आचार्य—

उपाध्याय के बाद स्थान आता है आचार्य का। पद की अपेक्षा से उपाध्याय से आचार्य पद ऊंचा है। आचार्य संघ का संचालक तथा शासन-केन्द्र होता है। संघ की शक्ति उसके कुशल नेतृत्व में रहती है।

लोग कहते हैं कि संयम-साधना बड़ी दुष्कर होती है, किन्तु मैं कहता हूं कि साधना की अपेक्षा नेतृत्व और भी अधिक दुष्कर होता है। संयम की वैयक्तिक साधना में तो वह अपने ही मन, इन्द्रियों तथा शरीर पर शासन करता जान पड़ता है, किन्तु संघ का नेतृत्व करने के लिए चतुर्विध संघ के हृदय पर आधिपत्य स्थापित करना पड़ता है। जन-जन का प्रेम अर्जित करने के बाद ही किसी नेतृत्व को स्थायी आधार मिल सकता है। मैं जानता हूं कि समाज में कुछ महानुभाव ऐसे भी होते हैं जो प्रेम के मूल्य को बिल्कुल नहीं समझते, विरोध उनके जीवन का परम धर्म बन जाता है। वे प्रेम का सम्मान प्रेम से नहीं, बल्कि विरोध से करते हैं। कभी गुप्त तो कभी प्रत्यक्ष रूप से वे अपने विरोध के उग्र डंक चलाते ही रहते हैं। वस्तुतः उस विरोध का कोई सत्य आधार नहीं होता, बल्कि वह विरोध विरोधी के हृदय के किसी कालुष्य का सहारा लेकर खड़ा होता है।

किन्तु अहिंसा-प्रधान जैन शासन में विरोध को भी प्रेम से जीतने का विधान किया गया है। जैन-शासन एक विशुद्ध आध्यात्मिक शासन है, उसमें वैर-विरोध का कोई स्थान नहीं है, किन्तु काल की गति तथा मनुष्य का स्वभाव कभी विषम रूप भी धारण कर लेते हैं, किन्तु वह जीवन की एक आपवादिक स्थिति है। उस स्थिति का प्रतिकार भी अहिंसात्मक नीति से ही करने का विधान है। बस आत्म-शुद्धि, शान्ति तथा मुक्ति के समर्थक जैन-शासन में यही जीवन का स्वर्णिम सिद्धान्त समझा जाता है।

जैन-शासन में कूट नीति का कोई स्थान नहीं है। कुटिलता का और रत्नत्रय की साधना का शाश्वत वैर है। रत्नत्रय की आराधना सत्य पर प्रतिष्ठित रहती है। सत्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, वहां तक पहुंचने के लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है। अहिंसा का व्यावहारिक रूप मैत्री तथा प्रेम है।

आचार्य पहले एक साधु ही है बाद में आचार्य है। पहले साधक है बाद में शासक है? शासन में आत्म-साधना का लक्ष्य ही रहता है

जो जीवन का चमत्कार है और यह चमत्कार बिना मैत्री और प्रेम के उपलब्ध नहीं हो सकता। आचार्य को संघ के समस्त सपक्षी एवं विपक्षी हृदयों से असीम प्रेम करने में सक्षम होना चाहिए। जो आचार्य सदैव दण्ड-प्रायश्चित्त, प्रहार, आरोप तथा आक्षेप की नीति अपनाता है उसका शासन आंधी में तिनकों की तरह बिखर जाता है। स्मरण रहे कि संगठन ही शासन की रीढ़ की हड्डी है। उस संगठन के लिए प्रेम एवं सन्मान का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। जो आचार्य विद्वान् तथा बुद्धिमान् सन्तों का सदा सन्मान करता है उस आचार्य के शासन की जड़ें पाताल में रहती हैं।

जैन-धर्म में आचार्य की उपमा सारथी से दी गई है और शासन को एक रथ से उपमित किया गया है। जैसे सारथी रथ को चलाता है, वैसे ही आचार्य संघ का संचालन करता है। रथ के संचालन में योग्य एवं सुशील अश्वों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। सारथी के संचालन की समूची सफलता योग्य अश्वों की सम्यक् गति पर ही आधारित रहती है। योग्य के लिए संकेत पर्याप्त होता है और अयोग्य प्रहार को भी कुछ नहीं समझता। अयोग्य को साधने में ही सारथी की योग्यता की परख होती है। जहां राजनीति में साम, दाम, दण्ड और भेद प्रमुख अंग माने गए हैं, वहां धर्म-शासन में केवल साम का ही महत्वपूर्ण स्थान है।

लोक-व्यवहार में कभी छल-बल तथा भय दिखाकर कार्य-सिद्धि सम्भव हो जाती है, किन्तु धर्म-सूत्रों में इस मार्ग को प्रशस्त नहीं माना गया, क्योंकि इससे समस्या का क्षणिक समाधान होता है, स्थायी नहीं। आध्यात्मिक मार्ग में व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन में साम का महत्वपूर्ण स्थान है। साम अर्थात् शान्ति अहिंसा की नीति का एक अभिन्न अंग है। जो आचार्य योग्य साधक का सम्मान करने तथा अयोग्य के अन्तरंग को प्रेम एवं शान्ति से जीत लेने में दक्ष होता है उसका शासन शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा की तरह वृद्धि पाता है। सारथी को अपने चाबुक के प्रहार की अपेक्षा अपनी वाणी की मधुर पुचकार पर अधिक विश्वास रहना चाहिये।

आचार्य देश-काल का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। शासन का अभ्युदय कैसे हो सकता है ? केवल इसी प्रश्न पर आचार्य का ध्यान केन्द्रित रहना चाहिए, इसके लिए किसी भी नवीन तथा पुरातन पीढ़ी से दब कर चलने की आवश्यकता नहीं, बल्कि आवश्यकता है देश-काल के अनुसार समाचारी का ठीक प्रारूप तैयार करके संघ के समक्ष प्रस्तुत करने की। उस समाचारी पर विचार करने के लिए चिन्तन के द्वार सबके लिए खुले रहने चाहिए, ताकि सभी शान्ति तथा मैत्री के वातावरण में अपने अभ्युदय संगठन तथा सम्यक् एवं सच्ची साधना का केन्द्र स्थिर कर सकें। आचार्य का चिन्तन, दृष्टि तथा निर्णय स्पष्ट होना चाहिए।

मैं जानता हूं कि समाज में कभी दो चार व्यक्ति प्रसन्न हो जाते हैं तो कभी एक-दो नाराज़ भी हो जाते हैं, किन्तु आचार्य इस भय से सर्वथा मुक्त होना चाहिए, क्योंकि जब तक आचार्य के हृदय में भय बना रहता है तब तक संघ के अभ्युदय का कोई भी प्रशस्त मार्ग निश्चित नहीं हो सकता, सारी दुनिया को तो वीतराग तीर्थंकर भी खुश नहीं कर सके तो फिर एक आचार्य यह सब कैसे कर लेगा ? प्रश्न किसी को नाराज़ करने या प्रसन्न करने का नहीं है, प्रश्न तो शासन के लिए अभ्युदय एवं उन्नति के द्वार खोलने का है और यह सब वर्तमान के साथ समझौता करने से ही सम्भव हो सकता है। जो भूत है वह जा चुका है, उसके साथ अधिक चिपकने की आवश्यकता नहीं। भूतकाल की पिटारी में जो भी मंगल एवं पोषक तत्व है यह अवश्य ग्राह्य है। उसकी उपेक्षा करना भी भारी भूल होगी और वर्तमान में जो अपेक्षित है उसकी उपेक्षा करना भी एक बड़ी गलती होगी। जो आचार्य दोनों भूलों से बचकर चल सकता है उसका नेतृत्व अवश्य सफल होता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

जैन-शासन में आचार्य की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं दायित्व पूर्ण होती है और उसे भी आखिर संघ का कोई योग्य साधु ही निभाता है। जैन-धर्म में साधु का कितना ऊंचा स्थान है केवल इस तथ्य को अधिक सुस्पष्ट करने के लिए ही मैंने आचार्य के कर्तव्यों एवं दायित्वों

का थोड़ा सा उल्लेख किया है—एक झीनी सी झांकी दिखाई है।

जैन-धर्म के चतुर्विध तीर्थ में साधु सर्वश्रेष्ठ तीर्थ माना गया है, उसकी दृष्टि में साधु कल्याण, मंगल, देवत्व तथा ज्ञान का एक सर्वोच्च केन्द्र है, इन्हीं शब्दों से उसकी शरण-वन्दना भी की जाती है। जन-मानस के लिए वह सदा वन्द्य पूज्य एवं श्रद्धेय रहा है, किन्तु यदि साधु ही अपने पद की महानता और जिम्मेवारी को न समझे और वह अपनी वन्दनीयता के आधारों की अवहेलना करता रहे तो फिर शासन के लिए प्रेरणा-स्रोत कौन बनेगा? उसके लिए आलोक-दीप कौन रहेगा? और कौन करेगा उसका कुशल नेतृत्व? क्योंकि आखिर समाज के मंच पर एक दिन साधु ही उपाध्याय और आचार्य के रूप में उपस्थित होता है, साधु-शासन की शोभा गरिमा और गौरव है। उसका चिन्तन जितना स्वच्छ, उन्नत तथा विराट होगा, समाज के लिए उसका मार्ग-दर्शन उतना ही सम्यक् तथा यथार्थ होगा। उसकी आत्म-साधना का आलोक ही समाज के लिए आलोक-स्तम्भ बन कर उसके आध्यात्मिक जीवन में आलोक बिखेर कर उसे अपने लक्ष्य-बिन्दु को पाने के लिए प्रेरित कर सकता है।

जैन शासन में तीर्थङ्कर तथा गणधर के पश्चात् यदि कोई महत्व-पूर्ण पद है तो वह आचार्य और उपाध्याय के ही पद कहे जा सकते हैं और ऐसे महत्त्वपूर्ण पदों को यदि कोई गौरवान्वित करता है तो वह है साधु, बस साधु।

यदि मैं संक्षेप में कहूं तो कह सकता हूं कि जैन शासन का यदि कोई शक्ति केन्द्र है तो वह साधु ही है जिसे श्रमण-संस्कृति में श्रमण के सार-गर्भित नाम से स्मरण किया गया है। श्रमण अनन्त शक्ति का वह पुंज है जो अपने अनन्त आत्मिक बल पर कषाय-विजय करके अन्त में भगवत्ता को उपलब्ध करता है। ऐसा श्रमण जैन शासन का एक सजग प्रहरी है जिसकी कर्तव्य-परायणता से शासन का आध्यात्मिक एवं सामाजिक जीवन सर्वथा सुरक्षित रहता है। वह आत्मिक शक्ति का केन्द्र श्रमण-वृन्द सदा जयवन्त हो! जयवन्त हो!



की प्रेम-भावना प्राणीमात्र के लिये भारतीय अवतारों एवं तीर्थंकरों का दिया हुआ एक अनुपम उपहार है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की वीणा से निकलने वाले भारतीय संस्कृति के मधुर गान प्राणीमात्र के कर्ण-कुहरों में पहुंच कर उनके आर्तनादों एवं करुण क्रन्दनों को सान्त्वना दे दे कर उन्हें हर्ष तथा प्रफुल्लता में परिवर्तित करने की अपार क्षमता रखते हैं। ये मीठे गान सब से पहले भारत के ऋषियों तथा मुनियों ने ही गाये थे। भारत के वेद तथा पुराण आदि सब ऋषियों के ही उपदेश हैं। भारत के षट् दर्शन भी ऋषियों की ही देन हैं।

जैन-धर्म के आगम मुनियों द्वारा संकलित तीर्थङ्करों की वाणी हैं। यह सब लिखने का मेरा उद्देश्य केवल इतना ही है कि भारत की धर्म-चेतना को प्रबुद्ध करने का महत्त्वपूर्ण काम सदैव सन्तों के हाथों में ही रहा है और आज भी यदि साधु-जीवन की साधना का अंग मान कर धर्म-प्रचार किया जाये तो भारत में एक नई चेतना अवश्य आ सकती है, किन्तु यह पुनीत कार्य केवल साधु के वेष में नहीं, साधु के आचार में रह कर ही हो सकता है।

हमारे देश में हजारों नहीं लाखों साधु हैं, यदि प्रत्येक साधु प्रतिदिन एक व्यक्ति के आचार-विचार को सुधारने का व्रत ले लेवे तो एक ही वर्ष में सम्पूर्ण देश सारे विश्व के लिये अपने स्वच्छ आचार का महत्त्वपूर्ण आदर्श उपस्थित कर सकता है।

वैसे सम्पूर्ण देश के चारित्र का निर्माण कोई सरल कार्य नहीं है. यह कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी है, क्योंकि सबके गुण, स्वभाव तथा संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। सभी व्यक्ति धर्म-संस्कारों के ग्राहक कैसे बन सकते हैं? यह तो सत्य है कि यह कार्य अत्यन्त दुष्कर ही है, फिर भी मनुष्य को जीवन के सदैव ऊंचे आदर्श ही सामने रखने चाहिये। बहुत ऊंचे उद्देश्य लेकर ही व्यक्ति ऊंचा उठ सकता है। जिसके आदर्श ही छोटे हैं वह अधिक आगे नहीं बढ़ सकता। जो थोड़े में सन्तुष्ट हो जाता है वह बहुत कुछ नहीं पा सकता। यदि साधु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना रख कर सामूहिक रूप से एक जुट होकर तथा

निःस्वार्थ भावना से प्रेरणा पाकर और अपने कदमों में तप और त्याग का आदर्श लेकर चले तो वह महलों से झोंपड़ियों तक अपने धर्म-संस्कारों को विकीर्ण कर सकता है।

लोक-जीवन में सुसंस्कारों का वपन बड़ा मुश्किल कार्य है। आकाश से इन संस्कारों को खुराक के थैलों की तरह नहीं गिराया जा सकता। बाढ़-पीड़ित लोगों को या अन्य किसी विकट स्थिति में फंसे लोगों को आकाश-मार्ग से खाद्य-सामग्री पहुंचाई जा सकती है। वे लोग भूख के मारे पहले से आतुर खड़े होते हैं, भोजन के लिफाफे गिरते ही वे एक दूसरे को पीछे धकेल कर भी उठाने की कोशिश करते हैं, किन्तु धर्म के लिये किसी के मन में इतनी तड़प कहां होती है? इसकी तो किसी को भूख ही नहीं होती। जो धर्म की कहानी सुनाने आता है पहले तो लोग उसकी तरफ झाँकते ही नहीं, यदि झांक भी लें तो उसके प्रति सन्मान तथा आदर का भाव प्रायः कम ही रहता है। संसारी व्यक्ति साधु की दो बातें बड़ी कठिनाई से विमुख मन से ही सुनते हैं, ऐसे लोग ऊपर से "आओ जी", "बैठो जी", कह कर भी अन्तरंग से यही चाहते रहते हैं कि यह जल्दी से उठ जायें और हम अपना कोई दूसरा काम-धन्धा करें।

यह कहानी है उन लोगों की जो दूसरों की झोलियों में धर्म के संस्कार डालने जाते हैं। ठीक भी है जब उनको इस चीज की अन्दर से रुचि ही नहीं तो फिर वे कदर भी कैसे कर सकते हैं। पहले तो उन्हें जीवन में धर्म का महत्त्व क्या है? यह समझाना पड़ता है, इसके लिए अपने आपको स्वार्थ तथा प्रलोभनों से दूर रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि बहुत से लोग धर्म-प्रचारकों, आत्मा के सन्देश-वाहकों तथा धर्म के उपदेशकों से इसलिए भी दूर रहते हैं कि कहीं वे उनसे कोई मांग न कर बैठें। जब लोग परमार्थ के मैदान में स्वार्थ का गुल्ली-डण्डा खेलने लग जायें तो ऐसे दिखावे के परमार्थ के मैदान में कौन बुद्धिमान् आ सकता है? श्रोता भी सोचने लगते हैं कि स्वयं अपने घर के दीप बुझा कर हमारे घर में दीप जगाने का यह प्रयास तो निरा प्रपंच ही लगता है।

धर्म जब अधिक बोझिल हो जाता है तो जनता के निर्बल कन्धे फिर उसे फेंकने का प्रयत्न करने लगते हैं। धर्म के प्रचारक गुरुओं को चाहिये कि वे लोक-जीवन के लिए अधिक बोझिल न बनें और निष्काम भावना से धर्म का प्रसाद बांटें, तभी कुछ धर्म-प्रचार की दिशा में सफलता मिल सकती है।

सन्तों की प्रवचन-सभाओं में ऐसे कम लोग ही होते हैं जो रुचि से आते हैं और हृदय से सुनते हैं। अधिकांश लोग तो लोक-व्यवहार, शिष्टाचार तथा देखादेखी ही आते हैं और सारे व्याख्यान में प्रायः ऊंघते ही रहते हैं, किन्तु वन्दना कर के जाते हुए वे भी कह जाते हैं कि "बड़ा आनन्द आया महाराज! धन्य है आपको, बड़ी कृपा की। क्या पूछते हैं आप श्री जी आनन्द आ गया।" किन्तु किसी को भी मालूम नहीं होने पाता कि वह आनन्द व्याख्यान का था या मीठी-मीठी नींद का।

हृदय के विचारों के विष को निकाल कर उसमें अमृत भरना कोई सुगम कार्य नहीं है, यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। मानव-मन में जन्म-जन्मान्तरों के भरे हुए कूड़े-कचरे को निकाल कर मनो-भूमिका का विशोधन केवल कोरे व्याख्यानों से सम्भव नहीं, इसके लिए जन-जन से निष्काम सम्पर्क साधकर आत्मीयता के मञ्च पर खड़े हो प्रेम और स्नेह भरे हाथों से सुसंस्कारों के सुरभित सुमन चुन-चुन कर बिखेरने होंगे, सम्राट् और मजदूर के हृदय-प्राङ्गण में एक भाव, समान भाव और आत्मीय भाव से।

सनातन जगत का सन्त-समाज काफी विशाल है, उसमें कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ महात्मा अपने-अपने आश्रमों, मन्दिरों तथा मठों द्वारा अपनी-अपनी योजनाओं के अनुसार धर्म-प्रचार के क्षेत्र में सदैव कुछ न कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहते हैं। प्रचार भले ही किसी भी सम्प्रदाय का हो उसके द्वारा जनता की कुछ आचार-शुद्धि अवश्य होनी चाहिये। आचार-शुद्धि से ही जीवन के नैतिक तथा धार्मिक पक्ष परिपुष्ट बनते हैं और फलतः एक धर्ममय समाज-रचना में उस प्रचार से सहायता मिलती है और मैं समझता हूं कि धर्म के सच्चे प्रचार का वास्तविक

प्रयोजन भी यही है। भारत का सनातन धर्म भी विशुद्ध आध्यात्मिक है, इसलिए उसके समस्त मंचों से धर्म-प्रचार के जितने भी कार्यक्रम होते हैं वे सब प्रायः आचार-शुद्धि के प्राण-तत्त्व पर आधारित रहते हैं। कुछ अन्य सम्प्रदाय भी हैं जो जन-समुदाय के आहार-विचार को सुधारने का प्रयत्न अवश्य करते हैं।

किन्तु कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो केवल अपने अनुयाइयों की संख्या बढ़ाने का ही विशेष ख्याल रखते हैं। वहां केवल जन-बल बढ़ाना ही प्रचार का मुख्य लक्ष्य रहता है। जनता के सुधार तथा उद्धार का वहां तनिक भी ध्यान नहीं होता। वे लोग यह समझते हैं कि प्रभुता सत्ता तथा अधिकारों के संघर्षों में साफल्य पाने के लिए अधिकाधिक जन-बल का संग्रह अपेक्षित है। दुनिया के बहुत से सम्प्रदाय इसी दृष्टि से दिन-रात प्रचार में जुटे रहते हैं, किन्तु ऐसे धर्म-प्रचार में मानव के चारित्रिक निर्माण की अपेक्षा अपने हितों तथा स्वार्थों का ही ध्यान अधिक रहता है। इसलिए ऐसे प्रचार को धर्म-प्रचार नहीं कहा जा सकता। ऐसे साम्प्रदायिक प्रचार से लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। "होती है" यह न कह कर यदि यह कहा जाये कि हुई है तो यह अधिक उपयुक्त होगा।

धर्म का प्रचार किसी जाति वर्ग तथा दल विशेष के लिए न होकर सर्वोदय की भावना से ही होना चाहिये। किसी भी राष्ट्र के लिए जहां रोटी, कपड़ा तथा मकान की आवश्यकता होती है, वहां सबसे अधिक उसके लिए अच्छे विचारों की जरूरत भी रहती है।

मनुष्य के मलिन संकीर्ण तथा अनुदार हृदयों के कारण ही जीवन और समाज में सब उलझनों का जन्म होता है। जब वह उदार, विशाल तथा स्वच्छ बन जाता है तो जीवन में न रोटी की समस्या रहती है और न रहती है वस्त्र तथा आवास की समस्या। धरती की ये सभी समस्याएं ईश्वर-कृत नहीं हैं, ये तो मनुष्य-कृत हैं, इसलिए जो मनुष्य द्वारा निर्मित है वह मनुष्य द्वारा ध्वस्त भी हो सकता है।

यदि इस दुनिया के दुख मनुष्य ने स्वयं बनाए हैं तो उन दुखों के कांटों को सुखों के फूलों में बदल भी वही सकता है। केवल उसमें

"आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना को जागृत करने की आवश्यकता है। राष्ट्र में भ्रातृभाव, नैतिकता तथा ऐक्य के सूत्रों को सुदृढ़ बनाने के लिए आत्मीय भावना सर्वाधिक महत्व पूर्ण है और यह काम भारत के मुनि लोग ही ज्यादा सुन्दर ढंग से कर सकते हैं।

मैंने ऊपर भी निवेदन किया है कि सनातन जगत के कुछ महात्माओं ने इस दिशा में गौरव-पूर्ण कार्य किये हैं और अभी कर रहे हैं। कुछ ऐसे सन्त भी हैं जो अपनी साधना तक ही सीमित रहते हैं और इसके अतिरिक्त एक वर्ग ऐसा भी है जो अपने ऐहिक जीवन के सुख एवं आराम के लिए ही सदैव चिन्तित रहता है। ऐसे लोगों का न आत्म-कल्याण से कुछ प्रयोजन होता है और न लोक-कल्याण से। सनातन-जगत इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं है।

जैन-धर्म के सन्तों के तप तथा त्याग की उत्कृष्टता को देख कर ही लोग जैन मुनियों की ओर आकर्षित होते हैं और उनका मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है, किन्तु मुझे अत्यधिक खेद है, कुछ व्यक्ति लोक-मानस के उस श्रद्धा के केन्द्र त्याग को निर्जीव एवं प्रभावहीन करने पर तुले हुए हैं और इसी बात को उन्होंने अपनी समस्त गतिविधियों का ध्येय सा बना लिया है।

मैं पूछना चाहूंगा कि जैनेतर समाज में किस बात की कमी है? क्या वहाँ विद्वानों तथा पण्डितों का अभाव है? बिल्कुल नहीं। वहां भी बड़े-बड़े प्रकाण्ड विद्वान् हैं। षट् दर्शनों के ज्ञाता तथा वेद-वेदांग के मर्मज्ञ पण्डित लोग विपुल संख्या में आपको वहां मिल सकते हैं। नैयायिकों, वैयाकरणों तथा दार्शनिकों की भी वहां कोई कमी नहीं है। प्रवचनकार, कथा-वाचक तथा बड़े-बड़े वक्ता भी वहां बहुत हैं। किन्तु फिर भी वे लोग आपके पास दौड़ कर आते हैं और श्रद्धानत होकर आपके वचनों का अमृत-पान कर के अपने को धन्य मानते हैं।

क्या कभी आपने विचार किया है कि वे लोग आपसे इतने प्रभावित एवं आपकी ओर आकृष्ट क्यों होते हैं? क्या इसलिए कि आप अच्छा बोल सकते हैं या आपके गले में माधुर्य है? आपके द्वारा चौपाई तथा दोहे सरस रीति से उच्चरित होते हैं, या इसलिए कि आप

अलंकारिक भाषा में बोलने में निपुण हैं ? या अपने विचारों का विश्लेषण सुन्दर ढंग से कर सकते हैं ? यदि आप इनमें से किसी भी गुण को जैनेतर समाज के आकर्षण का कारण मानते हैं तो आप वस्तुतः भूल में हैं, क्योंकि जो आपके पास है वह उधर भी बहुत उत्कृष्ट रूप में है, इसलिए आपकी ओर उनके खिंचाव का इनमें से एक भी कारण नहीं कहा जा सकता।

किसी की अपनी राय इस विषय में क्या है ? मैं नहीं जानता, किन्तु जहां तक मेरे चिन्तन और अध्ययन का निष्कर्ष है उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि जैन मुनि में तप और त्याग का वैशिष्ट्य ही है जो उनके मनों को बरबस खींचता है, किन्तु दुःख की बात यह है कि कुछ महानुभाव उस वैशिष्ट्य का कुछ अवशिष्ट भी रहने देना नहीं चाहते।

ऐसे महानुभावों को इतना तो समझना ही चाहिए कि जब मूल ही नहीं रहेगा तो संन्यास का यह वृक्ष हरा-भरा कैसे रह सकेगा ? फिर आपके चरणों में भक्तजन भला क्यों आकर बैठेंगे ? सूखे वृक्ष पर कौन पक्षी आकर बैठता है ? जो अपने आदर्शों को गिराता है और जीवन की कठिनाइयों से दूर भागता है, लोग भी उससे दूर भागने लगते हैं, भले ही कुछ स्वार्थी तथा भोले-भाले लोग उनके पीछे रह जायें, किन्तु समाज के निःस्वार्थ, निष्पक्ष तथा दूरदर्शी वर्ग के लिए वे श्रद्धा के पात्र नहीं बन सकते।

मेरा लिखने का अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं कि आदर्शों की रक्षा समाज का आदर पाने के लिए होनी चाहिए। मेरी लेखनी का आन्तरिक भाव केवल इतना ही है कि अपने साधु-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति तथा जन-कल्याण के लक्ष्य की सिद्धि साधु अपने त्याग के केन्द्र में स्थित रहकर ही कर सकते हैं। मेरा ख्याल है कि जन-मन को सद्धर्म के सुसंस्कारों से सुसज्जित कर लेना यह सबसे बड़ा उपकार है। शायद इसीलिए यह कहा गया है—

तरुवर फल नहिं खात हैं, नदी न संचवे नीर।
परोपकार के कारणे, सन्तन धरा शरीर॥



साधु का कर्तव्य है जन-मानस को सुसंस्कृत करना



देश की जनता को धार्मिक-संस्कारों से सुसंस्कृत करना यह मेरे विचार में देश की सबसे बड़ी सेवा है। जहां धार्मिकता का बीज रहता है वहां अन्याय तथा शोषण जैसे घृणित कार्य नहीं हो सकते। समाज में सम-विभाग के आते ही रोटी, कपड़ा तथा स्थान की विकट समस्याएं स्वयं हल होने लगती हैं। धार्मिक व्यक्ति मन, वचन तथा शरीर से कभी किसी के दुख के लिए न कभी सोचता है, न कभी ऐसी वाणी निकालता है जिससे दूसरों के मन को दुख हो या किसी का काम खराब हो, अथवा किसी की कोई अन्य हानि हो। दुष्ट वचन ही कलह तथा अशान्ति को जन्म देते हैं, धार्मिक व्यक्ति अपनी वाणी पर संयम का अंकुश रखता हुआ इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि एक दूसरे के मन में व्यर्थ में ही भ्रम एवं शंका के कारण वैमनस्य उत्पन्न न होने पाये। निन्दा, पर-परिवाद तथा अभ्याख्यान जैसे बड़े-बड़े पापों का जन्म अविवेक पूर्वक बोलने से ही होता है और इन दोषों के कारण जीवन में कभी बड़े-बड़े हिंसात्मक विस्फोट भी हो जाते हैं, जिनके दुष्परिणाम आने वाली पीढ़ियों को भी भोगने पड़ते हैं। यदि मनुष्य में धार्मिक संस्कारों का थोड़ा भी सम्मान हो तो वह अपने वाक्-संयम से जीवन के कितने ही उपद्रवों से अपनी रक्षा कर सकता है।

धर्मनिष्ठ व्यक्ति का व्यवहार तो स्वच्छ होता ही है उसका

व्यापार भी बड़ा शुद्ध रहता है। व्यापार में लाभ का ध्यान तो सब को रहता हो है, आखिर व्यापार धन कमाने के लिए ही तो किया जाता है, क्योंकि धन एक मात्र मनुष्य को आवश्यकताओं एवं अन्य इच्छाओं की पूर्ति का माध्यम है। एक तरह से यह गृहस्थ का प्राण ही है, इसके विना संसार का कोई व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु जहां धर्म-तत्त्व के प्रति आस्था रहती है "अपने सुखों के लिए दूसरे के हितों का हनन न हो" यह चिन्तन व्यक्ति को अपने लाभ से वंचित भी नहीं रखता और लोभ से ग्रस्त भी नहीं करता।

धर्म हर व्यक्ति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रामाणिक बना कर रखता है और अपनी चारित्रिक प्रामाणिकता से वह सर्वत्र आदर तथा विश्वास का पात्र बन कर रहता है। यदि लोकोत्तर दृष्टि से देखें तो धर्मनिष्ठ व्यक्ति पाप-पंक से भी कभी पंकिल नहीं होता। वह शुभ कर्मों का उपार्जन करके अपनी सद्‌गति के मूल का भी सदैव सिञ्चन करता रहता है, इसीलिए दुनिया के सभी धर्म-शास्त्र मनुष्य को धर्म-पथ पर चलते हुए जीवन जीने का उपदेश देते हैं।

शास्त्र अपने आप नहीं बनते, महापुरुषों के आत्मानुभवों का नाम ही धर्मशास्त्र है और जिन्होंने उन धर्म-शास्त्रों को अपने आचरण में उतार कर अपने को धर्म-साधना के लिये समर्पित कर दिया है ऐसे त्यागी मुनि जन ही धर्म के उपदेशक हो सकते हैं। समाज की धरती में सुसंस्कारों का बीज बोने वाले त्यागी मुनियों को ही आध्यात्मिक कृषक कहा जा सकता है।

देश में धर्म का चहुंमुखी प्रसार करने के लिये सैंकड़ों साप्ताहिक पाक्षिक तथा मासिक प्रकाशन भी निकल रहे हैं। इस सम्बन्ध में उत्तम साहित्य का भी सृजन होता रहता है। यह सत्य है कि इनका लक्ष्य भी मानव-मन को सुसंस्कृत करना ही होता है, किन्तु इनका कुछ व्यावसायिक दृष्टिकोण भी रहता है और इनके अधिकांश पृष्ठ सामाजिक गतिविधियों के लिए समर्पित होते हैं। समाज में जो विशुद्ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक प्रकाशन हैं वे भी धनवान् तथा शिक्षित वर्ग

के हाथों तक ही सीमित रहते हैं। देश की सामान्य जनता तक वे पहुंच ही नहीं पाते। अपने देश में शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षित तथा महलों की अपेक्षा झोंपड़ियां ही अधिक हैं। विशेष के अनुपात में सामान्य तो ज्यादा ही है, इसलिए देश को ऊंचा उठाने का मतलब है देश के सामान्य भाग को संस्कारों से परिपुष्ट करना। इसके लिए मुनियों के उपदेश, मार्ग-दर्शन तथा निर्देशन सर्वाधिक उपयोगी हैं। किसी अन्य समाज को मैं इस विषय में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं रखता, किन्तु जिस समाज का मैं एक लघु सदस्य हूं उसके प्रति अवश्य मैं कुछ निवेदन कर सकता हूं। सबको मालूम है कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ये जैनों के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। श्वेताम्बर तीन धाराओं में विभक्त हैं—वे हैं— (१) स्थानकवासी, (२) तेरह पन्थी, और (३) श्वेताम्वर मूर्तिपूजक।

जैन समाज में दिगम्बर मुनि सब से कम हैं, उनसे अधिक हैं तेरह पंथ के मुनि, उनसे अधिक मुनि एवं साध्वी-संघ है स्थानकवासी सम्प्रदाय का और उससे भी विशाल साधु-साध्वियों का समुदाय है श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज का (यह मैं अपने अनुमान के आधार पर लिख रहा हूं, सही और ठीक आंकड़े मुझे मालूम नहीं हैं) भारत में लगभग जैन धर्म के दस हजार साधु-साध्वी अवश्य हैं जो अपनी आत्मा का उद्धार तथा धर्म का प्रचार करने के लिए अपने जीवन के सब सुख छोड़ कर त्याग-पथ के पथिक बने हैं। जिन्होंने वस्तुतः ऐश्वर्य-वैभव का मोह तथा संसार के सुखों को त्याग कर साधु-जीवन अपनाया है, वे अपने कल्याण तथा दूसरों के हित तथा भले की बात भी अवश्य सोचते हैं।

किन्तु कुछ ऐसे भी साधु हैं जो अपने सुखों के लिए ही साधु बने हैं, वे समाज का तो क्या शायद अपना भी भला नहीं कर सकते। एक तरफ तो वे लोग हैं जो अपनी इच्छाओं पर विजय पाने के लिए साधना का मार्ग अपनाते हैं और दूसरी ओर ऐसे भी तथाकथित साधु हैं जो अभावों के मरुस्थल से सुख, सन्मान तथा प्रतिष्ठा के वश होकर

साधु बनते हैं। वास्तव में उन्होंने त्याग कुछ नहीं किया होता, केवल कर्त्तव्य की कर्मभूमि से पलायन मात्र करते हैं। वे लगता है कि इच्छाओं को जीतने के लिए नहीं, बल्कि अपनी अतृप्त कामनाओं को पूरा करने के लिए ही वे साधु बने हैं। ऐसे साधु ऊपर से दिखावे का धर्म-प्रचार भी करेंगे, आप को बाहर से लगेगा कि धर्म का बहुत बड़ा उद्योत हो रहा है, किन्तु यदि आप उनकी गतिविधियों के अन्तरङ्ग में उतर कर देखेंगे तो आपको पता चलेगा कि वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने स्वार्थ के केन्द्र की ही परिक्रमा करते रहते हैं।

भला जो अपने स्वार्थ से आगे नहीं बढ़ पाता वह परमार्थ के शिखरों पर पहुंच ही कैसे सकता है? जीवन के ऊंचे आदर्शों को लेकर साधु-जीवन अपनाने वाले त्यागी साधक ही धर्म-प्रचार के महत्वपूर्ण कार्य को शालीनता से कर सकते हैं। ऐसे साधक ईर्ष्या तथा द्वेष से दूसरों के जीवन-पथ पर कभी कांटे नहीं बिखेरते।

हमारे समाज के इन हजारों श्रमणों में से कुछ स्थविर भी हैं जो भ्रमण में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। उन्हें एक जगह स्थिरवास में ही रहना पड़ता है। उसके साथ उनकी सेवा के लिए कुछ अन्य सन्तों को भी रुकना पड़ता है। किन्हीं के कदम अस्वस्थता तथा अनवरत रोगों के आक्रमणों के कारण शिथिल हो जाते हैं। कुछ अपने सौकुमार्य के कारण विहार के कठिन परीषहों से घबराते हैं, इसलिए वे किसी अच्छे से स्थान को अपनी साधना का केन्द्र बना लेते हैं। वे कुछ दिन घूम-फिर कर पुनः वहीं आ जाते हैं।

अपने समाज में कुछ ऐसे भी तथाकथित साधु हैं जिन्हें 'विहार' पर श्रद्धा ही नहीं है, वे विचरण को केवल एक रूढ़ि ही समझते हैं। उनके चिन्तन का भाव यह है कि विचरने में कष्ट अधिक होते हैं और लाभ कम, क्योंकि साधक का बहुत सा समय तो घूमने में ही निकल जाता है, कुछ समय आहार तथा स्थान की गवेषणा में चला जाता है। इस तरह उसका सारा दिन ही बरबाद हो जाता है। फिर दिन भर का थका हुआ पथिक रात्रि को विश्राम के मृदुल अंक में जाने के लिए

उत्सुक हो जाता है, क्योंकि अगली सुबह फिर एक लम्बा मार्ग उसे तह करना होता है। इस तरह न तो किसी ग्राम व नगर को धर्म का पूरा लाभ मिलता है और न ही साधक स्वस्थ चित्त से आत्म-ध्यान में बैठ सकता है। इस तरह न ही आत्म-चिन्तन के लिए कुछ ऐसी घड़ियां ही बच पाती हैं जिन घड़ियों में आराम से बैठ कर वह आत्म-रस का रसास्वादन करे और संसार के लिए भी अनुभूतियों के अनमोल मोती अपने चिन्तन के सागर से निकाल सके।

यह चिन्तन समाज के कुछ उग्रपंथी सन्तों का है। सुविधावादी तो केवल कुछ सामयिक सुविधाओं की ही बात करते हैं, वे तो सिर्फ संयम में देश-काल के अनुसार ढील चाहते हैं। शायद किसी दृष्टि से उन लोगों की मांगों में कुछ औचित्य भी हो तथा ऐसे लोगों के दृष्टिकोण फिर भी किसी सीमा तक विचार योग्य हो सकते हैं, किन्तु ये उग्रवादी तो साधना के मूल को ही उखाड़ कर फैंक देना चाहते हैं, उनके ये निश्चय निश्चित रूप से अविचारणीय ही नहीं, बल्कि उपेक्षणीय भी हैं।

एक-आध अपवाद को छोड़कर प्रायः ऐसे सभी लोग धर्म-प्रचार का केवल स्वांग ही भरते हैं। जन-जीवन को धार्मिक बनाने का कोई भी पुनीत लक्ष्य उनके द्वारा पूरा नहीं होता।

अतिरिक्त इसके कुछ ऐसे भी सन्त हैं जो नव-दीक्षित होने के कारण विद्यार्थी जीवन में ही होते हैं। अध्ययन आदि में व्यस्त रहने के कारण वे धर्म-प्रचार में सक्रिय भाग लेने में असमर्थ होते हैं। कुछ मुनि जन तप-साधना में लीन रहते हैं, वे वैयक्तिक साधना को संयम का परमोच्च लक्ष्य मानते हैं, लोक-धर्म को वे गौण रूप में भी स्वीकार नहीं करते।

इस तरह सन्त-समाज में स्थिति तथा दृष्टि को लेकर एक प्रबल विचार-भेद होने पर भी सभी सन्त प्रायः बालकों, युवकों तथा महिलाओं को विशुद्ध धार्मिकता से अलंकृत करने से पूरी तरह सहमत हैं। विचार - जगत में विविधता तथा जीवन में कुछ विवशताएं नजर

आने पर भी हजारों साधक ऐसे हैं जो धर्म-प्रचार को अपनी साधना का अंग मानते हैं और उसके व्यापक प्रचार में उत्कट अभिरुचि भी रखते हैं। यदि वे सब एक जुट होकर योजन-बद्ध रीति से एक कार्यक्रम के अनुसार व्यवस्थित रूप से मैदान में उतर आएं तो वे सारे भारत में अहिंसामय धर्म की ध्वजा फहरा सकते हैं। समाज में शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों तथा उच्चकोटि के दार्शनिकों की कमी नहीं है। अच्छे-अच्छे प्रवचनकार तथा वक्ता भी बहुत हैं। लेखनी के धनी लेखक तथा कवि भी समाज के क्षितिज पर अब तो काफी चमकने लगे हैं। ये सब वैसे तो अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से धर्म-शासन के लिए कुछ कर ही रहे हैं, किन्तु यह सब वैय-क्तिक होने से बिखरा सा रहता है। उनके अन्तरङ्ग में कितनी ही लोकेषणाएं भी पलती रहती हैं, इसलिए उसमें धार्मिक-निष्ठा तो हो ही नहीं पाती।

धर्म-प्रचार के इस प्रवाह में सातत्य भी नहीं रहता और प्रभाव में स्थायित्व भी नहीं आ पाता। इसलिए आवश्यकता है पारस्परिक सहयोग की और एक नेतृत्व के आधीन कार्य करने की। इसके लिए जाति गच्छ तथा सम्प्रदायवाद से ऊपर उठना होगा, केवल इतना ही नहीं सत्ता, प्रभुता तथा अधिकारों के व्यामोह के चक्रव्यूह से भी बाहर निकलना पड़ेगा। वस्तुतः साधक के लिए भी प्रतिष्ठा का मोह छोड़ना कठिन होता है—शायद इसीलिए यह कहा गया हो—

> कञ्चन तजना सहज है, सहज तिरिया का नेह।
> मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना एह॥

वास्तव में यह कवि ने मानव-मन के अन्तरंग-दौर्बल्य का बिल्कुल सही चित्रण किया है। इसमें मेरे और आपका प्रश्न नहीं है। यदि हम इस दोहे के दर्पण के सामने खड़े होकर और आंखें खोल कर देखें तो हमें अपनी तस्वीर यथार्थ रूप में नजर आ सकती है। मैं इतना तो अवश्य समझता हूं कि हम कोई वीतराग तो नहीं हैं, किन्तु वीतरागता

साधक के जीवन का लक्ष्य तो है ही।

मैं मानता हूं कि साधक एकदम मान-सन्मान की भावना से मुक्त तो नहीं हो सकता, किन्तु इसके लिए उसके जीवन में सजगता तथा विवेक तो चाहिये ही। जीवन में जो कुछ अर्जित करना है उसके लिए जो मार्ग तथा साधन अपनाया है उसकी सम्यकता तथा असम्यकता पर विचार करना ही साधक की सजगता और उसका विवेक है। जहां इतना भी नहीं वहां कार्याकार्य, शुभाशुभ तथा सत्यासत्य का विभेद विज्ञान भी कैसे हो सकता है? इसके अभाव में सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-चारित्र का अस्तित्व भी वहां कैसे पाया जा सकता है?

जहां रत्न-त्रय नहीं वहां जीवन का लक्ष्य "वीतरागता" कदापि नहीं हो सकता, अवश्य वह किसी सांसारिकता से आबद्ध है। सांसारिकता अहं से उत्पन्न होकर परिणामतः "अहं" को ही पुष्ट करती है और अहं का मोह ही ऐक्य के जगत में भयंकर विस्फोट करके उसे विखण्डित कर देता है। जीवन के एक ओर ममता है तो दूसरी ओर है वीतरागता। जीवन का सबसे ऊंचा आदर्श इन दोनों की मध्य रेखा के रूप में यदि कोई है तो वह है समता। इस रेखा पर आकर ही विभिन्न दृष्टियों में एकता स्थापित हो सकती है। साधक जीवन-निर्माण तथा जन-कल्याण के लिए अवश्य कुछ न कुछ संगठित होकर ही कर सकता है।

जो साधु-साध्वी बड़े-बड़े उपदेश नहीं दे सकते या बड़े-बड़े समारोहों का आयोजन नहीं कर सकते वे यह न समझें कि वे धर्म-प्रचार की दिशा में कुछ भी कर नहीं सकते। मेरा विचार है कि प्रत्येक साधक कम से कम धर्म एवं आचार का प्रारम्भिक ज्ञान तो अवश्य रखता ही है, अतः वह समाज के बालकों, युवकों [illegible] -समाज को अर्जित ज्ञान से अवश्य लाभान्वित कर सकता है [illegible] र्य है जो हर सशक्त अशक्त युवक तथा स्थविर मुनि कर [illegible]

अपना समय व्यर्थ की सांसारिक चर्चाओं [illegible] में-

शिक्षा में अर्पण करना होगा, स्कूलों तथा कालेजों के मुंह की तरफ न देखकर अपने स्थानकों उपाश्रयों तथा धर्म-मन्दिरों के प्रांगणों में ही आपको धर्म-शिक्षा का अभियान शुरू करना होगा।

गुरु के ऊंचे सिंहासनों पर बैठ कर चरण पुजवाने में ही शायद बहुत से अपने जीवन की इति - श्री समझ रहे हैं, किन्तु वास्तव में वे भूल में है। आप उस दिन सच्चे साधु तथा सच्चे गुरु माने जाएंगे जब जन-जन के हृदय में आप धर्म-ज्ञान की ज्योति जगायेंगे। उस दिन आप एक लकड़ी के सिंहासन पर नहीं, बल्कि जन-मन के सचेतन सिंहासन पर आसीन होंगे। इस देश के कोटि-कोटि कृतज्ञ नेत्र श्रद्धाश्रुओं से आपका चरण-प्रक्षालन कर अपने को धन्य मानेंगे। आपके द्वारा संस्कारित शिक्षित तथा ज्योतित लक्ष-लक्ष जीवन आपके विचारों एवं ध्वनि-तरंगों को विश्व के कोने-कोने में पहुंचा देंगे। अपने आचार-सरोवर के एक ओर अपनी साधना की कुटीर में चुपचाप बैठ कर भी आप संसार के सुख-शान्ति और हित में बहुत कुछ कर सकते हैं।

धर्म-प्रचार का यह पुनीत कार्य आकाश में उड़ने की अपेक्षा धरती पर चल कर अधिक सुन्दर ढंग से किया जा सकता है। धरती पर चलने वाला ही प्रत्येक नगर और प्रत्येक ग्राम से गुजरता हुआ प्रत्येक हृदय के द्वार पर पहुंच सकता है।

भारत की अधिकांश जनता गांवों में बसी हुई है। उसे सुसंस्कारित करने के लिए सन्तों के लिए पद-यात्रा सबसे उत्तम सिद्ध हो सकती है। गांवों के प्रांगण में सरलता एवं भावुकता भी अधिक रहती है। ग्रामीण सन्तों पर श्रद्धा भी रखते हैं, उनकी वाणी को वे अधिक स्नेह एवं प्रेम से सुनते हैं। यदि कहीं गांवों में कुछ अवांछनीय है तो वे उन्हें उपदेशामृत न मिलने के कारण है। यदि उन्हें निरन्तर धर्म-उपदेश मिलता रहे तो वहां के वातावरण में पवित्रता के कण अवश्य बिखर सकते हैं। यह सब ऋषि-मुनियों के ग्रामानुग्राम पैदल विचरण से ही सम्भव हो सकता है।

जैन मुनि तो पद-यात्रा करते ही हैं, मेरे विचार में यदि सनातन-जगत के सन्त महात्मा भी वाहनों का आश्रय छोड़ कर पद-यात्रा ही करें तो वे हिन्दू-संस्कृति को घर-घर में पहुंचा सकेंगे और वे अपनी चरण-रज से और अमृत-वाणी से ग्राम-ग्राम एवं नगर-नगर की गलियों के वातावरण को आध्यात्मिकता से सुरभित कर सकेंगे।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि तप-त्याग भरे आदर्श जीवन से आकाश में तेजी से उड़ने की बजाय धरती पर धीरे-धीरे चल कर ही जन-जीवन का अधिक कल्याण हो सकता है। ❖





क्या जैन-धर्म का मुनि प्रचारक है ?

"क्या जैन धर्म का मुनि प्रचारक है ?" यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। शायद मैं इस विषय पर एक साधारण लेखक होने के कारण विशेष चिन्तन न दे सकूं, फिर भी मैं जो कुछ लिखूंगा वह महत्वहीन नहीं होगा। हर सम्यक्-चक्षु जैन-धर्म के दर्पण में उसकी यथार्थ छवि देख सकता है।

जैन-धर्म में सम्यक्-दृष्टि को ही साधना का मूल कहा गया है। जिस व्यक्ति के अन्तरङ्ग में सम्यक्त्व का उदय हो जाता है, वह देव धर्म तथा गुरु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने लग जाता है।

जैन-धर्म में पञ्च - महाव्रतधारी साधु को ही गुरु का स्थान दिया गया है और साधु को ही आगे चलकर उसकी योग्यता की परीक्षा करके उपाध्याय तथा आचार्य जैसे महत्वपूर्ण पदों से विभूषित किया जाता है। जैन-धर्म का साधु साधक होने के साथ प्रचारक भी हो सकता है पर केवल प्रचारक नहीं। इस विषय की स्पष्टता के लिये साधु के जो पर्यायवाची शब्द हैं, हमें उन पर जरा दृष्टिपात कर लेना चाहिये। साधु के समानार्थ वाले शब्द हैं—मुनि, सन्त, महात्मा, श्रमण, निर्ग्रन्थ, भिक्षु, संन्यासी, योगी, अनगार, यति, संयमी तथा ऋषि आदि।

इन समस्त शब्दों के व्याकरण की दृष्टि से शब्दार्थ में निश्चित विभिन्नता होने पर भी भावार्थ सबका एक सा ही है। क्रमशः हम इन

शब्दों पर विचार करके देखेंगे कि क्या इन शब्दों में कहीं भी प्रचारक शब्द की भावाभिव्यक्ति पाई जाती है? या ऋषियों तथा मुनियों को प्रचारक कहने का केवल गलत हठ ही किया जा रहा है। आप गम्भीरता से यदि इस शब्द-समूह पर चिन्तन करेंगे तो आपको पता चलेगा कि इनमें कोई भी शब्द प्रचार का वाचक नहीं है। जैसे कि—

साधु—जो आत्म-कल्याण के लिए साधना में रत है। जो सब दुःख-कष्ट सह कर भी अपने कार्य की सिद्धि करने में सदैव प्रयत्नशील रहता है और दूसरों को भी आत्म-कल्याण का मार्ग दिखाता है, वही साधु है।

मुनि—ज्ञान से ही व्यक्ति मुनि होता है, जो उभय लोक का मनन करता है वह ही मुनि है। जो आत्म-भाव में सदा जागृत है, वह मुनि है।

सन्त—जो मन, वचन तथा काया से सत्य की उपासना करता है और 'ॐ तत् सत्' को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मान कर असत् से सदैव अपने को दूर ही रखता है, वही सन्त है।

महात्मा—जिनकी आत्मा महान् है, जिन विकारों पर साधारण लोग विजय नहीं पा सकते उन पर विजय प्राप्त करके जो अपनी महानता का परिचय देता है, वह है महात्मा।

श्रमण—यह जैन संस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—ज्ञान-पूर्वक पुरुषार्थ करके परमात्म-पद को प्राप्त करने वाला साधक।

निर्ग्रन्थ—जो सम्यक्-ज्ञान पूर्वक सम्यक् चारित्र से अपने अन्तः-करण की रागद्वेषात्मक ग्रन्थियों का भेदन करने की साधना करता है वह निर्ग्रन्थ है। यह शब्द जैन संस्कृति का अपना विशिष्ट शब्द है।

भिक्षु—जो अपरिग्रही होने के कारण केवल भिक्षा-वृत्ति से अपने संयमी जीवन का सन्तोष भाव से निर्वाह करता है, उसे भिक्षु कहते हैं। जैन-धर्म के दशवैकालिक सूत्र में "सभिक्खु अध्ययन" में इस शब्द

का भाव विशद रूप से स्पष्ट किया गया है। बौद्ध-धर्म में साधु के लिए भिक्षु शब्द का अधिक प्रचलन है।

संन्यासी—त्याग का नाम संन्यास है। जो दुनिया को नश्वर समझ कर छोड़ देता है और आत्म-शान्ति पाने के लिए घर से निकल पड़ता है वह संन्यासी है। गीता के अनुसार जो फलासक्ति को छोड़ कर कर्म करता है, वह कर्मयोगी भी संन्यासी ही है। मनुस्मृति के परिप्रेक्ष्य में संन्यासी वह है जो संसार को छोड़ कर जीवन के चतुर्थ आश्रम में प्रवेश पाता है।

योगी—जो मन, वचन तथा काया इन तीनों योगों का निग्रह करके आत्मा के अनन्त सुख में रमण करता है वह योगी है। योग-शास्त्र के अनुसार अपनी चित्त-वृत्तियों का निरोध करने वाले साधक को योगी कहा गया है। गीता के अनुसार योगी वह है जो जीवन में कर्म करता हुआ भी सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति मान-अपमान तथा सिद्धि-असिद्धि में समभाव रख कर सदैव प्रसन्न चित्त रहता है, क्योंकि संसार में सब कुछ मनुष्य की मुठ्ठी में नहीं रहता। बहुत कुछ उसके कर्मों, इच्छाओं तथा अदृष्ट के आधीन भी है, इसलिए मनुष्य अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रसंगों में एक-रस रहकर ही आनन्द की अनुभूति कर सकता है। योगी सदा हर्ष तथा शोक से मुक्त रहने के कारण सदा आनन्दमय रहता है।

अनगार—जिसने वैराग्य से प्रेरित होकर अपना घर-बार छोड़ दिया है वह अनगार है। किसी बेघर व्यक्ति को अनागर नहीं कह सकते, क्योंकि उसने घर छोड़ा नहीं, बल्कि उसे घर मिलता नहीं। ऐसे लोग फुटपाथों पर सोये हुए भी महलों के स्वप्न देखा करते हैं, क्योंकि उनके मन में महलों की आसक्ति बनी रहती है। जो सच्चे अनगार होते हैं वें "तरुतल-वासः" में भी असीम सुख की अनुभूति करते रहते हैं।

यति—जो ब्रह्म-निष्ठ होकर विषयों से उपरत हो जाता है, इन्द्रिय विजयी है उसे यति कहा जाता है।

संयमी—जो मन, वचन, काया इन तीनों योगों को अपने वश में

रखता है, उन्हें दुष्मार्ग में कभी प्रवृत्त नहीं होने देता, वही संयमी पुरुष है। जैन धर्म के अनुसार पांच महाव्रत ग्रहण करने से ही जीवन में संयम की प्रतिष्ठा हो सकती है, इसीलिए जैन भागवती दीक्षा ग्रहण करने को प्राय: "संयम लेना" कहा जाता है।

ऋषि—अपनी इन्द्रियों के स्वामी एवं विजेता को ऋषि कहते हैं। ऋषि त्रिकाल-द्रष्टा कहे जाते थे। एक तरह से वे वैदिक संस्कृति में केवली के समान आदरणीय होते थे। वेद-वाणी भी ऋषियों की वाणी होने से आर्षवाणी कही जाती है।

उपर्युक्त समस्त शब्दों की अर्थ-चर्चा के पश्चात् मैं पूछना चाहूंगा कि आप ही सोचें कि ऐसा कौन सा शब्द है जो इनमें आत्म-साधना परक नहीं और जिससे इन आत्म-साधकों के जीवन का लक्ष्य कोरा प्रचार करना ही समझा जाये।

जैन धर्म के महामन्त्र नवकार में पांच मूल पद हैं, इसका पंचम पद **"नमो लोए सव्वसाहूणं"** है, जिसका अर्थ है लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो। नवकार मन्त्र में अरिहन्तों तथा सिद्धों की तरह ही साधु को भी एक महान् शक्ति मानकर नमन किया गया है। जब आप नवकार मन्त्र को चौदह पूर्व का सार कहते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस मन्त्र का प्रत्येक पद सार-पूर्ण है, इस न्याय से साधु-पद को भी सारशील मानना होगा। इस महामन्त्र के निम्न चार पदों में जो माहात्म्य बताया गया है उस में **'सव्वपावप्पणासणो'** यह पद ऊपर के प्रत्येक पद से सम्बन्धित है। केवल अरिहन्त या सिद्ध जैसे पदों को नमस्कार करने से ही सब पापों का नाश नहीं होता, बल्कि साधु को नमन करने से भी सब पाप नष्ट होते हैं। जिसने तीन करण और तीन योगों से आश्रवों का प्रत्याख्यान कर दिया है, जो संवर में स्थित हो कर आत्म-स्वरूप में अवस्थित है, वह ही साधु है और उसके उस भाव को नमस्कार करने से ही पाप नष्ट होते हैं। जो त्याग, वैराग्य व्रत तथा संवर से दूर केवल धर्म के प्रचारक ही बन कर रहें उनका नवकार के पांचवें पद में कोई स्थान नहीं बनता, तो फिर उनके लिए 'नमो' यह

क्यों ? क्योंकि नमस्कार साधु को है न कि प्रचारक को। पापों का नाश साधु के आशीर्वाद, दर्शन, ध्यान तथा उपदेश से होता है, न कि प्रचारक के उद्‌बोधन से या उसके गीतों तथा मधुरालापों से।

जैन-धर्म में गृहस्थ को श्रावक या श्रमणोपासक कहा गया है। इस दृष्टि से साधु और श्रावक में उपास्य-उपासक भाव का सम्बन्ध रहता है। यह कोई लौकिक सम्बन्ध नहीं, बल्कि यह धर्म का अलौकिक सम्बन्ध है जिसमें भक्त के मन में अपने गुरु के प्रति पूरी श्रद्धा रहती है।

वास्तव में गुरु वह ही है जो शिष्य के हृदय में ज्ञान की ज्योति जगा कर अज्ञान-तिमिर को नष्ट कर देता है। यह तभी सम्भव हो सकता है यदि साधु स्वयं गुणशील हो, चारित्रवान् हो। श्रद्धा का केन्द्र जाति, वंश, आयु, उपदेश तथा कोरी वाणी ही नहीं है, श्रद्धा वह भ्रमरी है जो जीवन-कमल के गुण-सौरभ पर मुग्ध होकर उसके निकट पहुच जाती है।

श्रावक-एक श्रमणोपासक के रूप में जब नत-मस्तक होता है तो वह किसी पार्थिव शरीर के आगे नहीं झुकता, वह यदि झुकता है तो गुणों के सामने और वहां से अपने जीवन के लिए कुछ सत्प्रेरणा पाने के लिए। एक धर्म-गुरु में क्या-क्या गुण होने आवश्यक हैं ? इसका चित्रण इस प्रकार से किया गया है। हर सामायिक का साधक जो सामायिक के पाठों को जानता है, वह इस गुरु-गुण-महिमा के पाठ से भी अच्छी तरह परिचित है। वह पाठ इस प्रकार है।

"पंचिन्दिय संवरणो तह नवविह बंभचेर-गुत्तिधरो।
चउविह कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस्स गुणेहिं संजुत्तो।
पंच महव्वय-जुत्तो, पंच विहायार-पालण-समत्थो।
पंच समिओ तिगुत्तो, छत्तीस गुणो गुरु मज्झं।"

अर्थात् पांच इन्द्रियों को वश में करने वाला, नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालक और चार कषायों से मुक्त, इन अठारह गुणों से

जो युक्त है, अतिरिक्त इनके पांच महाव्रतों, पंच आचार तथा पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों से जो अलंकृत है, इस प्रकार जिस साधु में ये सब गुण रहते हैं वही मेरा गुरु है।

इस पाठ के विषय में किसी के भी मन में शंका उत्पन्न हो सकती है कि जितने भी साधु हैं क्या उनमें ये छत्तीस गुण उपलब्ध होते हैं? नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। हर जीवन छत्तीस गुणों का पुञ्ज नहीं हो सकता। सब साधक एक समान नहीं होते, उनमें न्यूनाधिकता तो रहती ही है, किन्तु यदि वे साधक इन गुणों पर आस्था रखते हैं और यथाशक्ति इनका पालन करने में सदैव अप्रमत्त भाव से रहते हैं, दोष की सम्भावना होने पर उसका शुद्धीकरण करने के लिए कभी संकोच नहीं करते, ऐसे साधक धीरे-धीरे इन सभी आचारों के पालन में परम प्रवीण हो जाते हैं, किन्तु जो धर्म-प्रचार के मोह में फंस कर इन गुणों की सर्वथा उपेक्षा कर रहे हैं, वे गुरु के आसन पर बैठने के योग्य कदापि नहीं हो सकते।

जैन-धर्म में श्रावक तथा श्राविका अपने गुरु के चरण-कमलों में प्रणाम करता हुआ उनके प्रति कितनी श्रद्धा व्यक्त करता है और वह त्याग की मूर्ति उसके नेत्रों के सामने किस रूप में अवस्थित रहती है, इसकी झांकी उसके वन्दना के स्वरों में इस प्रकार देखी जा सकती है। वह वन्दना-सूत्र इस प्रकार है—

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वन्दामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वन्दामि।

हे गुरुदेव! मैं (दोनों हाथ जोड़कर) दायीं ओर से बायीं ओर तीन बार आपकी प्रदक्षिणा करता हूं, आपको वन्दना करता हूं, सिर झुका कर नमस्कार करता हूं। आपको सत्कार एवं सम्मान देता हूं, क्योंकि आप कल्याणकारी हैं, मंगलमय हैं, देव-स्वरूप हैं और ज्ञान-वान् हैं। मैं मस्तक झुका कर आपको वन्दना करता हूं।

आप इस वन्दना-सूत्र के अन्तरंग में उतर कर देखेंगे कि यह प्रणति-पाठ धर्म-प्रचारक के लिए नहीं है, यह तो सर्व-विरति चारित्र

का पालन करने वाले त्यागी आत्म-साधक सन्त पुरुष के लिए कहा गया है। इस सूत्र से यह ध्वनि भी मिलती है कि शिष्य अपने गुरु की वन्दना करता हुआ उससे अपने कल्याण तथा मंगल की कामना भी करता है और उन्हें अपना धर्म-देव समझ कर उनसे मोह को नाश करने वाले ज्ञान की अभिलाषा भी रखता है। अपने गुरु को कल्याण तथा मंगलमय कहने का अभिप्राय वस्तुतः यही है कि "हे भगवन्! आप क्योंकि स्वयं कल्याणकारी तथा मंगलकारी हैं, इसलिए आप ही हमारा कल्याण तथा मंगल कर सकते हैं। मोक्ष-मार्ग का ज्ञान आप ही हमें देते हैं या दे सकते हैं।

अपने गुरु को अपने हृदय का सारा सत्कार-सम्मान भी वह जीवन के उच्चतम लक्ष्यों के लिए देता है न कि ऐहिक सुखों एवं स्वार्थों के लिए।

धर्म-प्रचारक की अपेक्षा गुरु का स्थान जीवन में बहुत ऊंचा रहता है। गुरु धर्म-प्रचारक भी हो सकता है, किन्तु हर धर्म-प्रचारक गुरु नहीं बन सकता। वैसे लोक-जीवन में ऐसा बहुत बार देखने में आता है कि जिसको जिससे कुछ प्रतिबोध मिला वह उसे ही गुरु मानने लग गया। जिसने दुःख या संकट में कभी कुछ सहारा दे दिया, वह उसे ही गुरु मान बैठा। जिससे कभी किसी को कुछ लाभ हो गया, वह उसका अनुग्रह मान कर उसके प्रति गुरु-श्रद्धा रखने लगा। सम्प्रदाय, कुल, जाति, वंश, प्रथा के कारण भी बहुत से गुरु समझे जाते हैं।

इन सबसे बलवान् है "पक्षपात"। जब मनुष्य में मोहनीय कर्म का उदय होता है तो वह गलत को भी ठीक मानने लगता है। उसके हृदय में जो धारणा बन जाती है उसको तो परमेश्वर भी बदल नहीं सकता। मैं और आप तो उसे कैसे बदल सकते हैं? एक बात और भी समझ लेनी चाहिये कि वैयक्तिक जीवन से सामाजिक जीवन बिल्कुल अलग होता है। कभी-कभी वैयक्तिक जीवन में भूल करके भी व्यक्ति उसको ठीक मान लेता है, किन्तु सामाजिक जीवन में उसे मानना कठिन हो जाता है, क्योंकि सामाजिक जीवन में उसे समूह के

साथ चलना पड़ता है।

जो लोग उसके प्रभाव का लोहा मानते हैं, उनके सामने उसके लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है। इसलिए कभी-कभी मनुष्य अपनी मानसिक दुर्वलता के कारण अन्दर से अपने लक्ष्य को गलत समझता हुआ भी बाहर से उसके साथ चिपका रहता है। दूसरे पक्ष के लोग जब उस पर आवाजें कसने लगते हैं तो उस पक्ष को छोड़ने की वजाय वह उसमें और भी ज्यादा पक्के होने का दुष्प्रयास करने लगता है। इस तरह एक देव धर्म तथा गुरु के नाम पर एक मजबूत विरोधी पार्टी खड़ी हो जाती है।

दुनिया के प्रत्येक सत्यानुरागी को यह स्मरण रखना चाहिये कि समर्थन मिलने से असत् कभी भी सत् नहीं हो जाता और विरोध से सत् कभी भी असत् नहीं बन सकता, किन्तु क्या सत्य है और क्या असत्य है? इसके निर्णय के लिए तो मध्यस्थ दृष्टि चाहिये, किन्तु यह सदैव स्मरण रखिये कि जन-समुदाय में यह दृष्टि प्रायः असम्भव ही होती है। अतः यदि कोई समाज का एक वर्ग किसी धर्म के प्रचारक को सन्त मानने का आग्रह करता रहे, तो आप उसे ऐसा कहने एवं मानने से रोक नहीं सकते, किन्तु जैसे सर्राफ सोने को कसौटी पर कस कर खरे-खोटे की पहचान कर लेता है, ठीक इसी तरह एक सम्यक्-ज्ञानी भी गुरु को लक्षणा की कसौटी पर कस कर परख लेता है कि क्या वह गुरु कहलाने के योग्य है या नहीं? क्योंकि जैन-धर्म में श्रमणोपासक अपने चार शरणों में "साहू शरणं पवज्जामि" कह कर अपने गुरु की शरण ग्रहण करता है।

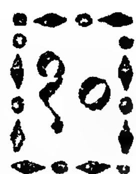
जिस तरह कोई व्यक्ति दुःख, संकट तथा जीवन के विकल क्षणों में आत्म-रक्षा के लिए कभी किसी बलवान् तथा महान् की शरण में जाता है और कभी सब दुखों से त्राण पाने के लिए वह जाता है भगवान् की शरण में। इसी तरह भवार्णव को पार करने के लिए वह साधु की शरण भी लेता है, इससे तो अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि गुरु भगवान तो नहीं, किन्तु भगवान के समान ही शरण्य समझा गया

है। यह तथ्य सूर्य की तरह सत्य है कि एक सच्चा गुरु ही मनुष्य को भगवान् को पाने का मार्ग बता सकता है, यदि वह जीवन में प्रकाश न भरे तो भगवान् को देखने वाली आंखें किसको मिल सकती हैं? किसी को नहीं।

जैन-धर्म में गुरु का सर्वोत्कृष्ट स्थान है, क्योंकि यदि गुरु कहीं धर्म तथा देव का गलत स्वरूप समझा दे तो उससे कोहेनूर हीरे जैसा अनमोल जीवन बरबाद हो सकता है। वह फिर इस भव-भ्रमण के बीहड़ वन में अनन्त काल तक धक्के खाता रहता है। मेरे ख्याल में मन्दिर की मौन मूर्ति की पूजा में इतनी सावधानी की जरूरत नहीं जितनी कि सतर्कता अपेक्षित है गुरु-पूजा में।

मूर्ति यदि किसी को कुछ देती नहीं तो विशेष हानि भी क्या करती है? वहां तो अपनी श्रद्धा तथा भावना का सारा चमत्कार रहता है। यदि पुजारी की अपनी दृष्टि स्वच्छ है तो वह वहां से सब कुछ अच्छा ही लेकर आता है, किन्तु गुरु जो जीवन-मन्दिर की सजीव मूर्ति है उसके सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नहीं है। वहां भक्त चाहे कितना भी विनम्र सरल, श्रद्धालु तथा विनीत क्यों न हो, यदि गुरु स्वच्छ आचारी नहीं तो फिर वह भक्त का लोक-परलोक सब कुछ ही बिगाड़ देता है। इसलिये जो जिस भूमिका पर है उसे वहीं तक समझें और जानें। कदाग्रह में आकर प्रचारक को साधु और साधु को कोरा प्रचारक मानने की भूल तथा दुस्साहस न करें, वस्तुतः इसी में आपका अपना तथा शासन का हित है, भला है।





साधुत्व-साधना के अलङ्करण वैराग्य और अप्रमाद



जीवन में मुनित्व की साधना निस्सन्देह कठिन है। पूर्ण वैराग्य श्रीर पूर्ण त्याग के पश्चात् ही मुनित्व का जीवन में उदय होता है। मुनित्व जीवन का एक उच्चतम भाव है। इस का किसी जाति तथा सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रात्म-ज्ञान होने पर इस धरती का कोई भी साधक मुनि बन सकता है। मुनि मुमुक्षु होता है, अपूर्ण से पूर्ण होने के लिए ही उसकी साधना होती है श्रात्म-विकास का चरम बिन्दु ही उसके जीवन की पूर्णता है। श्रात्म-दर्शन तथा परमात्म-दर्शन का शिखर भी यही है। मुनि वह आध्यात्मिक विहग है जो वैराग्य तथा अप्रमाद की पांखों से उड़ कर इस शिखर पर आसीन होता है।

मुनि का दूसरा नाम "साधु" भी है। जो स्व तथा पर के कल्याण के लिए साधना करे उसे साधु कहते हैं? साधु को भिक्षु महात्मा और संन्यासी के पावन नामों से भी अलंकृत किया गया है। भिक्षाशील होने से साधु को "भिक्षु" कहा जाता है। एक बात स्मरण रहे कि केवल भिक्षा मांगने से कोई भिक्षु नहीं बन सकता, क्योंकि भिक्षा तो भिखारी भी मांगता है, किन्तु भिक्षु श्रोर भिखारी में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। भिक्षु अपरिग्रही और श्रकिंचन है। वह संयम-निर्वाह के लिए याचना-वृत्ति अङ्गीकार करता है. भिक्षु मुमुक्षु होता है, मोक्ष ही उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। मोक्ष की उपलब्धि

साधना से होती है। साधना का माध्यम शरीर है, जैसे कि कहा भी है—"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।" इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर धर्माराधन का महत्तम साधन है। एक अकिञ्चन भिक्षु इसी भावना से प्रेरित होकर भिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

इसके विपरीत एक भिखारी के जीवन में इस भावना का अत्यन्त अभाव होता है। वह लोभ एवं तृष्णा में आसक्त होकर या जीवन की विवशताओं से विकल होकर केवल संग्रह तथा संचय के लिए ही भीख मांगता है, इसीलिए मैंने ऊपर स्पष्ट किया है कि केवल भिक्षा मांगने से व्यक्ति भिक्षु नहीं बन सकता, उसके पीछे सन्तोष का परम बल भी होना चाहिए। त्याग और फिर भिक्षा यही मुनि की "भिक्षाचरी" है जिसे बारह भेदी तपों में 'तप' के रूप में स्वीकार किया गया है। इस भिक्षाचरी को तप के रूप में अपनाने से ही वह भिक्षु कहा जाता है।

भिक्षु को **"महात्मा"** भी कहते हैं—जिस व्यक्ति की आत्मा महान् हो-वह महात्मा है, वस्तुतः आत्मा तो सबकी समान ही होती है, किन्तु जो साधक अपनी आत्मा की शक्ति का जितना विकास कर लेता है वह उतना ही महान् कहा जाता है, क्योंकि शरीर इन्द्रियों तथा मन की चपलता का निग्रह आत्मा की शक्ति से ही हो सकता है। जो साधक अपने आत्म-बल से अपने मन के विकारों पर जितनी विजय पाता है, वह लोक-धरातल पर उतना ही महान् समझा जाता है। विषयासक्त व्यक्तियों के लिए विषय - विजय बड़ी ही दुष्कर होती है। साधु यह सब कर सकने में जब सक्षम हो जाता है, तब उसे महात्मा कहा जाता है।

महात्मा का एक नाम **'संन्यासी'** भी है। जो आत्मलक्ष्यी महात्मा संसार को हेय समझ कर उसे बाह्य एवं अन्तरङ्ग से छोड़ देता है, उसे संन्यासी कहते हैं। सन्त योगी तथा ऋषि संन्यासी के ही अन्य नाम हैं। वे कैसे चरितार्थ होते हैं, इसे भी ज़रा समझ लेना चाहिए।

सत्य के उपासक को **'सन्त'** कहते हैं। संन्यासी का जीवन सत्य को पाने के लिए ही होता है। यदि सब कुछ छोड़कर वह न मिला तो

फिर "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट:" वाली उक्ति उस पर घटित होने में कोई कसर वाकी नहीं रह जाती।

आपको यह कदापि भूलना नहीं चाहिए कि सत्य की उपलब्धि "योग" के विना नहीं होती। जैन-धर्म के अनुसार मन, वचन और काया का संगोपन ही योग है। इससे चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है और साधक सत्य के सर्वथा निकट पहुंच जाता है। इन्द्रिय-विजय के विना जीवन में योग सिद्ध नहीं हो सकता है। इन्द्रिय-विजयी को 'ऋषि' कहते हैं। सत्य का दूसरा नाम 'ऋत' है, उस ऋत के साधक को ऋषि कहा जाता है।

मुनि को "श्रमण" ,'निर्ग्रन्थ" तथा "परिव्राजक" आदि नामों से भी विभूषित किया गया है। जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं को ही श्रमण-संज्ञा दी जाती है। अपने सम्यक् एवं सम्पूर्ण पुरुषार्थ से आत्म-स्वरूप की उपलब्धि की साधना करने वाला साधक श्रमण कहलाता है। बौद्ध धर्म निर्वाण-अवस्था में आत्मा का स्वरूप एवं अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, किन्तु वासना एवं तृष्णा का आत्यन्तिक क्षय स्वयं साधक के अपने ही पुरुषार्थ से होता है, वह ऐसा अवश्य मानता है। जैनों की तरह उसके पास भी कोई मुक्ति-दाता ईश्वर नहीं है। इसीलिए जैन और बौद्ध संस्कृति को श्रमण-संस्कृति के नाम से स्मरण किया गया है और दोनों धर्मों के साधुओं को श्रमण कहा गया है।

श्रमण का दूसरा नाम 'निर्ग्रन्थ' है। जो आत्म-साधक अपने अन्तर्मन की राग-द्वेषात्मक ग्रन्थियों को खोल देता है उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। वैसे तो इस धरती के किसी भी वीतराग साधक को हम निर्ग्रन्थ कह सकते हैं, किन्तु फिर भी श्रमण-संस्कृति के साधकों के लिए यह शब्द रूढ़ हो गया है।

'परिव्राजक' भी साधु का एक नाम है। जो सर्व-त्यागी होकर निस्संग-भाव से स्व एवं परहित की भावना से सदा विचरण करता है वह परिव्राजक है।

जैन ग्रन्थों में साधु का एक और नाम आया है वह है "अनगार",

फिर "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" वाली उक्ति उस पर घटित होने में कोई कसर वाकी नहीं रह जाती।

आपको यह कदापि भूलना नहीं चाहिए कि सत्य की उपलब्धि "योग" के विना नहीं होती। जैन-धर्म के अनुसार मन, वचन और काया का संगोपन ही योग है। इससे चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है और साधक सत्य के सर्वथा निकट पहुंच जाता है। इन्द्रिय-विजय के विना जीवन में योग सिद्ध नहीं हो सकता है। इन्द्रिय-विजयी को 'ऋद्धि' कहते हैं। सत्य का दूसरा नाम 'ऋत' है, उस ऋत के साधक को ऋषि कहा जाता है।

मुनि को "श्रमण", 'निर्ग्रन्थ" तथा "परिव्राजक" आदि नामों से भी विभूषित किया गया है। जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं को ही श्रमण-संज्ञा दी जाती है। अपने सम्यक् एवं सम्पूर्ण पुरुषार्थ से आत्म-स्वरूप की उपलब्धि की साधना करने वाला साधक श्रमण कहलाता है। बौद्ध धर्म निर्वाण-अवस्था में आत्मा का स्वरूप एवं अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, किन्तु वासना एवं तृष्णा का आत्यन्तिक क्षय स्वयं साधक के अपने ही पुरुषार्थ से होता है, वह ऐसा अवश्य मानता है। जैनों की तरह उसके पास भी कोई मुक्ति-दाता ईश्वर नहीं है। इसीलिए जैन और बौद्ध संस्कृति को श्रमण-संस्कृति के नाम से स्मरण किया गया है और दोनों धर्मों के साधुओं को श्रमण कहा गया है।

श्रमण का दूसरा नाम 'निर्ग्रन्थ' है। जो आत्म-साधक अपने अन्तर्मन की राग-द्वेषात्मक ग्रन्थियों को खोल देता है उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। वैसे तो इस धरती के किसी भी वीतराग साधक को हम निर्ग्रन्थ कह सकते हैं, किन्तु फिर भी श्रमण-संस्कृति के साधकों के लिए यह शब्द रूढ़ हो गया है।

'परिव्राजक' भी साधु का एक नाम है। जो सर्व-त्यागी होकर निस्संग-भाव से स्व एवं परहित की भावना से सदा विचरण करता है वह परिव्राजक है।

जैन ग्रन्थों में साधु का एक और नाम आया है वह है "अनगार",

तमेव शरणं गच्छ, सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिम्, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

—अ० १८ श्लो० ६२

Arjuna ! tha Lord dwells in the hearts of all beings who are mounted on the automation of this body causing them by his illusive power to revolve.

Seek refuge in Him also with all your beings, Arjuna ! through His grace you shall obtain Supreme peace and the eternal abode.

अर्जुन ! ईश्वर संसार के सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। वह कर्म-रूपी यन्त्र पर आरूढ़ प्राणियों को संसार में घुमा रहा है। तुम उस सर्वात्मा को शरण ग्रहण करो। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान (मोक्ष-स्थान) को प्राप्त करोगे।

"आत्मा ही परमात्मा है" जैन-धर्म का यह स्वर गीता के श्लोकों में स्पष्ट सुनाई दे रहा है। परमात्मा आत्मा के केन्द्र में ही मिलता है। उस केन्द्र में पहुंच कर ही जीव को शान्ति मिलती है और अन्त में इस जीवन के उपरान्त उसे शाश्वत-स्थान (मोक्ष) को उपलब्धि होती है।

साधु जैन-धर्म का हो चाहे सनातन धर्म का, या किसी और सम्प्रदाय का हो उसके जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति से बड़ा नहीं हो सकता, किन्तु वह साधु सच्चा होना चाहिए, दम्भी पाखण्डी तथा ढोंगी नहीं।

यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूं ताकि आप भली-भान्ति समझ सकें कि किसी भी बाह्य-लक्ष्यी साधक का कोई भी पावन उद्देश्य नहीं होता। जिसे अपने जीवन के उद्देश्य का ही ज्ञान नहीं उसे अपने कर्त्तव्य का भी कुछ ध्यान नहीं होता, जिसके जीवन का उद्देश्य क्षुद्र होता है उसका जीवन कभी महान् नहीं होता। कोई भी पूछ सकता है कि साधक-जीवन के क्षुद्र उद्देश्यों का स्वरूप क्या है? साधु तो

तमेव शरणं गच्छ, सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिम्, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

—अ० १८ श्लो० ६२

Arjuna ! the Lord dwells in the hearts of all beings who are mounted on the automation of this body causing them by his illusive power to revolve.

Seek refuge in Him also with all your beings, Arjuna ! through His grace you shall obtain Supreme peace and the eternal abode.

अर्जुन ! ईश्वर संसार के सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। वह कर्म-रूपी यन्त्र पर आरूढ़ प्राणियों को संसार में घुमा रहा है। तुम उस सर्वात्मा की शरण ग्रहण करो। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान (मोक्ष-स्थान) को प्राप्त करोगे।

"आत्मा ही परमात्मा है" जैन-धर्म का यह स्वर गीता के श्लोकों में स्पष्ट सुनाई दे रहा है। परमात्मा आत्मा के केन्द्र में ही मिलता है। उस केन्द्र में पहुंच कर ही जीव को शान्ति मिलती है और अन्त में इस जीवन के उपरान्त उसे शाश्वत-स्थान (मोक्ष) की उपलब्धि होती है।

साधु जैन-धर्म का हो चाहे सनातन धर्म का, या किसी और सम्प्रदाय का हो उसके जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति से बड़ा नहीं हो सकता, किन्तु वह साधु सच्चा होना चाहिए, दम्भी पाखण्डी तथा ढोंगी नहीं।

यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूं ताकि आप भली-भान्ति समझ सकें कि किसी भी बाह्य-लक्ष्यी साधक का कोई भी पावन उद्देश्य नहीं होता। जिसे अपने जीवन के उद्देश्य का ही ज्ञान नहीं उसे अपने कर्त्तव्य का भी कुछ ध्यान नहीं होता, जिसके जीवन का उद्देश्य क्षुद्र होता है उसका जीवन कभी महान् नहीं होता। कोई भी पूछ सकता है कि साधक-जीवन के क्षुद्र उद्देश्यों का स्वरूप क्या है? साधु तो

महान् ही होता है। उसमें भला क्षुद्रता का क्या काम ? किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, शास्त्र की दृष्टि बड़ी दीर्घ होती है। जीवन के प्रत्येक पक्ष पर वह दृष्टिपात करता है। मध्यस्थ दृष्टि से ही सत्य का ठीक-ठीक रूप दिखाई देता है। सत्य में पक्षपात नहीं होता। शास्त्र अपनी निष्पक्ष दृष्टि से जब समीक्षा के धरातल पर उतरता है तो वह प्रत्येक पक्ष के गुण-दोषों का चित्रण करने में तनिक भी संकोच नहीं करता।

साधु के सम्बन्ध में बोलते हुए उसने कहा कि—

संति एगेहिं भिक्खुहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥

कुछ एक साधुओं से गृहस्थों का व्रत-नियम रूप संयमाराधन श्रेष्ठ होता है, किन्तु जो सच्चे साधु हैं वे तो सब गृहस्थों से ऊंचे होते हैं।

शास्त्र का निर्णय स्पष्ट है कि विवेक-हीन और मर्यादा-रहित साधु की अपेक्षा विवेकशील और व्रतनिष्ठ गृहस्थ अच्छा है। जो बाह्य और अन्तरंग भाव से अपने गृहीत व्रतों का पालन करता है वही साधु सर्व-श्रेष्ठ होता है।

शास्त्रकारों ने वेष के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा है कि वेष का जीवन में विशेष कोई स्थान नहीं है। वह लोक-व्यवहार और लोक-विश्वास के प्रतीक के रूप में जीवन में आता है। वेष गृहस्थ और साधु के मध्य में विभेदक रेखा का काम करता है। यह दोनों के जीवन में पार्थक्य का सूचक मात्र है, किन्तु साधु का वेष पहन लेने मात्र से जीवन में साधुता नहीं आ जाती। साधुता का आधार वैराग्य, त्याग और विवेक है। धैर्य के साथ समभाव की सतत साधना करने के पश्चात् ही साधक कहीं साधुता के शिखर पर पहुंचता है। वेष शरीर का भूषण है और साधुत्व आत्मा का अलंकरण है। वेष द्रव्य दृष्टि से ही कुछ काम की चीज है, साधुता अन्तर्जगत की अनमोल निधि है। वेष पहन लेने से वह हाथ नहीं लगती है। आश्रवों को रोक कर, संवर में

तमेव शरणं गच्छ, सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिम्, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

—अ० १८ श्लो० ६२

Arjuna ! the Lord dwells in the hearts of all beings who are mounted on the automation of this body causing them by his illusive power to revolve.

Seek refuge in Him also with all your beings, Arjuna ! through His grace you shall obtain Supreme peace and the eternal abode.

अर्जुन ! ईश्वर संसार के सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। वह कर्म-रूपी यन्त्र पर आरूढ़ प्राणियों को संसार में घुमा रहा है। तुम उस सर्वात्मा की शरण ग्रहण करो। उसकी कृपा से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान (मोक्ष-स्थान) को प्राप्त करोगे।

"आत्मा ही परमात्मा है" जैन-धर्म का यह स्वर गीता के श्लोकों में स्पष्ट सुनाई दे रहा है। परमात्मा आत्मा के केन्द्र में ही मिलता है। उस केन्द्र में पहुंच कर ही जीव को शान्ति मिलती है और अन्त में इस जीवन के उपरान्त उसे शाश्वत-स्थान (मोक्ष) को उपलब्धि होती है।

साधु जैन-धर्म का हो चाहे सनातन धर्म का, या किसी और सम्प्रदाय का हो उसके जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति से बड़ा नहीं हो सकता, किन्तु वह साधु सच्चा होना चाहिए, दम्भी पाखण्डी तथा ढोंगी नहीं।

यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूं ताकि आप भली-भान्ति समझ सकें कि किसी भी बाह्य-लक्ष्यी साधक का कोई भी पावन उद्देश्य नहीं होता। जिसे अपने जीवन के उद्देश्य का ही ज्ञान नहीं उसे अपने कर्त्तव्य का भी कुछ ध्यान नहीं होता, जिसके जीवन का उद्देश्य क्षुद्र होता है उसका जीवन कभी महान् नहीं होता। कोई भी पूछ सकता है कि साधक-जीवन के क्षुद्र उद्देश्यों का स्वरूप क्या है? साधु तो

महान् ही होता है। उसमें भला क्षुद्रता का क्या काम ? किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, शास्त्र की दृष्टि बड़ी दीर्घ होती है। जीवन के प्रत्येक पक्ष पर वह दृष्टिपात करता है। मध्यस्थ दृष्टि से ही सत्य का ठीक-ठीक रूप दिखाई देता है। सत्य में पक्षपात नहीं होता। शास्त्र अपनी निष्पक्ष दृष्टि से जब समीक्षा के धरातल पर उतरता है तो वह प्रत्येक पक्ष के गुण-दोषों का चित्रण करने में तनिक भी संकोच नहीं करता।

साधु के सम्बन्ध में बोलते हुए उसने कहा कि—

संति एगेहिं भिक्खुहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥

कुछ एक साधुओं से गृहस्थों का व्रत-नियम रूप संयमाराधन श्रेष्ठ होता है, किन्तु जो सच्चे साधु हैं वे तो सब गृहस्थों से ऊंचे होते हैं।

शास्त्र का निर्णय स्पष्ट है कि विवेक-हीन और मर्यादा-रहित साधु की अपेक्षा विवेकशील और व्रतनिष्ठ गृहस्थ अच्छा है। जो बाह्य और अन्तरंग भाव से अपने गृहीत व्रतों का पालन करता है वही साधु सर्व-श्रेष्ठ होता है।

शास्त्रकारों ने वेष के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा है कि वेष का जीवन में विशेष कोई स्थान नहीं है। वह लोक-व्यवहार और लोक-विश्वास के प्रतीक के रूप में जीवन में आता है। वेष गृहस्थ और साधु के मध्य में विभेदक रेखा का काम करता है। यह दोनों के जीवन में पार्थक्य का सूचक मात्र है, किन्तु साधु का वेष पहन लेने मात्र से जीवन में साधुता नहीं आ जाती। साधुता का आधार वैराग्य, त्याग और विवेक है। धैर्य के साथ समभाव की सतत साधना करने के पश्चात् ही साधक कहीं साधुता के शिखर पर पहुंचता है। वेष शरीर का भूषण है और साधुत्व आत्मा का अलंकरण है। वेष द्रव्य दृष्टि से ही कुछ काम की चीज है, साधुता अन्तर्जगत की अनमोल निधि है। वेष पहन लेने से वह हाथ नहीं लगती है। आश्रवों को रोक कर, संवर में

स्थित होकर और कर्मों की निर्जरा के उपरान्त अपने आत्म-केन्द्र में स्थित होने के पश्चात् ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। साधु एवं वेष का उस केन्द्र से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल वह इसलिए आवश्यक है कि साधक अपने को निवृत्ति-मार्ग का पथिक समझ कर निरन्तर साधना में लीन रह कर उस अक्षय सुख के केन्द्र की ओर अग्रसर रहे और अपने जीवन के अनुसार अपने उद्देश्य की ओर भी प्रगतिशील बना रहे और समाज के ऋण से उऋण होने के लिए उसके प्रति अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करता रहे।

वैराग्य और वेष दोनों मिल कर जीवन की शोभा बनते हैं। जिसका वैराग्य अन्दर से खोखला हो चुका है उसका वेष दम्भ और ढोंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

उत्तराध्ययन-सूत्र ने आचार-हीन वेष पर जितना उग्र प्रहार किया है शायद ही ऐसा किसी ने किया हो। उत्तराध्ययन-सूत्र के पञ्चम अध्ययन की इक्कीसवीं गाथा में भगवान् महावीर ने कहा है—

चीराजिणं नगिगिणं, जड़ी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं॥

चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, गुदड़ी तथा मुण्डन व लोच आदि बाहर के नाना-विध वेष आचार-हीन साधक की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते।

दुख और दुर्गति से कौन बच सकता है? और नरक आदि गतियों की यातनाओं से कौन नहीं बच सकता? इस प्रश्न का [illegible] शास्त्र ने इस प्रकार से दिया है?

पिंडोलए व दुस्सीलो, नरगाओ न मुच्चइ।
भिक्खाए वा गिहत्थे [illegible] कमई दिवं॥

केवल वेष और जड़ क्रिया [illegible] कोई भी **भिक्षु या साधु** नरक से नहीं बच [illegible] हो चाहे

सच्चे हृदय से अपने व्रतों का पालन करता है, वही दिव्य गति को प्राप्त करता है।

शास्त्र का प्रत्येक कथन साधु के बाह्य वेष और जड़ क्रिया के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। साधु प्रायः गृहस्थ को हीन भावना से देखता है, किन्तु यदि वह स्वयं पथ-भ्रष्ट हो रहा है तो वह एक सुव्रती गृहस्थ से कदापि ऊंचा नहीं हो सकता।

वेष और दम्भ लोकेषणा का अर्जन कर सकते हैं, किन्तु सद्गति का वरण नहीं कर सकते। केवल सुव्रती साधक ही सद्गति प्राप्त करता है। शास्त्र का यह निर्णय कितना निष्पक्ष है। इस निर्णय के आगे वेष और जड़ क्रियाओं के अहंकार में फंसे साधकों का मस्तक यदि श्रद्धा से नत हो जाये तो वे अपने अन्तरङ्ग को सम्यक् दर्शन के विमल दर्पण में निहार कर भीतर के कषाय-कालुष्य को धो सकते हैं और अपने हृदय में सच्चे साधुत्व की स्थापना करने में सफल हो सकते हैं। संघ और समाज के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है? इसे सच्चा साधु ही समझ सकता है, दूसरा नहीं। संसार में गुरु बनना जितना सरल है उतना साधु बनना सुगम नहीं। संसार का वेष उतारते ही व्यक्ति गुरु तो बन जाता है, किन्तु साधु तो वह जीवन के अन्तिम क्षणों में भी शायद बड़ी कठिनाई से ही बन पाता हो। किसी भी सम्प्रदाय की परम्परा व्यक्ति को गुरु मान लेती है, किन्तु साधुत्व जीवन का वह शिखर है जो जीवन की लम्बी साधना के पश्चात् ही उपलब्ध होता है।

प्रायः साधक साधुता के मार्ग पर आते ही अपने को साधु समझने लगता है। यह जीवन की एक बहुत बड़ी भूल है, यह भूल उसे जीवन भर भी साधु बनने नहीं देती। द्रव्य-साधुत्व वेष और व्रतों की स्वीकृति मात्र में सीमित रहता है, किन्तु भाव-साधुत्व मन के विशुद्ध भाव और चारित्र के सम्यक् परिपालन में निहित होता है।

साधक का लक्ष्य अन्तरङ्ग में है, बाहर में नहीं। साधना को साध्य नहीं समझ लेना चाहिए, मार्ग को मंजिल नहीं मान लेना चाहिए। जैसे सोपान को शिखर समझ लेना एक भूल है वैसे ही

स्थित होकर और कर्मों की निर्जरा के उपरान्त अपने आत्म-केन्द्र में स्थित होने के पश्चात् ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। साधु एवं वेष का उस केन्द्र से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल वह इसलिए आवश्यक है कि साधक अपने को निवृत्ति-मार्ग का पथिक समझ कर निरन्तर साधना में लीन रह कर उस अक्षय सुख के केन्द्र की ओर अग्रसर रहे और अपने जीवन के अनुसार अपने उद्देश्य की ओर भी प्रगतिशील बना रहे और समाज के ऋण से उऋण होने के लिए उसके प्रति अपने कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन करता रहे।

वैराग्य और वेष दोनों मिल कर जीवन की शोभा बनते हैं। जिसका वैराग्य अन्दर से खोखला हो चुका है उसका वेष दम्भ और ढोंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

उत्तराध्ययन-सूत्र ने आचार-हीन वेष पर जितना उग्र प्रहार किया है शायद ही ऐसा किसी ने किया हो। उत्तराध्ययन-सूत्र के पञ्चम अध्ययन की इक्कीसवीं गाथा में भगवान् महावीर ने कहा है—

चीराजिणं नगिणिणं, जड़ी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं॥

चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, गुदड़ी तथा मुण्डन व लोच आदि बाहर के नाना-विध वेष आचार-हीन साधक की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते।

दुख और दुर्गति से कौन बच सकता है? और नरक आदि गतियों की यातनाओं से कौन नहीं बच सकता? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र ने इस प्रकार से दिया है?

पिंडोलए व दुस्सीलो, नरगाओ न मुच्चइ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कमई दिवं॥

केवल वेष और जड़ क्रियाओं के बल पर कोई भी चरित्र-हीन भिक्षु या साधु नरक से नहीं बच सकता। भिक्षु हो चाहे गृहस्थ जो

सच्चे हृदय से अपने व्रतों का पालन करता है, वही दिव्य गति को प्राप्त करता है।

शास्त्र का प्रत्येक कथन साधु के बाह्य वेष और जड़ क्रिया के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। साधु प्रायः गृहस्थ को हीन भावना से देखता है, किन्तु यदि वह स्वयं पथ-भ्रष्ट हो रहा है तो वह एक सुव्रती गृहस्थ से कदापि ऊंचा नहीं हो सकता।

वेष और दम्भ लोकैषणा का अर्जन कर सकते हैं, किन्तु सद्गति का वरण नहीं कर सकते। केवल सुव्रती साधक ही सद्गति प्राप्त करता है। शास्त्र का यह निर्णय कितना निष्पक्ष है। इस निर्णय के आगे वेष और जड़ क्रियाओं के अहंकार में फंसे साधकों का मस्तक यदि श्रद्धा से नत हो जाये तो वे अपने अन्तरङ्ग को सम्यक् दर्शन के विमल दर्पण में निहार कर भीतर के कषाय-कालुष्य को धो सकते हैं और अपने हृदय में सच्चे साधुत्व की स्थापना करने में सफल हो सकते हैं। स्वयं और समाज के प्रति मेरा क्या कर्तव्य है? इसे सच्चा साधु ही समझ सकता है, दूसरा नहीं। संसार में गुरु बनना जितना सरल है उतना साधु बनना सुगम नहीं। संसार का वेष उतारते ही व्यक्ति गुरु तो बन जाता है, किन्तु साधु तो वह जीवन के अन्तिम क्षणों में भी शायद बड़ी कठिनाई से ही बन पाता हो। किसी भी सम्प्रदाय की परम्परा व्यक्ति को गुरु मान लेती है, किन्तु साधुत्व जीवन का वह शिखर है जो जीवन की लम्बी साधना के पश्चात् ही उपलब्ध होता है।

प्रायः साधक साधुता के मार्ग पर आते ही अपने को साधु समझने लगता है। यह जीवन की एक बहुत बड़ी भूल है, यह भूल उसे जीवन भर भी साधु बनने नहीं देती। द्रव्य-साधुत्व वेष और व्रतों की स्वीकृति मात्र में सीमित रहता है किन्तु भाव-साधुत्व मन के विशुद्ध भाव और चारित्र के सम्यक् परिपालन में निहित होता है।

साधक का लक्ष्य अन्तरङ्ग में है, बाहर में नहीं। साधन को साध्य नहीं समझ लेना चाहिए, मार्ग को मंजिल नहीं समझ लेना चाहिए। जैसे सोपान को शिखर समझ लेना एक भूल है वैसे ही

[मनोहर चित्रों के मनोहर चित्र / [illegible]]

साधक के लिए अपने को एकदम साधु समझ लेना एक गलती है। मैं जीवन के बाह्य एवं अन्तरङ्ग दोनों पक्षों को अपेक्षणीय मानता हूं। व्यवहार और निश्चय दोनों ही ग्राह्य हैं। व्यवहार को ही सब कुछ समझ लेने से व्यक्ति निश्चय तक नहीं पहुंच सकता और एकदम निश्चय रख लेने से निश्चय की उपलब्धि भी नहीं हो पाती। वह साधक न इधर का रहता है और न उधर का।

जीवन में द्रव्य और भाव दोनों की ही उपयोगिता है। वेष और बाह्य आचार की भी अपनी एक विशिष्टता अवश्य है, किन्तु उसके पीछे दृष्टि की स्पष्टता और मन की सरलता नितान्त अपेक्षित है। इसके बिना तो बाहर सब कुछ कोरा आडम्बर ही बन कर रह जाता है।

एक साधु से साधु-जीवन के सम्बन्ध में मेरी कुछ बातचीत चल पड़ी थी। मैंने चर्चा में कहा—'साधु अपने को मुनि, महात्मा, योगी तथा श्रमण आदि न समझ कर केवल एक आत्मा का साधक ही समझे तो वह अपनी सधना में अधिक सजग रह सकता है। उस साधना के पीछे लगन और धैर्य का जितना बल होगा वह उतनी ही जल्दी अपने लक्ष्य के निकट पहुंचने में सफल होगा।'

उत्तर में वह बोला—"यह कैसे सम्भव हो सकता है। साधु में सदैव अप्रमत्तता कैसे रह सकती है? साधु का तो छठा गुण - स्थान होता है। जिसे 'प्रमत्त संयत-गुणस्थान' कहते हैं। जब साधु का स्थान ही प्रमाद का है तो वह अप्रमत्त कैसे हो सकता है? उसके जीवन में विषय, कषाय, निद्रा विकथा तथा मद आदि दोष तो रहेंगे ही।"

उस सन्त का उत्तर सुनकर मुझे हंसी भी आई और दुख भी हुआ। अपने आप को गम्भीर बनाते हुए मैंने कहा—"क्षमा करना मुनि जी! जैन-दर्शन के सम्बन्ध में आपका चिन्तन कुछ सम्यक् नहीं है। आपको स्मरण रखना चाहिये कि छठे गुण-स्थान में तो जीव प्रमाद अवस्था में केवल अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। अन्तर्मुहूर्त से अधिक

काल तक यदि प्रमाद-युक्त अवस्था में रह जाये तो वह छठे गुण-स्थान से नीचे उतरने लगता है और यदि अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक अप्रमादावस्था में रह जाये तो सातवें गुण-स्थान में चला जाता है। यदि साधु आयु भर प्रमाद में पड़ा रहेगा तो उसका विकास कैसे होगा ? साधक साधना के क्षणों में तो अप्रमत्त ही होता है, तभी वह आगे बढ़ पाता है।

उस साधु को मेरे शब्दों से कितना सन्तोष हुआ यह मैं नहीं कह सकता, किन्तु मेरा अपना विश्वास है कि केवल वेष और जड़ क्रिया नहीं, बल्कि वैराग्य और अप्रमाद ही साधुत्व साधना के सच्चे अलंकरण हैं।





साधक जीवन का नागपाश लोकैषणा

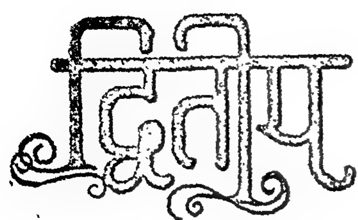


समाज में केवल साधकों की संख्या-वृद्धि ही समाज के कल्याण और मंगल की शुभ सूचना नहीं होती, बल्कि शुभ लक्षणों का उदय तो समाज में उस समय होता है जब साधक सत्य को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बनाकर साधना-पथ पर सच्चे हृदय से अग्रसर होता है। शास्त्र कहता है कि सत्य स्वयं भगवान है, मैं उसका अर्थ यह समझता हूं कि जो साधक अपने आचार द्वारा सत्य की साधना करता है वह एक दिन भगवान् बन जाता है।

किन्तु विचारणीय बात यह है कि जो साधक साधारण लोगों के बीच रहकर अपने को महान् नहीं बना सकता, वह भला भगवान् कैसे बन जायेगा ? नितान्त असम्भव है यह !

महान् किसे कहते हैं ? अब इसे भी दो शब्दों में समझ लेना चाहिये। साधारण मानव प्रलोभनों से आकर्षित होकर सत्य से विमुख हो जाता है, किन्तु महान् व्यक्ति प्रलोभनों पर विजय पाकर सत्य के अभिमुख होता है। यदि मैं संक्षेप में कहूं तो कह सकता हूं कि सत्य-लक्षी साधक ही वस्तुतः सजीव साधक है। सत्य ही साधना का जीवन है। यदि जीवन से सत्य निकल जाए तो फिर साधक के जीवन में बाह्याचार का कलेवर ही शेष रह जाता है।

बाह्याचार साधन है, साध्य नहीं। जैन-धर्म में आत्मा ही आत्मा का साध्य है।



संयम-साधना की गहराइयां

(८५-२०६)

मुनित्व आत्मा की एक विशुद्ध परिणति है, उसकी साधना इस धरती पर कोई भी साधक कहीं भी कर सकता है। सम्प्रदाय और वेश न उसमें साधक होते हैं और न बाधक ही बनते हैं। केवल अन्तरंग से आत्मा जागृत होनी चाहिये। जो कषाय की शय्या पर सोया हुआ आत्म-तत्त्व से दूर वैभाविक जगत में विचरता है उस मुनि का श्वेताम्बरत्व भी निष्फल है और दिगम्बरत्व भी बेकार है।

आत्मा क्या है? वैसे दार्शनिकों ने आत्मा को समझाने के लिए अनेक प्रकार के सूक्त कहे हैं। वेदान्त की दृष्टि में "आत्मा-ब्रह्म स्वरूप" है। सांख्य और योग-दर्शन में आत्मा की संज्ञा 'पुरुष' है और वह ज्ञानमय चैतन्य स्वरूप तथा कैवल्य की उपलब्धि के योग्य एक परम शक्ति है, वह अविनाशी एवं शाश्वत तत्त्व है। गीता की दृष्टि में भी आत्मा अजर-अमर है, शरीर के नष्ट होने पर भी वह कभी नष्ट नहीं होता, उसे शस्त्र काट नहीं सकता, पवन सुखा नहीं सकता, पानी गला नहीं सकता और अग्नि उसे जला नहीं सकती। वह अच्छेद्य, अक्लेद्य, अभेद्य तथा अदाह्य है।

जैन दर्शन ने कहा जो ज्ञान एवं दर्शन के उपयोग से युक्त है वही जीव है—आत्मा है। मैं जहां तक समझता हूं ये सभी परिभाषाएं जन-साधारण के लिए सुबोध एवं सुगम नहीं हैं।

आत्मा के ये सब लक्षण काफी जटिल एवं क्लिष्ट हैं। जन-साधारण की साधारण-मति को वहां प्रवेश पाने के लिए कोई अवकाश नहीं। आत्मा क्या है? यह प्रश्न उनके सामने सदैव खड़ा ही रहता है। प्रस्तुत लेख में मेरा प्रमुख विषय आत्मा नहीं है, बल्कि सजीव साधक की सत्य-साधना के संदर्भ में आत्मा का सरल, सुबोध एवं सुगम स्वरूप उपस्थित करना है। ऐसा स्वरूप जो साधक की अनुभूति में सरलता से उतर सके और साधना के क्षणों में साधक को सम्यक् रूपेण ज्ञात हो सके कि उसकी साधना ठीक आत्मा को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ रही है।

मेरी अपनी व्याख्या आत्मा के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार से है—

"जो ज्ञान द्वारा सत्य में प्रतिष्ठित होकर जीवन में स्वतन्त्र आनन्द के रूप में प्रकट हो वही आत्मा है।"

मैं यह बात दावे से कहता हूं कि बाह्याचारों की मृग-मरीचिका में भटकने वाले किसी भी जड़ और निर्जीव साधक को अपने अन्तरङ्ग जीवन में स्वतन्त्र एवं परम आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। जो साधक लोकैषणा से ग्रस्त है उसे वस्तुतः अपने अभीष्ट की उपलब्धि

के क्षणों में केवल क्षणिक आत्म-सन्तोष ही प्राप्त होता है, आनन्द नहीं मिलता। जब अभिलषित की प्राप्ति नहीं होती तब हृदय में निराशा एवं खेद उत्पन्न होता है। जैन-धर्म की दृष्टि में यह चित्त की राग-द्वेषात्मक दशा है। चित्त के इस वैषम्य में जीवन में स्वतन्त्र आनन्द को उभरने का कहीं भी अवसर नहीं मिलता। जब साधक को सत्ता, प्रभुता तथा अधिकार-लिप्सा का व्यामोह सताने लगता है तो वह सत्य के धरातल से गिर कर ईर्ष्या, द्वेष एवं निन्दा के रसातल में पहुंच जाता है। ऐसा साधक क्रिया-काण्ड का ढोल और अधिक जोर से बजाने लगता है, ताकि लोग उसे संयम की साक्षात् मूर्ति समझने लगें और समय आने पर वह लोक-मानस की भावुकता का लाभ उठा सके। ऐसे साधकों का बाह्याचार केवल दम्भ एवं प्रदर्शन मात्र ही होता है। ऐसे निर्जीव साधकों के अन्तरङ्ग आचार में बस, ढोल की तरह पोल ही पोल रहती है। पोल का कोई मोल नहीं होता।

जहां बाह्याचार और सत्य का समन्वय है वहीं आचार की सच्ची सुषमा है। ऐसा साधक बाहर की थोड़ी सी क्रिया करके भी आत्मा के आनन्द-द्वार पर पहुंच जाता है, किन्तु मिथ्याचार की भग्न नौका पर बैठ कर आज तक कोई भी साधक संसार-समुद्र से पार नहीं उतर सका, मिथ्याचारिता से न अपना उद्धार होता है और न दुनिया का कल्याण हो सकता है, किन्तु ऐसे साधकों के आचार-वैषम्य को देख कर लोगों के हृदय में धर्म-गुरुओं के प्रति अश्रद्धा अवश्य उत्पन्न हो जाती है। शायद धर्म के बड़े-बड़े उपदेश जन-मानस में इतनी श्रद्धा न जगा सकें जितनी कि व्यक्ति का मिथ्याचार अश्रद्धा पैदा कर देता है।

बाह्याचार केवल लोक-रंजन व मनोरंजन मात्र नहीं है। यह तो भव-दुःख-भंजन का एक अमोघ साधन है। जो इस सत्य को समझ लेता है वही साधक आत्म-बाग के नन्दन-कानन में विहार करता है।

यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि आत्म-ज्ञान सत्य-परक है। जहां आत्मज्ञान होगा वहां सत्य नियमतया रहेगा और जिस आचार में सत्य अन्वित रहेगा वह आचार साधक को अभ्युदय की ओर ले जाता है और एक दिन उसे भव-बन्धन से मुक्त कर देता है।

जिस आत्म ज्ञानी की दृष्टि अन्तरंग में स्थित है, वह तृष्णा-मुक्ति तो क्या देहासक्ति से भी परे निकल जाता है। उसे बाहर का कुछ भान नहीं रहता। कुछ भान रहे भी तो आसक्ति तो बिल्कुल नहीं रहती। ठीक इसी तरह जो साधक बाह्य-स्थित है उसे अन्तर में कुछ नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि वह निर्जीव साधक आत्म-ज्ञान, आत्म-सत्य तथा आत्म - सुख से सर्वथा वंचित रहता है। जिसे अन्तर में सुख नहीं मिलता वह उस सुख के लिए बाहर भटकने लगता है। यह भटकना साधक को असत् की ओर आकर्षित करती है और फिर जिसका मोह प्रबल हो वह तो सहज में ही असत् की ओर आकर्षित हो जाता है।

यह मोहाकर्षण व्यक्ति के आचार को मिथ्या बना देता है। मिथ्याचार के साथ छल-कपट का नित्य सम्बन्ध रहता है। जिस साधक के अन्तरंग में माया का शासन हो जाये वह भला सत्य के साम्राज्य में प्रवेश कैसे कर सकता है? कपट आत्म-वञ्चना है। आत्म - वंचक साधक को आत्मा की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती, यह शाश्वत सत्य है। इस विषय पर ज्ञान-जगत् में दो मत नहीं हो सकते।

जैन धर्म की दृष्टि यह है कि ज्ञान में चारित्र की भजना है, अर्थात् चारित्र का सद्भाव होता भी है और नहीं भी, किन्तु जहां चारित्र है वहां ज्ञान अवश्य रहता ही है। आत्म-ज्ञान की भी यही स्थिति है, जो सिर्फ ज्ञानी है वह कोरा बाह्याचारी हो सकता है, किन्तु जो आत्म-ज्ञानी है उसका बाह्याचार उसके जीवन की सच्ची मर्यादा

है—बन्धन है। जिसकी परिधि में रह कर वह सत्य की साधना करता है।

समाज में साधक भी कोई कम नहीं हैं। काफी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है, किन्तु समाज में वैर-विरोध निन्दा कलह तथा ईर्ष्या की काली छाया जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ रही है। यह त्रुटि साधक की छद्मस्थता की नहीं, बल्कि स्वयं को उच्च तथा अन्य को तुच्छ देखने की कलुषित वृत्ति की प्रतिछाया है। साधक की यह अविद्या उसे लोकैषणा के नागपाश में फंसा कर उसकी साधना को निर्जीव बना देती है। साधक यदि इस निर्जीव साधना से बचे तो वह अपना तथा शासन का कल्याण अधिक कर सकता है।





भारतीय दर्शन और जैन दर्शन में परमात्मा



जैन-धर्म एक कर्मवादी धर्म है। जैन-धर्म में भगवान को अवश्य एक परम-शक्ति माना गया है, किन्तु उसने इसे आत्मा से अलग नहीं माना। आत्मा के ही पूर्ण विशुद्ध रूप को उसने परमात्मा के रूप में स्वीकार किया है। 'परमात्मा' शब्द से यदि 'आत्मा' शब्द को अलग कर दिया जाये तो बाकी 'परम' इस विशेषण का कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता। आत्मा के साथ ही 'परम' सार्थक होता है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा परमोत्कर्ष पर पहुंच कर जिस अवस्था को धारण करता है उसे ही परमात्मा कहा जाता है, 'परम' शब्द इसी तथ्य का द्योतक है कि जो दोष या अपूर्णता एक साधारण आत्मा में रहती है, परमात्मा उन सब दोषों से मुक्त होता है। दोष-जन्य अपूर्णता या अपूर्णता-जन्य दोष उसमें नहीं रहते। परमात्मा में क्या-क्या गुण तथा विशिष्टता होती है और क्या-क्या दोष उसमें नहीं होते, यह जानने के लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि एक साधारण आत्मा में क्या-क्या दोष रहते हैं।

कोई भी विचारक व्यक्ति यह कह सकता है कि आत्मा और दोषों का भला सम्बन्ध ही क्या है? आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध और निर्लेप है, वह तो सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप है। भला उसमें दोष कहां? जैन-धर्म स्याद्वादी दृष्टिकोण रखता है, वह एक ही वस्तु में कभी

एक धर्म स्वीकार करता है तो कभी दूसरी अपेक्षा से उसी धर्म का अनस्तित्व मान लेता है। दोष-चर्चा से पहले आत्मा के सम्बन्ध में कुछ समझना आवश्यक होगा।

जैन-दर्शन की तरह अन्य कई दर्शनों ने आत्मा की भी सत्ता स्वीकार की है। केवल एक चार्वाक् दर्शन ही है जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शन भी एक प्रकार से अनात्मवादी ही है, उसने अपने क्षणिकवाद के कुठार से आत्मा के शाश्वत स्वरूप का मूलोच्छेदन ही कर दिया है।

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन ने बारह प्रमेयों में आत्मा को भी स्वीकार किया है, किन्तु चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं माना। उसकी दृष्टि से चेतनता आत्मा का निज गुण नहीं है, वह एक आगन्तुक गुण है जो बाह्य विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। नैयायिक आत्मा को ही कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता मानते हैं, सुख-दुख की अनुभूति का आश्रय आत्मा ही है। जन्म-मरण की उपाधि भी आत्मा के साथ है। आत्मा जब प्रकृति के सम्पर्क से अलग हो जाता है तब आत्मा में चैतन्य लुप्त हो जाता है, अपवर्ग अवस्था में आत्मा चैतन्य शून्य हो जाता है, किन्तु वह उसे परमात्मा नहीं कहता। ईश्वर इस से अलग है।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन भी नैयायिकों की तरह आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। वह इसे नित्य और शरीर इन्द्रियों और मन से पृथक् मानता है, किन्तु नैयायिकों से इसकी मान्यता का वैशिष्ट्य इतना ही है कि वह चैतन्य को आत्मा का धर्म स्वीकार करता है। नौ द्रव्यों में इसने आत्मा को आठवाँ द्रव्य माना है। वैशेषिकों के मत में अदृष्ट का अभाव ही आत्मा की मुक्ति है, क्योंकि आत्मा की

अदृष्ट कर्मों के अनुसार ही शरीर के साथ सम्बन्ध निर्मित होता है। अदृष्ट जब समाप्त होता है तो कर्म-चक्र अपने आप रुक जाता है। उस समय आत्मा का शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है, दुःख-सुख की परम्परा नष्ट हो जाती है, यही वैशेषिक दर्शन में आत्मा की मुक्ति है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शन ने मूलतः प्रधान प्रकृति तथा पुरुष के रूप में दो ही तत्त्व माने हैं। प्रकृति के अवान्तर भेदों के साथ सांख्य में तत्त्वों की संख्या २५ हो जाती है। आत्मा को पुरुष संज्ञा दी गई है। सांख्य दर्शन का पुरुष सर्वथा असंग तथा निर्लेप रहता है। वह केवल द्रष्टा तथा भोक्ता मात्र है। वह सदा निर्विकार रहता है। वह कूटस्थ नित्य है। चैतन्य उसका स्वभाव है। वह चैतन्यमय तो है, किन्तु आनन्दमय नहीं, उसके खयाल से उसमें आनन्द प्रकृति-सम्पर्क से उत्पन्न होता है। पुरुष प्रकृति से सर्वथा पृथक् है, इसलिये उसमें सुख-दुख का कोई भी विकार नहीं होता है। वह केवल साक्षी मात्र है और सदा उदासीन रहता है। उदासीन पुरुष दुख-सुख से सदैव अस्पृष्ट रहता है।

सांख्य-दर्शन का आध्यात्मिक विज्ञान यथार्थ न होता हुआ भी बड़ा ही मनोरंजक है। सांख्य के २५ तत्त्वों में महत् का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। महत् का दूसरा नाम बुद्धि है। वह प्रकृति का विकार होने से जड़ है, किन्तु पुरुष की छाया पड़ने से वह सचेतन होकर सक्रिय हो जाती है। उसका परिणमन अहंकार में होता है। उस अहं-कार की छाया उलट कर पुरुष पर पड़ती है, जिससे वह अपने को कर्ता समझने लगता है। यही पुरुष का भ्रम या अज्ञान है। भेद-विज्ञान से विवेक और विवेक से भेद-विज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेक की स्थिति में पुरुष अपने को प्रकृति के विकारों से अलग समझने लगता है, यही सांख्य की मुक्ति और कैवल्य है। किन्तु सांख्य दर्शन इस अवस्था में भी पुरुष को पुरुष ही मानता है, उसे परमात्मा नहीं कहता। वह किसी भी परमात्मा या ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। सांख्य एक दम निरीश्वरवादी दर्शन है।

योग-दर्शन

योग-दर्शन सांख्य के बहुत निकट है। सांख्य के २५ तत्वों पर उसकी पूरी आस्था है, किन्तु वह ईश्वरवादी है। पुरुष में वह सर्वज्ञ होने की शक्ति मानता है, किन्तु इसके लिये ईश्वर का ध्यान सर्वोत्तम साधन है। वह मुक्त पुरुष को सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवश्य मानता है, किन्तु उसे परमात्मा कहने के लिए तैयार नहीं है। योग को दर्शन कहने की अपेक्षा आध्यात्मिक-विज्ञान कहना अधिक उपयुक्त है। पतञ्जलि का अपना कोई विशेष दर्शन नहीं है। इसने तत्व के क्षेत्र में कपिल का अनुकरण किया है। सांख्य और योग दोनों ही पुरुष और प्रकृति के संयोग को ही सृष्टि का मूल कारण मानते हैं। सांख्य एक निर्भीक दर्शन है, उसने अपने दर्शन के प्रबल विश्वास पर लोक-मत की परवाह न करते हुए ईश्वर के सम्बन्ध में अपनी धारणा को नितान्त स्पष्ट कर दिया है।

किन्तु पतञ्जलि ने नास्तिक कहलाने के भय से और ईश्वरवादी नैयायिकों और वैशेषिकों के तेज प्रहारों से बचने के लिये ईश्वरवाद का कवच धारण कर लिया है। हालांकि उनका काम विना ईश्वर को माने भी चल सकता है, क्योंकि सृष्टि-रचना में वह ईश्वर का कोई हाथ नहीं मानता। वह भी साँख्य की तरह पुरुष-प्रकृति-संयोग को ही सृष्टि का बीज मानता है। उसने ईश्वर को कर्मों का फल-प्रदाता भी नहीं स्वीकार किया। उसने औपचारिक रूप से ईश्वर को प्रेरक तथा ज्ञान के आदि गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया है। ईश्वर के सम्बन्ध में उसकी धारणा चाहे कुछ भी हो, किन्तु पुरुष को सर्वज्ञता के गुण से युक्त मानकर उसने उसे ईश्वर के समकक्ष रख दिया है। इतना होने पर भी वह सर्वज्ञ पुरुष को परमात्मा नहीं कहता।

मीमांसा-दर्शन

मीमांसक भी आत्मा को नित्य तथा अजर-अमर मानते हैं। वे नैयायिकों की तरह आत्मा को स्वरूपतः चेतनाहीन मानते हैं। उनका मत है कि जब ज्ञानेन्द्रियों और विषयों का संयोग होता है तभी आत्मा

में चेतनता का उदय होता है। इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क के अभाव में यह आत्मा चेतना से शून्य रहता है। मीमांसक आत्मा और उसकी मुक्ति के सिद्धान्त पहले दार्शनिकों की तरह ही स्वीकार करता है। मीमांसक वेदों और वेद-विहित यज्ञों पर अटूट विश्वास रखते हुए भी ईश्वर को नहीं मानते। वे ईश्वर की इस अनादि और अनन्त संसार में कोई आवश्यकता नहीं समझते। उनके मत में जीवन का सबसे महान् धर्म यज्ञ है और सर्वोत्तम ध्येय एक मात्र स्वर्ग की उपलब्धि है। बाद के मीमांसक अपने को नास्तिकवाद के आरोपों से बचाने के लिये यज्ञपति के रूप में ईश्वर को मानने लगे और स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष में विश्वास करने लगे। मीमांसकों ने मोक्ष के बारे में अपनी परिभाषा स्थिर करते हुए कहा कि **"प्रपञ्चसम्बन्ध-विलयो मोक्षः"** अर्थात् इस बाह्य जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश ही मोक्ष है। मीमांसक शरीर को भोगायतन, इन्द्रियों को भोग-साधन और पदार्थ को भोग-विषय मानते हैं। इस बन्धत्रय के नितान्त विनाश को मोक्ष कहा गया है।

आत्मा का सर्व प्रथम शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध जुड़ता है और फिर इन्द्रियों की सहायता से बाह्य जगत् के पदार्थों से उसका सम्पर्क होता है। उस सम्पर्क से आत्मा में चेतना जागृत होती है, सुख-दुख और इच्छा आदि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, जैसे तन्तुओं के संयोग से पट उत्पन्न होता है ऐसे ही जगत् के सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुख उत्पन्न होते हैं और आत्मा अपनी चेतना-शक्ति से उसकी अनुभूति अपने में करता है। यह आत्मा की भ्रमित दशा है, जिसे मीमांसा-दर्शन में विवेकाग्रह या अख्याति कहा गया है। विवेक ज्ञान से भ्रम दूर होता है। आत्मा बाह्य सम्बन्धों से दूर हट कर स्वरूप में स्थित होता है। स्वरूपावस्थिति में उसे सुख-दुःखानुभूति नहीं होती, यही उसका मोक्ष है। मीमांसक मुक्तात्मा को परमात्मा की संज्ञा नहीं देते।

वेदान्त-दर्शन

वेदान्त दर्शन में आत्मा को ब्रह्म कहा गया है। सत् आत्मा और

ब्रह्म ये सब एक ही तत्त्व के पर्यायवाची हैं। वेदान्त वेदों का अन्तिम निर्णीत रूप है। इसे श्रुति का नवनीत कहा जा सकता है। वेदान्त को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। वेद के पूर्व खण्ड में कर्म-काण्ड का विवेचन है, पूर्व मीमांसा में कर्म-काण्ड का आधिपत्य है। श्रुति का उत्तर-काण्ड ज्ञान-काण्ड है। वेदान्त में तत्त्वज्ञान की प्रधानता है, इसलिये इसे उत्तर-मीमांसा कहा जाता है। वेदान्त में कोरे कर्मकाण्ड का कोई स्थान नहीं है, उसकी दृष्टि में संसार रूप इस महान दुखार्णव को पार करने के लिए माया और ब्रह्म के भेद-विज्ञान की आवश्यकता है। वेदान्त के मत में संसार में आत्मा ही सत् है, वह ब्रह्मरूप और आनन्दमय है। भ्रम से वह ईश्वर की माया में फंस गया है। उसके मत में माया ईश्वर की एक शक्ति है, उसने इस मायावी संसार के प्रपञ्च को ईश्वर का एक खेल कहा है।

ईश्वर एक जादूगर है। जैसे जादूगर एक खेल दिखाता है, उसकी अवास्तविकता को वह स्वयं समझता है, किन्तु दर्शक उसे वास्तविक मानकर उस पर मुग्ध हो जाता है। ठीक इसी तरह आत्मा ईश्वर की माया को सत्य समझ कर उस के मोह में फंस जाता है। यह अज्ञान या अविद्या ही जीव के दुःख व क्लेश का मूल कारण है।

वेदान्त की दृष्टि में जगत् मिथ्या है। वस्तुतः वह है ही नहीं, सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म—अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त विश्व में कुछ नहीं। अपने अज्ञान से ही यह संसार बना लेता है, विवेक ज्ञान होने पर संसार का विलय हो जाता है। आत्मा अपने ब्रह्म स्वरूप को पा लेता है। ब्रह्म रूप आत्मा सदा के लिये आनन्दमय हो जाता है। वेदान्त के शब्दों में यही आत्मा की मुक्ति है, किन्तु मुक्ति ईश्वर या परमात्मा से अलग शक्ति है। वेदान्त में संसार के समस्त पदार्थों में समान रूप से रहनेवाली सत्ता को ही ब्रह्म कहा गया है। वह निराकार रूप से इस जगत की ठोस शक्ति है। ब्रह्म की बीज-शक्ति माया है। इसी माया से जगत् उत्पन्न होता है। माया दो काम करती है—अपनी मायावी शक्ति से यह ब्रह्म पर आवरण डालती है अर्थात् उसे ढक

लेती है और दूसरी ओर जागतिक प्रपञ्च उत्पन्न कर देती है। वह जीव जो अन्तःकरण के रूप में पड़े हुए चैतन्य का प्रतिविम्ब मात्र है, इस माया में आसक्त हो जाता है। वह अपने ब्रह्म स्वरूप को विस्मृत कर देता है। यही जीव की अविद्या है। विवेक से यह अविद्या नष्ट हो जाती है। जीव अपने शुद्ध स्वरूप को और माया के प्रपञ्च को पहचानता है और फिर निदिध्यासन के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, अतः वह ब्रह्म में लीन हो जाता है, किन्तु वह ईश्वर या ब्रह्म नहीं होता।

इस उत्तर मीमांसा में निराकार सत्ता को ब्रह्म, ब्रह्म की सर्जन-शक्ति को माया, माया के प्रपञ्च को जगत् और मायावृत ब्रह्म के सगुण भाव को ईश्वर कहा गया है।

मैंने ऊपर सभी भारतीय दर्शनों की एक संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की है। मेरी अल्प-बुद्धि में कहीं त्रुटि भी रह सकती। यहां दर्शनों का विवेचन देने या खण्डन-मण्डन करने का मेरा कोई भी उद्देश्य नहीं है। आत्मा और परमात्मा के विषय में अन्य दर्शनों के साथ जैन-दर्शन का क्या पार्थक्य है? केवल इतना मात्र बतलाना ही है मेरे प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य व प्रयोजन है।

जैन-दर्शन आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में अपने विचार कुछ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करता है। उसने सांख्य की तरह संसार में मूलतः दो ही द्रव्य माने हैं। जैसे कि जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। अजीव के अवान्तर भेद पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल को मानने से उस के द्रव्य छे हो जाते हैं। द्रव्य की परिभाषा करते हुए उसने कहा है:

'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्—

गुण और पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। आत्मा को जैन-दर्शन ने जीव-संज्ञा भी दी है। वेदान्त का जीव जैन-दर्शन के जीव से अलग है, जैन-दर्शन का जीव वेदान्त के ब्रह्म के समान है जैन-दर्शन में जीव और अजीव दोनों ही सत् पदार्थ हैं। सत् की परिभाषा उसने इस प्रकार की है—अर्थात् जो उत्पन्न हो कर नष्ट होता है और

फिर भी ध्रुव रूप से सत्ता में बना रहता है उसे सत् कहा जाता है।

जैन-धर्म ने जीव और अजीव दोनों ही पदार्थों को सत् माना है।

जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। फिर उसे भी छोड़ कर अन्य गति में जाकर एक नवीन शरीर धारण कर लेता है। यही स्थूल दृष्टि से जीव का उत्पाद और व्यय है, किन्तु प्रत्येक शरीर में आत्मा का स्वरूप नित्य बना रहता है, यही उसकी ध्रुवता है। सूक्ष्म दृष्टि से जीव से सम्बद्ध कर्माणुओं में परिवर्तन होता रहता है। जिसे जैन-शास्त्रीय भाषा में निर्जरा और बन्ध कहते हैं, इसे ही जीव का उत्पाद और व्यय कह सकते हैं। जीव की मूलसत्ता में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है। इसी से वह नित्य और शाश्वत कहा जाता है।

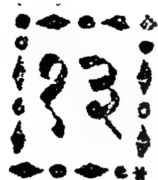
प्रकृति जिसे जैन-धर्म में पुद्गल कहा गया है वह स्कन्ध देश और प्रदेश की दृष्टि से उत्पाद और व्यय धर्म से युक्त है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, किन्तु परमाणु-पुद्गल नित्य बना रहता है। परमाणु स्वयं भी प्रतिसमय बदलता रहता है, किन्तु अणुत्व रूप में वह शाश्वत रहता है। यही उसका ध्रौव्य है। जैन-दर्शन जीव से अतिरिक्त द्रव्यों को अजीव कहता है, पर सबको पुद्गल नहीं कहता। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाश ये जड़ या अजीव तो हैं, किन्तु ये पुद्गल नहीं हैं। अन्य दर्शनों में पुरुष के अतिरिक्त अन्य सब को प्रकृति ही माना जाता है। जैन दर्शन के पुद्गल और अन्य दर्शनों की प्रकृति में इतना ही अन्तर है।

जैन-धर्म अजीव को माया, भ्रम या अनिर्वचनीय नहीं कहता, वह उसे सत् ही मानता है। उपयोग जीव का शाश्वत धर्म है। वह इससे कभी भी शून्य नहीं होता। जैन-दर्शन का 'उपयोग' शब्द महत्त्व-पूर्ण है। इसमें ज्ञान और चैतन्य दोनों का समावेश होता है। ये दोनों तत्व अजीव में नहीं हैं। जीव के सम्पर्क से अजीव में चैतन्य का संचार होता है, किन्तु उसे स्व और पर का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान जीव-निष्ठ है, स्व-पर का ज्ञाता एक मात्र जीव ही रहता है। दुख-सुख की अनुभूति शरीर, इन्द्रियों तथा मन आदि को नहीं होती, बल्कि स्वयं

जीव को होती है। जीव का वाह्य जगत के विषयों से जब सम्पर्क टूट जाता है तो फिर जीव को न सुख होता है और न दुख ही होता है, क्योंकि राग-द्वेष के क्षीण हो जाने से आत्मा के लिये कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं रह जाता। आत्मा को इस स्थिति को अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन ने अभावात्मक नहीं माना, वल्कि अनन्त एवं अक्षय सुखमय माना है। जैन दर्शन की यह स्थिति वेदान्त से मिलती-जुलती है, क्योंकि वह भी मोक्ष की अवस्था में आत्मा को आनन्दमय ही मानता है। जैन दर्शन विकास के परमोत्कर्ष पर आसीन आत्मा को ही परमात्मा कहता है, इस शिखर पर कोई भी भव्यात्मा किसी भी समय साधना के सोपान पर क्रमशः आरोहण करता हुआ पहुंच सकता है।

जैन-धर्म में जीव और पुद्गल के सम्बन्ध को प्रवाह से अनादि माना गया है, दोनों आनादि समय से वृद्धावस्था में चले आ रहे हैं ? दोनों तत्त्व परिणामी हैं। परिणामी स्वभाव के कारण ही जड़ में चेतनत्व का संचरण और जीव में मिथ्यात्व का उदय होता है। जिसे अन्य दर्शनों में अज्ञान व माया-भ्रम कहा गया है। जैन दर्शन उसे मिथ्यात्व कहता है। मिथ्यात्व जीवन के समस्त दोषों का वीज है। सत्य का ज्ञान होने से मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।

सत्य ज्ञान को सम्यक्त्व या सम्यक्-दर्शन कहते हैं। सम्यक्दर्शन से सम्यक्-ज्ञान और फिर सम्यक्-चारित्र का उदय होता है। चारित्र राग-द्वेष की ग्रन्थि का भेदन कर के जीव का वाह्य जगत् से सम्बन्ध तोड़ देता है। सम्बन्ध-विच्छेदन ही वस्तुतः जीव का मोक्ष है। जीव में दोषों का उदय व अस्त कैसे होता है ? केवल यह स्पष्ट करने के लिये ही मैंने दो पंक्तियां अन्त में दी हैं। जैन दर्शन में आत्मा को जिस तरह परमात्मा के रूप में स्वीकार किया गया है, अन्य किसी दर्शन ने उसे ऐसा नहीं माना है। जैन दर्शन सांख्य की तरह निरीश्वरवादी भी नहीं और वेदान्त की तरह ईश्वरवादी भी नहीं। सिद्धात्मा को मान कर एक तरह से उसने परमात्मवाद की पूर्ति कर दी है, किन्तु सृष्टि-चक्र में उसे नितान्त मध्यस्थ ही रखा है। अन्य आस्तिक दर्शनों से उसका वस इतना ही पार्थक्य है। ●



संयम से ही मिलते हैं आनन्द के किनारे



भगवान महावीर ने धर्म को उत्कृष्ट मंगल कह कर इसके अहिंसा, संयम तथा तप ये तीन अंग कहे हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि संसार में अहिंसा परम-धर्म तो है ही, किन्तु यह अहिंसा संयम की आधारशिला पर ही खड़ी रह सकती है। जीवन में जब तक संयम नहीं होगा तब तक अहिंसा जीवन में उतर नहीं सकती। कारण स्पष्ट ही है कि संयम के अभाव में मन में असीम इच्छाएं तथा इन्द्रियों के अनियन्त्रित काम-भोग अवश्य उभरते हैं और धीरे-धीरे जीवन को आक्रान्त कर लेते हैं। इन विषयों की तृप्ति से द्वेष आदि दोषों का जन्म होता है। राग-द्वेष से फिर कषायों की उत्पत्ति होती है। जैन-धर्म में निश्चय नय से कषाय (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) को हिंसा कहा गया है, कषायों को ही शास्त्रीय भाषा में भाव-हिंसा कहते हैं।

भाव-हिंसा द्रव्य-हिंसा का बीज है। बीज के रहते वृक्ष की उत्पत्ति निमित्तों का सहयोग मिलते ही हो जाया करती है। मन, वाणी तथा शरीर का असंयम ही वास्तव में हिंसा का मूल है। कषाय आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में रहने नहीं देते, उसे अपने स्वभाव से विचलित कर देते हैं और उसे विभाव की ओर ले जाते हैं। जीव को यही भटकना उसके कर्म-बन्धन का कारण और फलतः संसार में आवागमन का कारण बनती है। आत्मा का स्वभाव से विभाव में आना ही हिंसा है। बाह्य जगत् के राग-द्वेषात्मक निमित्तों से आत्मा में जो विकार

उत्पन्न होते हैं वे ही आत्मा की वैभाविक परिणतियां हैं। आत्मा के इन औदयिक भावों की उपशान्ति और फिर क्षय तथा अन्ततः स्वरूप की उपलब्धि ही संयम की मंगल-साधना का परम-पुनीत उद्देश्य है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ पर-गुण को ग्रहण तो करता है, किन्तु किसी न किसी क्षण भी उसे छोड़ कर वह अपने असली निज गुण की ओर मुड़ जाता है और अन्ततः उसमें स्थिर हो जाता है। इसी से वस्तु के स्वभाव तथा विभाव की पहचान हो जाती है। उदाहरण के तौर पर जल को ही लीजिये—

हम देखते हैं कि गरम पानी पड़ा-पड़ा ठण्डा हो जाता है, क्यों? कहना होगा कि वह पर-गुण "उष्णत्व" को छोड़ कर अपने निज गुण 'शीतत्व' की ओर मुड़ गया है और उसमें जाकर स्थिर हो गया है, अर्थात् उसने अपने स्वभाव को पा लिया है जो उसका धर्म है।

आत्मा भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। इसका एक विशिष्ट स्वरूप है, उसमें स्थित होना ही आत्म-धर्म की उपलब्धि है। हम देखते हैं कि एक क्रोधी व्यक्ति धीरे-धीरे शान्त हो जाता है, क्योंकि क्रोध जीव की वैभाविक परिणति है और शान्तता उसका स्वभाव है, निज गुण है। इसीलिए वह उधर को ही जाता है और आखिर में उसी में जाकर विश्रान्ति पाता है।

यदि सत्य-सत्य कहा जाये तो विश्व में आत्म-धर्म ही एक मात्र अनादि धर्म है। शेष सब आस्तिक-धर्म उस आत्म-धर्म के ही आंशिक सत्य हैं। इसी आधार पर जैन-धर्म ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का अनुसरण किया है, ताकि सत्य के विभिन्न अंगों के समन्वय से पूर्ण सत्य की उपलब्धि की जा सके। संसार का कोई भी सम्प्रदाय अनादि नहीं है, इसलिए आत्मा का कोई भी सम्प्रदाय नहीं हो सकता। जो जीवन को सम्यक् दिशा प्रदान करे वह ही सम्प्रदाय है। जीवन की सही दिशा सत्य के सिवा और क्या हो सकती है भला? सत्य का ध्रुव निकेतन केवल आत्मा है। संयम का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं। इसका सम्बन्ध सत्य की संप्राप्ति से है, इसलिये संयम के द्वारा उन

समस्त दोषों का नियमन किया जाता है जो आत्मा के चिरन्तन सत्य तक पहुंचने में बाधक बनते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है तो फिर यह आणविक प्रकृति में स्थित क्यों नहीं होता ? क्योंकि सभी शास्त्रकार तथा वैज्ञानिक आणविक प्रकृति को सत्य ही तो मानते हैं। भ्रान्ति की स्थिति में यह प्रश्न कुछ सही मालूम होता है, किन्तु सम्यक्-ज्ञान के प्रकाश में यह भ्रान्ति काफूर की तरह उड़ जाती है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि परमाणु रूप प्रकृति सत्य होने पर भी एक रूप नहीं रहती, वह विकारी है। विकृत होकर नाना रूप धारण करती है, जिसे प्रकृति की लीला कहा जाता है। यह लीला क्षणिक तथा नश्वर है, इसी का नाम माया है। विनाशशील एवं परिवर्तनशील होने से ही इसे असत् कहा गया है, इसीलिये आत्मा अपने ही अविनाशी सत्य में स्थित होता है। परिवर्तन-धर्मा प्रकृति में नहीं।

दूसरी बात और समझ लेनी चाहिये कि आत्मा का लक्ष्य केवल सत्य ही नहीं, उसका वस्तुतः लक्ष्य है "आनन्द"। सत्य में वह आनन्द का आधार केवल आत्मा ही है। आनन्द अनुभूति का विषय है अनुभूति केवल आत्मा में है। जड़ सत्य तो है, किन्तु अनुभूति-शून्य है— न उसमें निजानुभूति है और न ही परानुभूति। आत्मा में निजानुभूति के साथ परानुभूति भी है। संसार की प्रत्येक अनुभूति में जब आत्मा "स्व" रूप से उपस्थित होता है तब उसे ही "विराट पुरुष" कहा जाता है। यही आत्मा को सार्व-भौमिकता है। आत्मा का अपने इस सार्वभौम रूप में स्थित होना ही सत्य की उपलब्धि है और अपने इस परम-शुद्ध सत्य स्वरूप में स्थित होने पर आत्मा को अपने अक्षय आनन्द का रसास्वादन होता है। परम शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है ? यह एक वार्ता द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

एक जंगल में एक महात्मा रहते थे। वे एक दिन अपनी कुटिया में समाधिस्थ बैठे थे, बिलकुल शान्त-दान्त तथा अभ्रान्त, अपने स्वरूप

में एकदम तन्मय, मन के सम्पूर्ण विकारों से दूर—सच, बहुत दूर। सहसा उनकी कुटिया में एक व्यक्ति ने प्रवेश किया और आते ही पूछने लगा—

"महात्मन् ! यदि आप कुछ जानते हैं तो बताइये—"आत्मा का स्वरूप क्या है ?" वे सन्त अपने आत्म-ध्यान में मग्न रहे कुछ बोले तक नहीं।"

उस नवागन्तुक ने तीन वार प्रश्न किया, किन्तु उत्तर हर वार मौन के रूप में ही मिला। वह क्रोध से दांत पीसता हुआ वहां से चल दिया। सोचने लगा—"कुछ नहीं आता होगा इसको, तभी तो चुप्पी साधे बैठा है। कुछ जानता होता तो अवश्य कुछ जवाब देता, किन्तु यहां तो न हूं न हां। अपनी मूर्खता को छिपाने के लिए आंखें बन्द करके बैठ गया है।"

वह क्रुद्ध जिज्ञासु यह सब कुछ अंट-संट सोचता हुआ जा ही रहा था कि पीछे से आवाज़ आई—"अरे भाई ! इधर तो आओ ! क्यों भागे जाते हो, क्रोध में पागल से हुए ? उसने पीछे मुड़कर देखा कि वही महात्मा उसे बुला रहे थे। स्नेहाभिषिक्त आवाज़ सुनकर उसके आवेश का वेग मन्द पड़ गया। अपनी आंखों में कुछ जिज्ञासा और कुछ श्रद्धा को लिये हुए महात्मा के चरणों में आकर बैठ गया। उस मुनीश्वर ने शान्त स्वर में कुछ कहना आरम्भ किया—"क्या अभी आपके प्रश्न का समाधान नहीं हुआ ?"

कैसा समाधान ? आप तो कुछ बोले ही नहीं तो फिर समाधान कैसा ? क्या समाधान कुछ कहे बिना ही हो जाया करता है ?" उस आगन्तुक ने उत्तर दिया।

योगी ने फिर कहा—"आपने तीन वार प्रश्न किया और मैंने तीनों वार ही आपके प्रश्न का उत्तर दिया है।"

"अजी ! क्यों सन्त हो कर असत्य कह रहे हैं आप ? आपने तो ज़बान ही नहीं खोली, फिर उत्तर कैसे दे दिया आपने मुझे।" उस प्रश्नकर्ता ने कुछ तेजी में आकर कहा।

"आपका प्रश्न क्या था ?" सन्त ने पूछा—

"मेरा प्रश्न था आत्मा का स्वरूप क्या है ?" उस जिज्ञासु ने कहा।

"जैसा प्रश्न होता है वैसा ही उत्तर दिया जाता है। आपके प्रश्न का उत्तर वाणी नहीं दे सकती, इसलिए मैंने आपके प्रश्नोत्तर में वाणी का प्रयोग नहीं किया, बल्कि अपने जीवन से उसका उत्तर दे दिया। सन्त ने समाधान दिया।

"वह कैसे ?" उस उत्तराभिलाषी ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा। आपके प्रश्न काल में मैं अपनी समाधि में बिल्कुल शान्त बैठा था। आप का प्रश्न था "आत्मा का स्वरूप क्या है ?" और मैं अपनी शान्त-स्वरूप स्थिति से उत्तर दे रहा था कि आत्मा का स्वरूप शान्त है, बिल्कुल शान्त है, समझे !"

ऊपर के इस दृष्टान्त से यह समझ में आ जाना चाहिये कि आत्मा स्वरूप से शान्त ही है। उसकी अशान्त अवस्था कर्म-जन्य है, स्वभाव-जन्य नहीं। जब तक विकार दूर नहीं होते कर्मों का सिलसिला समाप्त नहीं हो सकता।

कर्मों का आवरण हटे बिना किसी को आत्म-दर्शन नहीं होता। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि ही मन के विकार हैं, दोष हैं। इन्हीं दोषों को समाप्त करना ही संयम का वास्तविक उद्देश्य है।

योग-शास्त्र में **"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः"** सूत्र द्वारा योग की परिभाषा स्पष्ट की गई है। इसका अर्थ है चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। यह चित्त असंख्य वृत्तियों का केन्द्र है। जैसे तालाब में एक कंकर फेंकने से एक तरंग-चक्र उठकर किनारों तक पहुंच जाता है, वैसे ही किसी भी बाह्य निमित्त के मिलने से मन में वृत्तियों का एक तरंग-चक्र उठता है और वह धीरे-धीरे समूचे जीवन को घेर लेता है। जैसे चंचल जल में अपना बिम्ब दिखाई नहीं देता, ठीक इसी तरह वृत्तियों से आप्लावित मन में आत्म-दर्शन नहीं हो सकता।

जैन-धर्म में मन की मूलतः दो ही प्रधान वृत्तियां कही गई हैं। एक रागात्मक तथा दूसरी द्वेषात्मक, किन्तु यदि देखा जाये तो राग से द्वेष उत्पन्न होता है। राग के अभाव में द्वेष कदापि सम्भव नहीं। इसलिये

जैन-धर्म में पूर्णात्मा को वीतराग कहा गया है। संयम के मार्ग पर आने के लिये भी सर्व प्रथम साधक के मन में विराग—वैराग्य का उदय अवश्य होना चाहिये। वैराग्य संयम रूप भव्य भवन की नींव की प्रथम शिला है। वैराग्य के आते ही अन्य वृत्तियां अपने आप शान्त हो जाती हैं और फिर संयम की साधना से उन्हें निश्शेष कर दिया जाता है। अनात्म-पदार्थों के प्रति मोह ही राग है। इस राग का मूल अज्ञान है। अज्ञान आत्मा का विभाव है जो अनादिगत मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है।

जीव स्वभाव से ही आनन्द की खोज करता है। मिथ्यात्व अर्थात् अज्ञान के कारण वह अपने आनन्द को अनात्म पदार्थों में ढूंढता है। जीव का नश्वर जगत के प्रति राग का वास्तव में यही कारण है। सम्यक्-ज्ञान होते ही जीव को अपने सुख का असली केन्द्र अपने में ही मिल जाता है और उसका पर पदार्थों के प्रति राग जाता रहता है। विश्वास उस ज्ञान वृत्ति को सुदृढ़ करता है और फिर चारित्र अर्थात् संयम की निर्मल साधना से उसे बिलकुल निश्शेष कर दिया जाता है। यही चित्त-वृत्तियों की निरोध-अवस्था है।

योग-शास्त्र में संयम की साधना यम तथा नियम से आरम्भ हो कर समाधि में पूर्ण होती है। जैन-दर्शन की संयम-साधना केवल-ज्ञान में परिसमाप्त होती है, किन्तु देखना यह है कि क्या आज की संयम-मूर्तियां वास्तव में इस पावन लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं? केवल नदी में उतर जाने से ही मनुष्य किनारों पर नहीं पहुंच जाता। उसके लिये तो तैरना होता है। संयम की नदी में केवल छलांग मार देने से किनारे नहीं मिल जाते, उसमें भी तैरने की आवश्यकता होती है। जैसे तैरने वाला पीछे से पाओं से और आगे से हाथों से पानी को हटाता हुआ आगे बढ़ता है, ठीक इसी तरह संयम का साधक संयम से आश्रव का निरोध और तप से पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करता हुआ आनन्द के किनारों पर पहुंच जाता है—साधक, एक दिन तो अवश्य पहुंच ही जाता है।



अहिंसा का अन्तस्तल



कुछ मास पूर्व ही बम्बई में "अहिंसा-साधना-संघ' की स्थापना की गई थी। इसके नाम से ही इसका उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। इसकी अधिक व्याख्या करने की मैं विशेष आवश्यकता नहीं समझता। मनुष्य इस धरती का प्रज्ञाशील प्राणी है, प्रज्ञा की शक्ति से वह सत्य की शोध करने का अपरिमित सामर्थ्य रखता है। सत्य की शोध उसे मोह के मायावी जगत से दूर हटा कर जीवन के शाश्वत तत्त्व में स्थिर कर देती है। नश्वर जीवन और उसका नश्वर सुख अहिंसक व्यक्ति की आध्यात्मिक दृष्टि के सामने बहुत छोटा हो जाता है। विराट् के समक्ष क्षुद्र का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। संसार के अन्य प्राणी अपने-अपने जीवन और जीवन के क्षणिक सुख-साधनों को महत्त्व देते हैं। 'स्व' के प्रति यह एक क्षुद्र मोह है। मोह की यह प्रवृत्ति दूसरों के सुख-संसार को उजाड़ कर अपने सुखों का स्वर्ग बसाने की हीन भावना को जन्म देती है। यह प्रवृत्ति पशु-जगत् में प्रायः देखी जाती है। जंगल का शेर अपने जीवन से प्यार करता है, किन्तु दूसरे प्राणियों का संहार करता रहता है। बिल्ली अपने बच्चों को दूसरे हिंस्र प्राणियों से बचाने के लिए उनके लिए नये-नये ठिकाने ढूंढती रहती है, किन्तु अपने बच्चों को छिपा कर रखने वाली उस बिल्ली के तेज़ दान्तों और सुतीक्ष्ण पंजों के सामने बिचारे चूहे और कबूतर के जीवन की कोई कीमत नहीं है। यहां भी कोई जीवन है,

दुख है, वेदना है, इसका उस विल्लो को भान तक भी नहीं होता। यही पशुवृत्ति है।

इस प्रकार के उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं, किन्तु प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के लिए ये दो ही उदाहरण पर्याप्त समझता हूं। कहते हैं कि पशुओं में भी बुद्धि होती है, किन्तु उसे पशु-बुद्धि ही कहते हैं। वह अपने ही क्षुद्र मोह में विवेक के द्वार बन्द करके बैठी रहती है। दूसरे के दुख और वेदना की अनुभूति को वहां प्रवेश पाने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इस प्रकार की पशु-बुद्धि के धनी कुछ मनुष्य भी होते हैं, जिन्हें यदि नर-पशु की संज्ञा दी जाये तो गलत नहीं होगा, किन्तु शास्त्रों में मनुष्य को इस धरती का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा गया है। हालांकि एक मानव दूसरे मानव को जितना दुख देता है, इतना दुख शायद पशु जगत से नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सोचना होगा कि उसकी सर्व-श्रेष्ठता का मूलाधार क्या है? अपने क्षुद्र मोह से आगे बढ़ कर ही मनुष्य का चिन्तन विराट् रूप लेता है। तब उसके विराट् चिन्तन के सामने अपने जीवन की अपेक्षा दूसरे का जीवन अधिक मूल्यवान् होता है। वह अपने सुख की अपेक्षा दूसरे के सुख की रक्षा का ध्यान अधिक रखने लगता है। उसका 'स्व' विराट् होकर विश्वाकार हो जाता है। वह मन वाणी और शरीर से ऐसा कोई चिन्तन, सम्भाषण तथा व्यवहार नहीं करता जिससे संसार के किसी भी प्राणी का अनिष्ट हो, हानि एवं विनाश हो। विराट् चिन्तन मनुष्य के मोह एवं राग को मैत्री तथा प्रेम में बदल देता है। भला मित्र से अन्याय, उस पर अत्याचार तथा उस से वैर आदि कौन कर सकता है? विराट चिन्तन में ये सब पातक नहीं हो सकते। इससे असत् की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है। जब जीवन में सत् की प्रवृत्ति और असत् की निवृत्ति का समावेश हो जाये तो फिर जीवन में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। सारे जगत के साथ उसका आत्मीयता का परम पावन सम्बन्ध जुड़ जाता है। आत्मीयता के सर्वोच्च शिखर से वह सारे

संसार को 'आत्मवत्' देखने लगता है। जीवन की यह वह सर्वोन्नत भूमिका है जहां जाकर द्वैत नष्ट हो जाता है, द्वैत के नष्ट होते ही राग-द्वेष निश्शेष होने लगते हैं। रागद्वेष ही हिंसा के बीज हैं। जब बीज ही नहीं होगा तो हिंसा का अंकुर कहां से निकलेगा ? हिंसा का विष-वृक्ष कहां से उत्पन्न होगा ? कभी उत्पन्न नहीं होगा। वहां तो अहिंसा का अखण्ड शासन ही होगा। हिंसा तथा अहिंसा का बस, इतना मात्र ही रहस्य है। जो इस रहस्य को जान लेता है वही अहिंसा का सच्चा साधक हो सकता है।

लोग ऐसा समझते हैं कि अहिंसा की साधना बड़ी कठिन है। मेरा विचार है कि अहिंसा भगवती के चरणों से दूर रहने के कारण ही वे अहिंसा की पगडण्डी की सरल गति को नहीं समझ पाते। हिंसा में जितनी जटिलता है, अहिंसा में उतनी जटिलता कहां है ? बिल्कुल भी नहीं है। हिंसा का मार्ग कंटकाकीर्ण है। हिंसा की पिटारी में अन्याय, अनीति, अत्याचार, शोषण, प्रतिशोध, उत्पीड़न, भय, शोक, चिन्ता, छल-कपट तथा झूठ के काले नाग कुण्डलियां मार कर बैठे रहते हैं। जब कि अहिंसा का मार्ग बिल्कुल सीधा और सरल है। अहिंसा के कलश में अमृत ही अमृत भरा रहता है। अहिंसा की साधना में तनिक भी कठिनाई नहीं, किन्तु अहिंसा की साधना के लिए अपने भीतर के विकारों—क्रोध, मान कपट और लोभ आदि पर विजय पाना अवश्य कुछ कठिन प्रतीत हो सकता है, किन्तु याद रखिये जो एक कठिनाई को जीत लेता है उसके लिए सारी कठिनाइयां सदा के लिए दूर हो जाती हैं। जो कषाय-विजय की एक कठिनाई के आगे परास्त हो जाता है लाखों कठिन समस्याएं उसके सिर पर चढ़ जाती हैं। एक दुख सह कर नौ सुखों को प्राप्त करना बुद्धिमत्ता है और एक सुख के लिए नौ दुःखों को गले लगाना निरी मूर्खता है। कषायों को वश में करने में थोड़ा कष्ट हो सकता है। ज्ञानी के लिए तो वह भी कोई कष्ट नहीं है। एक क्षण के लिए यदि उसे दुःख या कष्ट ही मान लिया जाये तो बाद में सुख का एक अविरल झरना जीवन में बहने लगता है। दूसरी ओर कषायों के वशवर्ती होने से भले ही क्षणिक सुख

की अनुभूति किसी को हो, किन्तु बाद में तो दुःखों की लम्बी परम्परा जीवन में आरम्भ हो जाती है। जिसका जीवन में कभी अन्त ही नहीं आता।

अहिंसा की जटिल व्याख्या तथा उसके भेद-प्रभेद के चक्कर में न पड़ कर केवल दो शब्दों में हिंसा और अहिंसा का स्वरूप समझा देना चाहता हूं।

स्वार्थ से एवं राग-द्वेष से प्रेरित होकर तथा किसी कुत्सित उद्देश्य को सन्मुख रखकर किसी के जीवन को संपीड़ित तथा विनष्ट करना हिंसा है।

अहिंसा—

निष्काम प्रेम एवं समभाव में स्थित होकर तथा किसी उत्तम एवं पवित्र उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर किसी के जीवन को सुखमय बनाना और उसके जीवन और सुख-साधनों की रक्षा करना अहिंसा है।

अपनी-अपनी जीवन-भूमिका के अनुसार उसका रूप कुछ भिन्न हो सकता है। अहिंसा कहीं निवृत्ति-प्रधान होती है, तो कहीं प्रवृत्ति-मुखी हो जाती है। साधना-काल में भगवान महावीर की अहिंसा बिल्कुल मौन थी और वह निवृत्ति-प्रधान थी। यदि एकान्त निवृत्ति-मुखी ही कही जाये तो भी उपयुक्त होगा। उपदेश काल में वह अहिंसा मौन नहीं रह सकी, वह मुखरित हो उठी। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त हिंसा का सामना करने के लिए वह वीर बन कर मैदान में आ गई। भगवान ने हिंसा के विरोध में संघ के रूप में अहिंसा का एक व्यापक मञ्च बनाने के लिए एक निर्दोष प्रवृत्ति की।

यह कहा जाता है कि भगवान महावीर तो वीतराग थे, वीत-राग की प्रवृत्ति निरवद्य अर्थात् दोष-रहित होती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जीवन जो वीतराग है वही अहिंसा आदि के प्रचार की प्रवृत्ति कर सकता है, दूसरा कोई नहीं कर सकता। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। प्रायः छद्मस्थ ही अधिक प्रवृत्तियां करता है। वीतराग

को तो किसी प्रवृत्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती।

तीर्थङ्कर भी केवल तीर्थङ्कर-गोत्र के बन्धन में बन्धा हुआ ही तीर्थ की रचना करता है। जिसके पास इतना विपुल-पुण्य नहीं वह तीर्थ नहीं बना सकता। तीर्थ की रचना भी एक प्रवृत्ति ही है, जो पुण्य से प्रेरित होती है। उस प्रवृत्ति में अदोषता वीतरागता का ही एक विशुद्ध परिणाम है। इससे एक बात अवश्य सिद्ध हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति छद्मस्थ अवस्था में भी यदि अन्तरङ्ग में समभाव में स्थित हो कर प्रवृत्ति करे तो उसकी कोई भी प्रशस्त प्रवृत्ति वीतराग पुरुष जैसी कही जा सकती है, क्योंकि समभाव में स्थित आत्मा वीतराग जैसा ही माना जाता है।

अहिंसा की साधना मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है। उसकी साधना वैयक्तिक क्षेत्र से आरम्भ होकर सामाजिक जीवन में समाप्त होती है और सामाजिक क्षेत्र से शुरू होकर वैयक्तिक जीवन में पूर्णता एवं वीतरागता के शिखर पर जाकर समाप्त हो जाती है। अहिंसा व्यक्ति और समष्टि दोनों में साकार होनी चाहिए।

व्यक्ति इस संसार में प्रायः अकेला ही आता है, किन्तु वह संसार में अकेला रह नहीं सकता। कभी-कभी व्यक्ति अकेला हो जाता है, किन्तु उसे अपने जीवन की अनेक प्रवृत्तियों में समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। समाज और व्यक्ति का पारस्परिक एक घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के गुणों तथा दोषों से प्रभावित होते हैं। एक अहिंसक समाज बनाने के लिये व्यक्ति के जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता है और एक अहिंसक जीवन व्यतीत करने के लिये समाज की धरती में अहिंसा का बीजारोपण करना अत्यावश्यक होता है, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में शान्ति पा सके, उसके सुख-साधन सुरक्षित रह सकें और वह अपने आदर्शों के विमल पथ पर अबाध गति से आगे बढ़ सके।

स्मरण रहे कि जैसे सिंह की गुफा में कोई भी बकरी या गाय सुरक्षित नहीं रह सकती, ठीक इसी तरह हिंसक समाज में अहिंसक

व्यक्ति के आदर्श भी जीवित नहीं रह सकते। हां! जीवन देकर कोई अपने पीछे ऊंचे आदर्श छोड़ जाए तो वह बात अलग है। हिंसा के वातावरण में अहिंसक व्यक्ति को अपने नियमों तथा गृहीत व्रतों का पालन करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव हो जाता है। हिंसा की राक्षसी प्रवृत्ति द्रुत गति से आगे बढ़ कर जीवन और जगत के सुखों को हड़प कर जाना चाहती है। इसका मुकाबला अहिंसा के व्यापक प्रचार द्वारा ही किया जा सकता है। मनुष्य बनने के बाद केवल अहिंसक बनना ही शेष रह जाता है, क्योंकि और तो व्यक्ति के जीवन में सब कुछ बन जाता है, केवल अहिंसक बनना ही जरा कठिन होता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतिबोध देने की आवश्यकता है कि तुम दूसरे के सुख और जीवन की रक्षा करोगे तो दूसरा भी प्रेम तथा सहानुभूति से प्रभावित होकर तुम्हारे जीवन और अधिकारों की रक्षा करेगा। वस्तुतः यह "पारस्परिक अनुग्रह" ही सामाजिक अहिंसा का एक स्पष्ट एवं सुन्दर उदाहरण है। विश्व-कल्याण का यही मूल मन्त्र है।

कहा जा सकता है कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इन तीन गुणों के कारण दुनिया में सतोगुण के अतिरिक्त रजोगुण और तमोगुण भी रहेगा तो फिर संसार में हिंसा का अन्त कैसे हो सकेगा? क्योंकि रज और तम से तो संसार में हिंसा का वातावरण सदैव उत्पन्न होता ही रहेगा। यह तर्क किसी सीमा तक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, किन्तु स्थिति के दूसरे पक्ष पर दृष्टिपात करने के बाद ही इस तर्क की शक्ति मालूम पड़ेगी।

आपको यह कदापि भूलना नहीं चाहिए कि प्रकृति का कोई भी गुण नित्य और ध्रुव नहीं है। उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता ही रहता है। दूसरे पक्ष में मनुष्य में त्रिगुणातीत होने की भी शक्ति है, उस में अनन्त वीर्य अर्थात् पराक्रम है। यदि मनुष्य सम्यग्-दृष्टि बन कर अहिंसा के पथ पर पूरी शक्ति से चले तो वह रज और तम को ध्वस्त करके उस पर सत् की प्रतिष्ठा कर सकता है। सारा संसार ऐसा करेगा या नहीं प्रश्न यह नहीं है, प्रश्न तो यह है कि मानव को वस्तुतः क्या करना चाहिए? यदि सारा जगत् अहिंसा को नहीं अप

तो इससे अहिंसा-धर्म का मूल्य तथा गौरव तनिक भी कम नहीं होता। हम देखते हैं कि सारा संसार सत्य नहीं बोलता, किन्तु क्या इससे सत्य का मूल्य कम हो जाता है? क्या फिर भी सत्य एक जीवन के सर्वोच्च आदर्श के रूप में दुनिया में नहीं माना जाता।

यदि मनुष्य कषायों के वशीभूत होकर भूलें करे और प्रकृति के नियमों की अवहेलना करे तो क्या प्रकृति के विधान गलत हो जाते हैं? बिल्कुल नहीं। याद रखिये कि जो भी प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करेगा उसे देर व सवेर में उसका फल भोगना ही पड़ेगा। फिर स्मरण रहे कि अहिंसा मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है, जो भी व्यक्ति किसी रूप में किसी भी समय, किसी भी तरह तथा किसी भी उद्देश्य से किसी भी प्राणी के प्राणों को संपीड़ित तथा ध्वस्त करेगा उसे उसका दुष्परिणाम अवश्य भोगना ही पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं! अहिंसा ही नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का मूल है। जीवन के समस्त सत्य, शिव तथा सुन्दर तत्वों का दर्शन अहिंसा के अन्तस्तल में उतर कर ही हो सकता है।

अहिंसा के अन्तस्तल को पाना मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार तथा अलौकिक आविष्कार है। दो शब्दों में यदि फिर उस अन्तस्तल का विश्लेषण करूं तो मैं कह सकता हूं कि निष्काम प्रेम और सत्य की उज्ज्वल साधना ही अहिंसा का अन्तस्तल है। ❖



१५

जीवन का स्वर्णिम व्रत : सत्य



श्रावक के पांच अणुव्रतों में सत्य का स्थान सर्वोपरि है। वैसे तो प्रत्येक व्रत अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, किन्तु वे सब साधन रूप हैं और सत्य साध्य है।

अपरिग्रह, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य की आराधना का ध्येय एक मात्र सत्य की उपलब्धि है। जीवन में जब सत्य की प्रतिष्ठा हो जाती है तो फिर जीवन के समस्त व्रतों की साधना का मार्ग सुगम हो जाता है। साधना का मधुर फल आत्म-शुद्धि के रूप में सहज में ही मिल जाता है। सत्य के अभाव में जीवन का कोई भी व्रत सफल नहीं होता। जीवन की कोई भी सत्यहीन साधना जीवन और जगत की शोभा नहीं बन सकती, उससे न तो लोक सुधरता है, न परलोक। साधना का प्राण सत्य ही है। इसके बिना प्रत्येक व्रत जड़ हो जाता है। जड़ साधना केवल एक दम्भ है। उससे हमारे मिथ्या अहंकार को पोषण मिलता है। साधक केवल अपने आपको ठगता रहता है और समझता रहता है कि मैं कुछ कर रहा हूं, वस्तुतः व्रतों के कोरे आडम्बर से अन्तर्जगत का भी विकार शान्त नहीं होता और न ही साधक [illegible] साधना से दुनिया में किसी का हित व उपकार कर सकता है।

साधना में सत्य का अर्थ है—विवेक, निष्ठा और [illegible] सत्य के ये तीन रूप जीवन के प्रत्येक व्रत के आधार [illegible]

प्रश्न-व्याकरण सूत्र में भगवान महावीर ने [illegible]

सच्चं हि लोगम्मि सारभूयं

लोक में सत्य ही सारभूत है शेष सब निस्सार है। यह सारी पृथ्वी सत्य की धुरी पर ही चल रही है, सत्य एक नित्य, शाश्वत तथा ध्रुव तत्त्व है, उस का कभी भी अभाव नहीं होता। क्योंकि यह अटल सिद्धान्त है कि अस्ति कभी नास्ति नहीं होता और जो नास्ति है वह कदापि अस्ति रूप नहीं होता। केवल सत्य पर अनास्था ही असत् है। सत्य अजन्मा तथा अविनाशी है और असत् का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। सत्य पर अश्रद्धा ही असत् को उत्पन्न कर देती है, वस्तुतः असत् इस सृष्टि में कहीं नहीं है।

इस असत् विश्वास को जैन धर्म ने मिथ्यात्व कहा है, मिथ्यात्वी जीव प्रथम गुण-स्थान में रहता है। उसके जीवन में कोई सद्व्रत नहीं आ सकता। हां, उसमें कुव्रत का आना सम्भव हो सकता है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म तथा जड़-चेतन का सम्यक् बोध न होने से उसकी साधना उसे ऊंचा नहीं उठाती, बल्कि नीचे गिराती है। मिथ्यात्व की दशा में उत्थान के बदले उलटा साधक का पतन हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि व्रतों के लिये जीवन में सम्यक्त्व का उदय परमावश्यक है। सम्यक्त्व का मतलब है "सत्य पर श्रद्धान"। सत्य पर श्रद्धा हुए बिना सत्य-पथ पर कोई चल नहीं सकता। सम्यक्त्व जीवन का प्रकाश है। व्रतों की साधना हमारा प्रशस्त मार्ग है और सत्य की उपलब्धि हमारे जीवन का ध्येय है। मार्ग के बिना मंजिल नहीं मिलती, किन्तु गलत मार्ग पथिक को मंजिल तक नहीं पहुंचा सकता, बल्कि और अधिक दूर कर देता है। मार्ग सम्यक् हो तो धीरे-धीरे चलने पर भी मंजिल एक न एक दिन मिल ही जाती है। श्रावक के पंचाणुव्रत श्रावक की साधना का सम्यक् मार्ग ही हैं, उनमें भी सत्य व्रत सबसे उत्तम, श्रेष्ठ तथा महान है।

श्रावक के सत्याणुव्रत को "स्थूल-मृषावाद-विरमण" व्रत कहा है, इससे मालूम होता है कि इस व्रत का अधिक सम्बन्ध बोलने से है। वाणी तथा भाषा-समिति से है, क्योंकि लोक में झूठ-सच का सम्बन्ध

कोट उसने मांग कर पहना है और उसके दाता वे सेठ जी ही हैं।

इस प्रकार सूक्ष्म ढंग से कही हुई बात से गरीब बन्धु के दिल पर वज्रपात करके उसकी इज्जत को मिट्टी में मिला दिया उस सेठ ने।

भगवान महावीर ने ऐसे वचनों को भी झूठ ही कहा है। ऐसे वचन मर्मभेदी होने से सदा वर्जनीय हैं? ऐसे वचन बड़े भयानक होते हैं। ऐसी वाणी सत्य होने पर भी हिंसा-जनक होने से झूठी ही समझी जाती है। इसीलिए शास्त्र में 'अहिंसा और सत्य' को एक साथ रखा गया है।

श्रावक के व्रत में जिसे सूक्ष्म-झूठ कहा गया है उसका अर्थ सामान्य या साधारण से है। जैसे दुकानदार ग्राहक से कहता है कि हम कमती बढ़ती नहीं करते, किन्तु जब ग्राहक वापिस जाने लगता है तो फिर कहने लगता है "अच्छा, लो एक रुपया कम ही दे दो, सुबह-सुबह का टाइम है, हम तुम्हें निराश नहीं करना चाहते और फिर तुम पहली बार इस दुकान पर आए हो, चलो एक रुपया कम ही सही।" इस प्रकार साधारण झूठ के अनेकों उदाहरण हो सकते हैं। ये वे झूठ हैं जो प्रवृत्तिमय एवं व्यवहारमुखी जीवन में घुल-मिल से जाते हैं। दृढ़ निश्चयी व्यक्ति इन्हें भी छोड़ सकता है। वह समाज में अधिक प्रामाणिक रूप से अपना व्यवहार चला सकता है। सत्य जीवन का स्वर्णिम व्रत है, इसकी शक्ति से व्यक्ति सारे संसार को जीत कर अन्त में इस धरती का भगवान बन सकता है। इस में सन्देह नहीं, केवल दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है।



वतलाएगा तो डाक्टर दवाई पेट दर्द की शान्ति के लिये ही देगा और ऐसी दवाई खाने से परिणाम विपरीत ही होगा। सिर दर्द तो जाएगा नहीं और अनावश्यक दवाई पेट में जाने से एक नया रोग और पैदा होने की सम्भावना हो सकती है। झूठ जीवन का कहीं भी सहारा नहीं वनता। सत्य ही जीवन का सव से बड़ा सहारा है। जो लोग झूठ वोल कर अपना काम निकालते हैं, वे अन्त में अपने ही झूठ से नष्ट हो जाते हैं। अपना विश्वास खो वैठते हैं और मर कर दुर्गति के मेहमान वनते हैं। जैसे कि कहा है—

> धर्महानिरविश्वासो, देहार्थ-व्यसनं तथा।
> असत्यभाषिणां निन्दा, दुर्गतिश्चोपजायते॥

असत्य वोलने से धर्म की क्षति, लोगों में अविश्वास, देह और धन का नाश, लोक में निन्दा और परलोक में दुर्गति की प्राप्ति होती है।

आत्म-शान्ति का साधक व्यक्ति झूठ से सदा दूर ही रहता है।

शास्त्र ने श्रावक के लिये स्थूल मृषावाद का सर्वथा त्याग करने का विधान किया है। स्थूल झूठ का अर्थ है वह झूठ जिससे व्यक्ति 'झूठा' इस संज्ञा से पुकारा जाए और लोक में सर्वत्र निन्दा का पात्र वने। झूठे लेख लिखना किसी पर झूठा कलंक लगाना तथा झूठी साक्षी देना आदि झूठों को स्थूल झूठ में रखा गया है। श्रावक के लिये सूक्ष्म झूठ का 'आगार' अर्थात् छूट रखी गई है। सूक्ष्म का अर्थ यहां 'गहरा' नहीं, क्योंकि जो वहुत गहरा और वारीक होता है वह वहुत खतरनाक और विनाशक भी होता है, जैसे कोई सूक्ष्म ढंग से कोई वात कहे तो वह ऊपर से साधारण होती हुई भी वहुत दूर तक मार करती है। जैसे कि एक उदाहरण से आप समझेंगे।

एक व्यक्ति किसी सभा में एक अच्छा सुन्दर कोट पहने वैठा था। एक सेठ जी सभा में आए और उसके पास आकर वैठ गए। फिर उसकी तरफ देखा और वोले—"क्यों भाई! कोट ठीक है न? कहो तो और वढ़िया ले दें।" यह सुनते ही वह गरीव वन्धु सिर झुकाकर रोने लगा। सेठ जी की वातें वड़ी सूक्ष्म थीं, उससे यह जाहिर हो गया कि वह

कोट उसने मांग कर पहना है और उसके दाता वे सेठ जी ही हैं।

इस प्रकार सूक्ष्म ढंग से कही हुई बात से गरीब बन्धु के दिल पर वज्रपात करके उसकी इज्जत को मिट्टी में मिला दिया उस सेठ ने।

भगवान महावीर ने ऐसे वचनों को भी झूठ ही कहा है। ऐसे वचन मर्मभेदी होने से सदा वर्जनीय हैं? ऐसे वचन बड़े भयानक होते हैं। ऐसी वाणी सत्य होने पर भी हिंसा-जनक होने से झूठी ही समझी जाती है। इसीलिए शास्त्र में 'अहिंसा और सत्य' को एक साथ रखा गया हैं।

श्रावक के व्रत में जिसे सूक्ष्म-झूठ कहा गया है उसका अर्थ सामान्य या साधारण से है। जैसे दुकानदार ग्राहक से कहता है कि हम कमती बढ़ती नहीं करते, किन्तु जब ग्राहक वापिस जाने लगता है तो फिर कहने लगता है "अच्छा, लो एक रुपया कम ही दे दो, सुबह-सुबह का टाइम है, हम तुम्हें निराश नहीं करना चाहते और फिर तुम पहली बार इस दुकान पर आए हो, चलो एक रुपया कम ही सही।" इस प्रकार साधारण झूठ के अनेकों उदाहरण हो सकते हैं। ये वे झूठ हैं जो प्रवृत्तिमय एवं व्यवहारमुखी जीवन में घुल-मिल से जाते हैं। दृढ़ निश्चयी व्यक्ति इन्हें भी छोड़ सकता है। वह समाज में अधिक प्रामाणिक रूप से अपना व्यवहार चला सकता है। सत्य जीवन का स्वर्णिम व्रत है, इसकी शक्ति से व्यक्ति सारे संसार को जीत कर अन्त में इस धरती का भगवान बन सकता है। इस में सन्देह नहीं, केवल दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है।



१६

योग-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में संयम एक विवेचन

आनन्द ही साधना का लक्ष्य है—ध्येय है। जिस साधना से मनुष्य को स्वरूप की उपलब्धि तथा आनन्द का आस्वादन होता है, उस साधना को हम संयम की परिधि में रख सकते हैं। अन्य केवल संयम का प्रदर्शन है—दम्भ मात्र है। वह केवल बाह्य क्रियाओं तथा वेष-भूषा में लिपटा हुआ संयम का बाह्य शरीर मात्र है जो इस शरीर के साथ ही जल कर राख हो जाता है। आभ्यन्तर संयम ही आत्मा की सच्ची पूंजी है जो उसे साधना के सोपानों पर ले जाकर पूर्णता तक पहुंचा देता है।

षट् दर्शनों में योग-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह शास्त्र समीक्षा-प्रधान न हो कर साधना-प्रधान है। अष्टांग योग योग-शास्त्र की आत्मा है। यह वह आध्यात्मिक विज्ञान है जिससे मनुष्य जीवन की क्रमिक आध्यात्मिक साधना करता हुआ अपने स्वरूप को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। जैन-धर्म में संयम "केवल-ज्ञान" को प्रकट करके परिपूर्ण होता है। योग-शास्त्र में भी योग-साधना का फल "कैवल्य" ही माना गया है। इस दृष्टि से जैन-दर्शन तथा योग-दर्शन परस्पर साम्य रखते हैं और जीवन के एक ही अक्षय लक्ष्य पर पहुंचने का प्रयास करते दिखाई देते हैं।

पातंजल अष्टाङ्ग योग एक प्रकार का आत्म-संयम है जो बाह्य-

सक्त जीवन को अन्तर्मुखी बनाकर उसे अपने सत्य स्वरूप में अवस्थित करता है और वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है। मानव-हृदय एक सागर की तरह है, असंख्य विचार-ऊर्मियां उसमें निरन्तर उठती रहती हैं, एक क्षण भी इनमें विश्राम नहीं। योग-दर्शन में मन के इन प्रशस्ताप्रशस्त संकल्प-विकल्पों को ही वृत्ति कहा गया है। ये ही रागद्वेषात्मक वृत्तियां मनुष्य के दुःख-सुख का कारण हैं। सुख-दुःख रूप द्वन्द्वों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये इन वृत्तियों को संयमित करना नितान्त आवश्यक है । इस आधार पर **"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः"** सूत्र द्वारा चित्त-वृत्तियों को रोकने का नाम 'योग' रखा गया है। पातंजल दर्शन में वास्तव में यही संयम की परिभाषा है। योग के आठ अंग हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अष्टाङ्गयोग की प्रक्रिया यम से आरम्भ होकर समाधि में परिसमाप्त होती है। यम क्या है ? इस पर योगसूत्र का कथन है—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः"—अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पांच यम हैं।

कर्म-विज्ञान में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा जागतिक पदार्थों का संचय एवं आसक्ति ही सब से बड़े दोष हैं, अन्य समस्त दुष्कृत इन्हीं के अन्तर्गत हैं। इन दोषों से निवृत्त हो कर अहिंसा आदि व्रतों का सम्यक् आचरण ही पातञ्जल-दर्शन में यमों की साधना कही गई है। आत्म-संयम की यही आधार-शिला है—Foundation stone है। नियमों के सम्बन्ध में कहा है—

"शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।"

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पांच नियम हैं।

बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि को शौच कहते हैं। प्रिय-अप्रिय, संयोग-वियोग तथा सुख-दुःख में समभाव रखना तथा प्राप्त वस्तु से

संतुष्ट रहना ही संतोष है। इच्छाओं का निरोध तथा कष्ट-सहिष्णुता को तप कहते हैं। उपवास आदि को भी इसीलिये तप कहा जाता है कि उसमें भी इच्छा का नियमन किया जाता है।

सुविचारप्रद शास्त्रों का पठन-पाठन श्रवण-मनन ही स्वाध्याय है। अपने जीवन के गुण-दोषों का निरीक्षण-परीक्षण करना भी स्वाध्याय ही है। प्रभु का गुण-कीर्तन तथा नाम का जप करना भी एक प्रकार का स्वाध्याय है। भगवान् की आज्ञा का पालन करना तथा फलेच्छा आसक्ति तथा अहंभाव को छोड़कर समर्पण-भाव से कर्म करना ईश्वर-प्रणिधान कहा गया है। ये नियम यमों की साधना में सहायक रूप हैं। शौच के बिना सत्य की साधना नहीं हो सकती, सन्तोष से ही अस्तेय तथा अपरिग्रह का परिपालन किया जा सकता है, तप से ही ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का आचरण हो सकता है, इन समस्त संस्कारों को परिपुष्ट करने के लिये स्वाध्याय परमावश्यक है। आखिर यमों का साधक शरीर रहते स्व-पर के लिये कुछ कर्म तो करेगा ही। उस कर्म-बन्धन से अस्पृष्ट रहने के लिये ही ईश्वर-प्रणिधान की उपयोगिता है।

जैसे कृषक धरती से कंकर-पत्थर तथा तिनके आदि चुनकर और हल चला कर उसे बीज बोने के योग्य बनाता है, ठीक इसी तरह संयम-साधना (योग-साधना) के लिये चित्त की धरती को यमों तथा नियमों का हल चलाकर सुयोग्य बनाया जाता है।

यमों तथा नियमों में परिपक्वता आ जाने पर फिर आसन प्राणायाम तथा प्रत्याहार किये जाते हैं। ये पांचों मिलकर संयम के बहिरंग अंग है। आसन से शरीर का संयम किया जाता है। आसन किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर योग-दर्शन ने देते हुए कहा है—

'स्थिरसुखमासनम्'

सुख-पूर्वक स्थिर बैठने का नाम आसन है। वैसे आसनों के अनेक भेद कहे गये हैं, किन्तु सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन योग-साधना में विशेष उपयोगी माने जाते हैं। आसन में मेरुदण्ड मस्तक

और ग्रीवा को सीधा तान कर रखा जाता है। दृष्टि को नासिकाग्र तथा भृकुटी के मध्य में स्थिर करना चाहिये। आंखों की पलकें कुछ झुकी हुई किन्तु आलस्य-रहित होनी चाहिये। इस प्रकार आसन का अभ्यास हो जाने पर इन्द्रियों के संयम के लिये मार्ग सरल हो जाता है। जैन-धर्म में इसे "काया का संयम" कहा गया है।

योग-दर्शन की दृष्टि में प्राणायाम भी मन, इन्द्रियों तथा शरीर के संयम का एक अनुपम उपाय है। प्राणायाम की परिभाषा देते हुए कहा है—

"श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः"

श्वास तथा प्रश्वास की गति को रोकने का नाम प्राणायाम है। यह प्राणायाम की प्रक्रिया संयम में किस प्रकार सहायिका होती है, यह जरा समझने की बात है। मन, इन्द्रियों तथा शरीर को गति देने वाला प्राणवायु ही है। इसका निरोध हो जाने पर सब का निरोध स्वतः ही हो जाता है। गति-संस्कार से ही मन इन्द्रियों तथा शरीर के व्यापार होकर कर्म की निष्पत्ति होती है। प्राणायाम से गति का निरोध किया जाता है और फिर धारणा ध्यान और समाधि के द्वारा संस्कारों को भी निःशेष कर दिया जाता है। इस प्रकार प्राणायाम से समाधि के लिये अनुकूल भूमिका तैयार हो जाती है। मन का संयम हो जाने से इन्द्रियों का संयम स्वतः हो जाता है, किन्तु इन्द्रियों के संयम से भी मन का संयम किया जाता है। इन्द्रियां जब अपने-अपने विषयों से हट जाती हैं तो मन उनके विषय में सोचना बन्द कर देता है। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि मन के बिना इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं, किन्तु यह भी तथ्य है कि इन्द्रियों का सहयोग न मिलने पर मन के व्यापार भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। वासना की लहर भी मन के द्वारा ही इन्द्रियों तक जाती है और आत्मा की ज्ञान-किरणें भी मन के माध्यम से ही बुद्धि तक पहुंचती हैं और फिर वह विवेकिनी बुद्धि समस्त इन्द्रियों को विषयों से रोकती है। योग-दर्शन में इसे ही प्रत्याहार कहा गया है। इसके सम्बन्ध में सूत्र है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकारः इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

अपने-अपने विषयों के संयोग से रहित होकर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में अवस्थित हो जाना प्रत्याहार है। जैन-धर्म में इसे "प्रति-संलीनता" कहा गया है। वास्तव में यम-नियम आसन प्रात्याहार का नाम संयम नहीं है, न ही इनके समुदाय को संयम कह सकते हैं। ये संयम के वास्तव में वहिरंग साधन हैं। ये संयम के अन्तरंग साधन धारणा ध्यान तथा समाधि को सहायता देते हैं, या उनके लिये अनुकूल भूमिका का निर्माण करते हैं, उपर्युक्त वाह्य साधनों की साधना में परिपक्व हो जाने पर संयम की अन्तरंग-साधना आरम्भ होती है। उसमें सवसे पहले है 'धारणा" इसका लक्षण है—

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा

चित्त को किसी एक देश में स्थिर करना ही धारणा है। सूक्ष्म या स्थूल किसी भी वाह्याभ्यन्तर केन्द्र में शुभाशुभ वृत्तियों से तरंगित चित्त को बांध देना ही धारणा है। धारणा की अवस्था में चित्त पूर्णतया एकाग्र नहीं होता। उसकी स्थिति वातानुप्रेरित दीप-शिखा सी रहती है। मन की यह टिमटिमाने वाली स्थिति ध्यान की साधना से एक लक्ष्यी हो जाती है। ध्यान के सम्वन्ध में सूत्र है—

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।

अर्थात् धारणा में जो ध्येय वस्तु है उसमें चित्तवृत्ति का एकतान हो जाना ध्यान है।

ध्यानावस्था में चित्त गंगा के प्रवाह तथा तैल-धारा की तरह अविच्छिन्न स्थिति धारण कर लेता है, किन्तु ध्यान की स्थिति में ध्याता-ध्यान तथा ध्येय का भान वना रहता है। इस त्रिपुटी को प्राप्त करने के लिये समाधि का अभ्यास किया जाता है। समाधि की दशा में ध्याता ध्येयाकार ही हो जाता है। वहां ध्याता ध्येय से अपने को भिन्न नहीं समझता। समाधि का स्वरूप वताते हुए कहा गया है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

जिस स्थिति में ध्येय मात्र का ही भाव रह जाता है और ध्याता अपने आपको भूल सा जाता है, उसे ही समाधि कहा जाता है। समाधि

का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—

सम्पन्ना धीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र सः समाधिः।

अर्थात् विक्षेपों को दूर कर मन को एकाग्र करना ही समाधि है। इस से भाव यह है कि समाधि की अवस्था में ध्यान, ध्याता तथा ध्येय एकाकार हो जाते हैं। वहां इन तीनों में कोई भेद नहीं रह जाता। योग-दर्शन में इन तीनों के समूह को ही संयम कहा गया है। जैसेकि सूत्र है—

त्रयमेकत्र संयमः

इन तीनों के समुदाय को ही संयम कहा जाता है। जीवन की वास्तव में यही सर्वोच्च स्थिति है जहां उसे स्वरूप की संप्राप्ति हो जाती है।

जैन-दर्शन में समाधि के स्थान पर 'कायोत्सर्ग' का विधान है। साधना की जिस स्थिति में पहुंच कर शरीर तक का भान नहीं रहता वही कायोत्सर्ग है। मन का निरोध हुए विना देहाध्यास नहीं टूटता। कायोत्सर्ग में तीनों भागों का नियमन किया जाता है। समाधि और कायोत्सर्ग में प्रायः साम्य हो है। यहां पहुंच कर जीव मल-विक्षेपों को शान्त कर धीरे-धीरे ध्येय की स्थिति को पा लेते हैं।

संयम का फल वताना इस लेख का विषय नहीं, वल्कि संयम का विवेचन ही यहां इष्ट है, जो उक्त सूत्र में स्पष्ट है।





त्याग-सिन्धु की गहराइयां

त्याग जीवन का सर्वाधिक कठिन व्रत है। त्याग की साधना केवल वस्तु-विशेष को बाहर से छोड़ देने से नहीं होती, बल्कि इस के लिये आसक्ति की जड़ ममत्व-वृत्ति को उखाड़ कर फेंकना पड़ता है। साधक को अपनी वृत्तियों का केवल दमन तथा नियमन ही नहीं करना होता, बल्कि उनका उन्मूलन भी करना होता है। बाहर का त्याग ममत्वोच्छेदन की केवल पूर्व भूमिका के रूप में ही जीवन में आता है। बाहर से सब कुछ छूट जाने पर भी कभी हृदय से कुछ भी नहीं छूटता, किन्तु जब हृदय बाहर के जागतिक पदार्थों का मोह छोड़ देता है तो फिर बाहर से सब कुछ अपने आप छूटने लगता है। यदि साधक की अपनी ममत्व-वृत्ति पर विजय न हो तो त्यागी हुई चीज भी जीवन में फिर आने लगती है। तब साधक अपने शरीर को सुखा कर भी अपने लक्ष्य से करोड़ों मील दूर रहता है।

आगमों के आख्यान इस तथ्य को साक्षी देने में काफी प्रबल एवं सक्षम हैं। ज्ञाता धर्म-कथा के मेघ कुमार ने कोई कम त्याग नहीं किया था, किन्तु एक ही रात में उसके मन की दुनिया में भूकम्प आ गया, एक ही ठोकर खाकर उसका चित्त तूफान में उखड़े हुए शैल-शिखर के पाषाण-खण्ड की तरह लुढ़कने लगा था। एक बार फिर वह दुनिया में आने के लिए तैयार हो गया। एक ही रात्रि में जीवन का नक्शा बदल जाये यह कोई कम आश्चर्य नहीं है।

जीवन के अन्तस्तल में पहुंच कर आपको ज्ञात होगा कि यह

सारा चमत्कार उस अहं-वृत्ति का है जो मोहनीय कर्म में अनादिकाल से कुण्डली मार कर बैठी हुई है, जब यह फुफकार मारती है तो जीवन के सब बन्धनों को तोड़ कर दूर फैंक देती है। मर्यादा श्रद्धा से उत्पन्न होती है और अश्रद्धा से टूट जाती है। आत्म-ज्ञान साधक के अन्तरङ्ग में सत्य के प्रति विश्वास पैदा करता है, इसलिये सत्य का साधक सत्य की उपलब्धि के लिये मर्यादा को सहर्ष स्वीकार कर लेता है, किन्तु मोहनीय कर्म के उदय से उसे फिर आत्मा में अरुचि होने लगती है और स्वीकृत बन्धन अपने आप छूटने लगते हैं। जिन सांसारिक विषयों को वह गंदगी का ढेर समझ कर छोड़ देता है, एक दिन फिर वह उन्हें ही जीवन की पुष्प-शय्या बना कर बैठ जाता है।

आखिर ऐसा क्यों होता है ? बात बिल्कुल स्पष्ट है कि शरीर और इन्द्रियों द्वारा साधक दुनिया से भले ही कितना भी दूर चला जाये किन्तु यदि वह मन में दुनिया का मोह लिये बैठा है तो वह वस्तुत: दुनिया में ही है। कोई गलती से उसे दुनिया का त्यागी न समझ बैठे। चारपाई एवं पलङ्ग पर सोने वाला व्यक्ति कभी इधर करवट लेता है तो कभी दूसरी ओर करवट ले लेता है। हम देखते हैं कि ऐसा करने से उसके मुंह की दिशा ही बदलती है, पलंग नही बदल जाता, उस पलंग की सुखासक्ति दोनों स्थितियों में बराबर बनी रहती है। ठीक इसी तरह यदि हृदय में ममता एवं वासना अपनी जड़ जमाये बैठो रहे तो फिर वेष के बदलने से दुनिया नहीं बदल जाती है, केवल साधक मोह-शय्या पर करवट ही बदलता है। मोह का पलंग नहीं छोड़ता।

एक उदाहरण और देता हूं कोई भी व्यक्ति अपनी तिजौरी को अपने सिर पर उठा कर नहीं फिरता। केवल उसकी जेब में चाबी ही होती है। जिसकी जेब में तिजौरी की चाबी है तिजौरी भी उसी के पास समझी जाती है। भले ही वह तिजौरी से दूर बैठा हो। कुंजी से वह कभी भी आकर अपनी तिजौरी खोल सकता है।

यह संसार भी विषयों की एक तिजौरी है। इसकी कुंजी मोह है। दुनिया की तिजौरी केवल अपने घर में ही नहीं होती, यह इस

धरती पर कहीं भी मिल सकती है। यह कोई छोटी-मोटी तिजौरी नहीं बहुत बड़ी तिजौरी है। मानव धरती पर कहीं भी चला जाए वहीं यह पड़ी रहती है। जिसके पास मोह की कुंजी रहती है वह इसे कहीं भी खोल लेता है। वस्तुतः वासना का ही नाम संसार है, दुनिया है। किसी विद्वान् ने कहा भी है कि—

कामानां हृदये वासः, संसार इति प्रकीर्तितः।
तेषां सर्वात्मना नाशः, मोक्ष उक्तो मनीषिभिः।

अर्थात् हृदय में कामनाओं का वास ही संसार है। जब वह सम्पूर्णतया नष्ट हो जाता है, तब वहीं मोक्ष प्रकट हो जाता है। बुद्धिमान् कामना के नाश को ही मोक्ष कहते हैं।

साधक के मन में जहां कामना उत्पन्न होती है वहीं संसार खड़ा हो जाता है। इस तथ्य की पुष्टि में एक दो उदाहरण देना उपयुक्त रहेगा।

उत्तराध्ययन सूत्र के बाईसवें अध्ययन में रथनेमि का वर्णन उपलब्ध होता है। उसका त्याग भी कुछ कम नहीं था। वह पर्वत की एकान्त शांत गुफा में ध्यान-मग्न था, किन्तु मोह के एक ही झटके ने उसे ध्यान-मग्न से काम-मग्न बना दिया और वह एक बार फिर संसार बसाने के लिये तैयार हो गया। संसार कहीं बाहर नहीं है, वह तो व्यक्ति के अन्तरंग में ही रहता है। जैसे बट वृक्ष अपने छोटे से बीज में समाया रहता है, ऐसे ही यह सारा जगत मनुष्य की ममता-वृत्ति में समाया रहता है। निमित्त पा कर यह कहीं भी प्रकट हो सकता है।

मुनि प्रसन्नचन्द्र की बात आपने अनेकों बार सुनी है, शायद चिन्तन उस पर एक बार भी न किया हो। उसने अपने पुत्र पर शत्रु द्वारा आक्रमण की बात सुनकर अपने मन को रण-भूमि बना दिया था। वह और कुछ नहीं था, वह अपने राज्य तथा पुत्रों का ममत्व ही था, जिसने एक मुनि को भी समर-भूमि का योद्धा बना दिया।

इन सभी शास्त्रीय प्रमाणों से यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि कोई भी साधक शरीर मात्र से दुनिया को छोड़ कर

दुनिया से अलग नहीं माना जा सकता।

पतंग आकाश में बहुत दूर रह कर भी उड़ानेवाले पतंगबाज के हाथ में ही रहती है। अलग तो वह तभी होती है जब धागे से उसका सम्बन्ध टूट जाता है। इसी तरह जब तक साधक दुनिया से ममता की डोरी द्वारा बन्धा हुआ है, तब तक वह दूर रहकर भी संसार में आसक्त ही समझा जाता है। व्यक्ति के मन को दुनिया के विषयों से बांधने वाली यदि कोई डोरी है तो वह है ममता, जब वह टूट जाती है तो मनुष्य का सम्बन्ध भी संसार से छूट जाता है। वास्तव में शरीर और इन्द्रियों के सम्बन्ध को ही सम्बन्ध न कह कर ममत्व को ही सम्बन्ध कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि किसी भी बाह्य पदार्थ के साथ शारीरिक तथा ऐन्द्रिक सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण की मोहरूपी सूक्ष्म वृत्ति के ही स्थूल परिणाम हैं।

अष्टांग योग का सामान्य सा भी परिचय रखने वाले महानुभाव जानते हैं कि ऋषि पतञ्जलि ने शरीर और इन्द्रियों के निरोध को योग न कह कर केवल चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा हैं। सूत्र लिखने से पहले दर्शन के उस महान् आचार्य ने यह अवश्य अनुभव किया होगा कि साधक शरीर और इन्द्रियों का निरोध करके एक जगह पर निश्चल होकर खुश हो जाता है। देखने में यह ऐसा लगता है जैसे कि कोई चट्टान खड़ी हो, किन्तु वृत्तियों के घोड़े पर चढ़ कर वह चट्टान भी सारी दुनिया में घूम आती है। किसी को मालूम तक भी नहीं होता कि उस साधक ने बिना चले ही कितनी बड़ी यात्रा कर ली है। जीवन की ऐसी विकट एवं विषम स्थिति में समाधि में भी उपाधि पलती रहती है। संवर की वेला में भी आश्रव होता रहता है। निर्जरा के प्रयास में कर्म-बन्ध का क्रम चलता रहता है।

शरीर दुनिया से दूर होता है तो चित्त आत्मा से दूर चला जाता है। यह सब कुछ मोह-पूर्ति के प्रभुत्व से ही घटित होता है।

एक बात और समझ लेनी चाहिये वह यह है कि इन्द्रियों को तो विषय-जगत में जाने के लिये मन की आवश्यकता रहती है, किन्तु मन

किसी भी इन्द्रिय की परवाह नहीं करता। यह अकेला ही अनुभूति के लोक में समस्त विषयों का साक्षात्कार कर लेता है, प्रत्येक विषय अन्तरङ्ग में पड़ा रहता है। मन के उपयोग के लगते ही वह सजीव—साकार होकर सामने आ कर खड़ा हो जाता है। उसके लिये शरीर और इन्द्रियों की कोई अपेक्षा नहीं रहती। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना अधिक उपयोगी रहेगा।

प्रत्येक युवक समझता है कि बचपन गया और हर एक बूढ़ा यह समझता है कि उसका यौवन गया, किन्तु मैं कहता हूं कि वह कहीं गया नहीं आपके अन्दर ही खड़ा है। कोई भी वृद्ध या युवक आंखें बन्द कर अपने अन्तरङ्ग में बचपन के चल-चित्र देख सकता है, कोई भी वृद्ध पुरुष अन्तर में झांक कर अपने यौवन की बहारों का साक्षात्कार कर सकता है।

शरीर दिन-प्रतिदिन छिन्न-भिन्न होता रहता है, किन्तु वृत्ति तो अविच्छिन्न बनी रहती है। केवल एक जन्म की विभिन्न अवस्थाओं की विविध घटनाओं से ही इसका सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि अनेकों पूर्व जन्मों से भी इसका सम्बन्ध बना रहता है तथा वह अनेक जन्मों तक निरन्तर चलता रहता है। आवागमन का मूल वृत्ति ही है। जैन-धर्म में समस्त वृत्तियों का अन्तर्भाव एक मात्र 'राग-वृत्ति' में कर दिया गया है। आप सब जानते हैं कि वैराग्य के पश्चात् ही जीवन में त्याग का प्रवेश होता है, त्याग की नींव वैराग्य ही है।

इसका सीधा तात्पर्य यह हुआ कि राग - मुक्त होने के बाद ही त्याग की साधना प्रारम्भ होती है और साधना आखिर किसी साध्य को पाने के लिये ही की जाती है। साधक के वैराग्यमय तथा त्यागमय जीवन में भले ही स्थूल जगत का स्थूल मोह किसी को नजर न आता हो, किन्तु उसकी साधना इस तथ्य की द्योतिका है कि इस स्थूल जगत से परे कुछ और भी शेष है जिस पर विजय पाना अभी बाकी है। वह अन्य कुछ नहीं, वह मोह रूप सूक्ष्म वृत्ति ही है। सूक्ष्म के नष्ट होने पर स्थूल अपने आप समाप्त हो जाता है।

योग जीवन का एक आध्यात्मिक विज्ञान है। इसमें आत्मा के अनन्त सुखमय साम्राज्य में प्रवेश पाने के उच्चतम मार्ग का निर्देश किया गया है। पतञ्जलि ने उस निर्देश में योग द्वारा चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही प्राधान्य दिया है। शरीर आदि की निरोध-साधना तो योग के पांच अंगों अर्थात् यम से लेकर प्रत्याहार तक ही सम्पन्न हो जाती है। यहां तक योग सिद्ध नहीं होता, केवल उसकी भूमिका तैयार होती है।

जैन-धर्म में पांच महाव्रतों का आग्रहण भी केवल वृत्तियों का संक्षेपीकरण करने के लिये ही किया जाता है। वह स्वयं अपने में त्याग नहीं, वल्कि त्याग की भूमिका है। उस भूमिका पर निश्चल खड़े होकर उसे वृत्ति-संक्षेप के पश्चात् वृत्ति - निश्शेष की साधना करनी होती है। वृत्तियों का अभाव ही वीतरागत्व का सर्वोच्च शिखर है। इस शिखर पर पहुंचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य है ही, क्योंकि वृत्ति-निश्शेष तो बहुत दूर की बात है, वृत्तियों का उपशमन भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है। देखा जाता है कि हृदय के प्राङ्गण में राग-द्वेष की कलुषित वृत्तियां क्षणों में ही अठखेलियां करने लगती हैं। आकाश में सावनी वादलों के उमड़ने में भी कुछ समय लगता है, किन्तु हृदय-गगन पर वृत्तियों की काली घटाएं छाने में इतना भी समय नहीं लगता। सागर में लहरों की क्रीड़ा प्रायः सागर के अन्दर ही होती है, कभी अपवाद में ही उसका आक्रमण बाह्य क्षेत्रों में होता है किन्तु यह चित्त एक ऐसा सागर है जिसमें राग की असंख्य लहरें अन्तर्जगत को उद्वेलित करके बाहर के इस विराट् जगत के अनन्त जड़ एवं चेतन पदार्थों पर भी आक्रमण कर देती हैं।

व्यक्ति अनुकूल को आकर्षित करने का प्रयत्न करता है और [illegible] जो प्रतिकूल है उसे अपने निकट आने से रोकता है। इसके [illegible] बाहर से प्रतिक्रिया के रूप में भी कुछ [illegible] है [illegible] स्वयं भी किसी के लिए अनुकूल या किसी के लिए [illegible] है [illegible] उसके [illegible] विचार [illegible] तो किसी के [illegible] है। [illegible]

मनोहर विचारों के [illegible]

धारणाएं किसी को समीचीन प्रतीत होती हैं तो किसी को उन में अनौचित्य की प्रतीति होती है। जो समान की कोटि में आ जाता है वह उससे सहमति रखने लगता है, कभी-कभी उसे सहयोग भी देता है; अत्यन्त सान्निध्य में पहुंच कर वह उसे अपनाने भी लगता है, किन्तु जब सामीप्य भी समाप्त हो जाता है तो फिर समान-समान में ही समाकर एक समान हो जाता है। यही है राग के आकर्षण की कहानी।

अब जो जिस व्यक्ति के विचारों को अपने से असमान पाता है और उनमें अनौचित्य देखता है, वह आलोचक बनकर उनसे असहमति रखता है, उनका असहयोग करता है तथा कभी-कभी वह द्वन्द्वयुद्ध के लिए सन्नद्ध होकर अखाड़े में भी उतर आता है यह है विद्वेष-जन्य विकर्षण की कहानी।

यह तो चेतन जगत् के साथ व्यक्ति के आकर्षण-विकर्षण की बात मैंने कहीं है, किन्तु अचेतन जगत् में भी व्यक्ति के राग-द्वेषात्मक अन्त-रंग के कारण इस प्रकार की खींचा-तानी चलती रहती है, अन्तरंग और बाह्य जगत का यह तुमुल युद्ध अनादि काल से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में चल रहा है और जब तक जीवन के अन्तस् में मोह एवं अहं-वृत्ति का आधिपत्य रहेगा, तब तक यह जीवन सागर अपनी उत्ताल तरंगों से बाहर-भीतर अपनी विनाश-लीला करता ही रहेगा। यह लीला कभी बन्द नहीं होगी।

जिन्होंने जीवन में सब पापों का त्याग नहीं किया उनके जीवन में तो राग-द्वेष के प्रसंग आते ही रहते हैं। इनमें किसी को भी विशेष आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि जहां त्याग की सम्पूर्णता नहीं वहां फिर चिन्ता, शोक, विषाद, वैमनस्य, विक्षेप, कलह तथा संघर्ष को प्रवेश पाने का पूरा अवकाश रहता है, किन्तु जिस ने अपने हृदय के सच्चे वैराग्य से प्रेरित होकर सारी दुनिया छोड़ दी है, जो ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूपी रत्नों को अपने जीवन रूपी तिजोरी में सुरक्षित रख कर श्रमण-धर्म की साधना का केवल कोरा साधक ही नहीं, बल्कि एक सच्चा

आराधक बन कर चल रहा है, जिसने जीवन में केवल व्रत ही नहीं, बल्कि महाव्रत ग्रहण किये हैं, वह भी एक नहीं बल्कि पांच-पांच, वह ग्रहण भी कोई आंशिक नहीं है, वह ग्रहण तीन करण एवं तीन योग से ही जीवन में उदित होता है। जिसने मिथ्यात्व अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योग इन सब आस्रव-द्वारों को छोड़ने का प्रण लिया है, जिसने आजीवन संवर में रहने को भीष्म प्रतिज्ञा की है, जिसने गुरु, संघ तथा सिद्ध भगवान् के सन्मुख खड़े होकर आत्म-साधना तथा शासन-सेवा का कठोर मार्ग सहर्ष स्वीकार किया है, यदि उसका त्यागमय जीवन भी संघर्ष का मैदान बन जाये तो फिर क्या दुनिया में किसी को आश्चर्य नहीं होगा ? होगा, अवश्य होगा।

जीवन और जगत् के उत्कर्ष के लिए यदि संघर्ष किये जाये तो वह संघर्ष भी जीवन-साधना का एक मनोरम अंग बन जाता है। ऐसे संघर्ष से जीवन का स्वर्णिम इतिहास भी निर्मित होता है, किन्तु जो लड़ाई अहं एवं अपने प्रक्ष के व्यामोह से लड़ी जाती है, उससे जीवन का कोई भी पक्ष पुष्ट एवं प्रभावक नहीं बनता। ऐसे निरुद्देश्य संघर्षों से न तो साधक को अपना साध्य मिलता है और न ही अपने अहं से व्याप्त होने के कारण वह जन-मानस के हृदय में सत्य को उतारने में सक्षम हो पाता है। इस तरह जन-मत भी उसके पक्ष में नहीं बन पाता। यदि कहीं उसके पक्ष में सत्य की कोई झीनो सी रेखा हो भी तो वह विपक्षी के अन्तरङ्ग तक पहुंच नहीं पाती, क्योंकि आगे वह विरोधी भी किसी अहं में फंस कर ही संघर्ष में उतरता है। उस विपक्षी का अहं उसके सत्य को भी असत्य रूप देकर प्रस्तुत करने के लिये तैयार रहता है। आज तक कोई भी अहवादी सत्य का दर्शन नहीं कर सका, क्योंकि अहं और सत्य का शाश्वत वैर है। अहं की पिटारी में छल-कपट, मद, मत्सर वैर-विरोध तथा मोह के विषैले नाग पड़े रहते हैं, जबकि सत्य के कलश में आर्जव तथा मार्दव का अमृत ही अमृत रहता है। सत्य बड़ा सीधा-सादा सरल तथा स्पष्ट होता है।

अहं का मोह दूसरे के सत्य को पचा तो नहीं सकता, किन्तु अपने सत्य को भी इतना जटिल एवं क्लिष्ट बना देता है कि वह दूसरे के

अन्तरङ्ग में उतर ही नहीं पाता और कटु भी वह इतना हो जाता है कि दूसरा उसे सरलता से स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हो पाता। कभी-कभी तो एक दूसरे की सहिष्णुता को भंग करके और प्रतिक्रिया को जन्म देकर वातावरण की शान्ति भंग कर देता है।

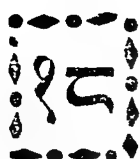
साधारण लोगों के लिये घर-बार का मोह तथा सगे-सम्बन्धियों का अनुराग छोड़ना कठिन होता है, किन्तु जो असाधारण लोग यह कठिन काम कर लेते हैं उनके लिये भी अहं का मोह एवं राग का छोड़ना कम कठिन नहीं होता। शायद इसीलिये किसी ने कहा है—

कंचन तजना सहज है, सहज तिरिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना एह॥

इसका भाव स्पष्ट है कि संसार को छोड़ देना जितना सरल है उतना अपने अन्तस् की 'मोहवृत्ति' पर विजय पाना सहज नहीं। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूं कि साधक आखिर धीरे-धीरे अपनी मनोवृत्तियों पर विजय पाने में सफल होता है, एकदम तो कोई शिखर पर नहीं पहुंच जाता। अन्तरङ्ग की मोहवृत्ति पर विजय ही जीवन-साधना की चरम सीमा है। इसके लिये एक लम्बी साधना की पग-डण्डी साधक को पार करनी पड़ती है।

वस्तुतः जीवन का यह कठोर सत्य है, मैं इससे पूरी तरह सहमत हूं, किन्तु इतना तो अवश्य देखना पड़ेगा कि साधक ठीक अपने लक्ष्य-विन्दु की ओर ही बढ़ रहा है या किसी और ही दिशा की तरफ जा रहा है। प्रत्येक बाह्य अपने अन्तरङ्ग का प्रायः सूचक होता है। बाहरी वातावरण को भी मानव के आन्तरिक भावों का प्रतिविम्ब ही समझना चाहिये।

जैन-शासन एक विशुद्ध आध्यात्मिक शासन है, किन्तु आज कल इस पर अहंवाद के राहु की काली घटा छाई हुई है, यह सत्य विल्कुल प्रत्यक्ष है। क्या यह सत्य अध्यात्मवाद की पुष्टि करता है या जड़वाद को सिद्धि करता है? मोक्ष-मार्ग का पथिक प्रत्येक साधक अपनी आत्मा के दर्पण के सन्मुख खड़ा होकर इसका निर्णय कर सकता है। ●



आत्म-साधना का नन्दनवन अप्रमाद



अप्रमाद को समझने के लिए सर्वप्रथम "प्रमाद" के स्वरूप को समझना होगा। हिंसा का स्वरूप समझ में आ जाने के बाद अहिंसा जल्दी दिमाग में बैठ सकती है। निषेध से विधान और विधान से निषेध की ध्वनि निरन्तर निकलती रहती है।

जैसे कि "झूठ मत बोलो" का अर्थ है 'सत्य बोलो', यही निषेध में विधान की ध्वनि है और 'दयावान् बनो" का भाव है "निर्दयी मत बनो"। यही विधान में निषेध की ध्वनि कही जा सकती है।

अप्रमाद में नञ् समास है, इसमें प्रमाद का निषेधात्मक अर्थ निहित है जो घूम-फिर कर अप्रमाद के अंक में ही आकर विश्राम पाता है, किन्तु वस्तु-तत्त्व का निषेधात्मक पक्ष विधेयात्मक पक्ष की अपेक्षा अधिक जोरदार तथा सशक्त होता है। निषेध व्यक्ति के स्वभाव तथा कर्म के मार्ग में एक तरह से प्रतिबन्ध के रूप में उपस्थित होता है। एक बार तो वह उसके श्रवण मात्र पर चौंक उठता है। प्रायः वह उसे आतुर श्रुतिपुटों से ग्रहण करता है। वह उसकी थाह पाने के लिए उसके अन्तरङ्ग से सम्बद्ध क्षणों में पहुंच जाता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार भी निषेध हृदय में अधिक गहरा बैठ जाता है और उसके दुष्परिणामों से बचने के लिए व्यक्ति अधिक सजग हो कर चलता है। निम्न उदाहरण से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

जब कोई कहता है कि "देखकर चलो" तो इस कथन पर व्यक्ति अधिक ध्यान नहीं देता, क्योंकि सामान्य शिक्षा प्रेरणा तथा उपदेश के प्रति व्यक्ति को विशेष आकर्षण नहीं होता। वह उसे सुना-अनसुना भी कर देता है। सभी लोग प्राय: ऐसा ही बोलते हैं। एक ही बात सबके मुंह से बार-बार सुनने पर श्रोता के कान उसके लिए अभ्यस्त हो जाते हैं। उसके मन में उसके लिए आकर्षण समाप्त हो जाता है और उसके परिणाम पर पहुंचने से पहले ही उसकी दृष्टि बीच में ही रुक जाती है। "देख कर चलो" इस विधानोक्ति को सुन कर कुछ ऐसा मालूम होता है कि देख कर चलने में कुछ अच्छाई है, लाभ है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति लाभ के लिए किसी शिक्षा का अनुसरण नहीं करता, क्योंकि लाभ के लिए लोभ सब के मन में नहीं होता। व्यक्ति जहां खड़ा है वहीं सन्तोष मान लेता है। आगे बढ़ने के लिए वह शीघ्र सचेष्ट नहीं होता। किन्तु निषेधात्मक ढंग से कहे गये वचन की स्थिति इस से सर्वथा भिन्न ही होती है।

जब कोई कहता है कि 'देखे बिना मत चलो' तो झट सुनने वाला व्यक्ति सतर्क एवं सावधान हो जाता है। वह सोचने लगता है कि रोज ही तो चलता हूं। आज तो निषेध किया गया है और एक कदम भी देखे बिना आगे बढ़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, इसके पीछे अवश्य कोई विशेष प्रयोजन तथा रहस्य है। अवश्य ही बिना देखे पग उठाने में कहीं कोई भय तथा हानि की स्थिति बन सकती है। वह भय और हानि की सम्भावना व्यक्ति को विशेष सावधान बना देती है। नियम है कि जो व्यक्ति लाभ के लिए सचेष्ट नहीं होता वह हानि से बचने के लिए अवश्य प्रयत्न करता है, क्योंकि हानि व अनिष्ट किसी को भी पसन्द नहीं है, यह इस प्रकृति का नैसर्गिक नियम है। इस में तनिक भी कृत्रिमता नहीं। मेरा अपना विचार है कि व्यक्ति को लाभ का प्रलोभन देकर सत्पथ पर लाने की अपेक्षा उसे हानि एवं अनिष्ट का भय दिखा कर कुमार्ग से शीघ्र निवृत्त किया जा सकता है। मनोविज्ञान के इस नियम के अनुसार "सदैव अप्रमत्त रहो" यह कहने की अपेक्षा "कभी प्रमाद मत करो" यह कहना अधिक

पांच प्रमादांकुरों का प्रारम्भ में व्यक्ति उन्मूलन नहीं करता तो प्रमाद का यह विष-वृक्ष लक्ष-लक्ष तथा कोटि-कोटि दुःख, शोक तथा संताप की शाखाओं एवं प्रशाखाओं में फैल कर जीवन को अपनी भयावह तथा काली छाया से आच्छादित कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र के इसी बत्तीसवें अध्ययन में यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी गई है कि प्रमादी व्यक्ति काम-गुणों में आसक्त होकर कभी शान्ति नहीं पाता। भोगों को भोगने से पूर्व, भोग के समय तथा भोग के पश्चात् वह सदैव अतृप्त ही रहता है। उसके मन में कभी सन्तोष नहीं होता। व्यक्ति के मन का असन्तोष उसे पर-पदार्थों के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। यह आकर्षण दूसरे की चीजों को तृषित नेत्रों से देखने के लिए विवश कर देता है। यह विवशता मानव के जीवन का वह सूक्ष्म किन्तु प्रबलतम बन्धन है जो अतृप्ति दोष के कारण उसे स्तेय और फिर असत्य की ओर ले जाता है। जीवन में जब असत्य आता है तो सत्य भगवान फिर जीवन से विदा हो जाते हैं और असत्य के साथ हिंसा, विद्वेष, अन्याय तथा शोषण जैसे अनाचार जीवन में चले आते हैं। समूचा जीवन दुष्कृतों एवं दुष्कर्मों से आक्रान्त हो कर पतन के गर्त्त में पहुंच जाता है। जीवन को कर्म-बन्धन से मुक्त रखने के लिए एवं आत्म-शुद्धि के सम्पादन और अभ्युदय की ओर निरन्तर अग्रसर रहने के लिए 'प्रमाद' जैसे इस महाशत्रु पर विजय पाना केवल आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है।

प्रमाद के जिनका पांच अंगों का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उनका संक्षिप्त विवरण मैं आगे चल कर दो चार शब्दावलियों में करूंगा ही, किन्तु अभी मैं 'प्रमाद' की सरल से सरल परिभाषा क्या हो सकती है? यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं।

हृदय का वह भाव जो 'स्व' में सुषुप्त और 'पर' में सदैव जागृत रहे वही वस्तुतः 'प्रमाद' कहा जाता है। प्रमाद के पांचों अंगों को यदि प्रमाद की इस कसौटी पर कसेंगे तो मालूम हो जायेगा कि वे प्रमाद की कोटि में क्यों रखे गये हैं? और इससे इसके पांचों अंगों का विस्तृत विवरण भी आप को मिल सकेगा।

१. पांच अंगों में पहला अंग है— विषय—

काम-गुणों को विषय कहते हैं। विषयों में आसक्ति मन की वैभाविक परिणति है। इन विकारों से प्रेरित होकर विषयों का उपभोग ही विषय-सुख है। विषय-सुख की वेला में व्यक्ति आत्म-विस्मृति में रहता है, अर्थात् उस समय आत्मा 'स्व' में नहीं पर में रमण करता है। इसीलिए विषयों को प्रमाद कहा जाता है।

२. प्रमाद का दूसरा अंग है— कषाय—

विषयों के प्रति आकर्षण लोभ के बिना नहीं होता। उचित ढंग से जब विषयी को विषय हाथ नहीं लगते तो वह माया अर्थात् छल का सहारा लेता है। उपलब्ध हो जाने पर उसका अहं जागता है और विषय-प्राप्ति में कभी कोई विघ्न आ जाये तो क्रोध पैदा हो जाता है। इस तरह जहां विषय है वहां कषाय तो रहता ही है, ये दोनों जुड़वां भाई हैं। कषाय व्यक्ति को स्वरूप से विमुख करके परभव में ले जाता है, इसीलिए कषाय को प्रमाद की परिधि में रखा गया है।

३. प्रमाद का तीसरा अंग है— निद्रा —

निद्रा जीवन का एक आवश्यक अंग है, फिर इसे प्रमाद क्यों कहा गया है? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना है कि निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का एक फल है। घातिक कर्म का अंग होने से इसका सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, बल्कि आत्मा से भी है। अतिभोजन तथा गरिष्ठ भोजन एवं प्रकाम रसों के उपभोग से व्यक्ति अतिनिद्रा लेता है। तब शरीर विश्राम के लोक में होने पर भी मन विषयों और कषायों के आकाश में उड़ता रहता है, मन की उस स्थिति को भी विभाव ही कहा जायेगा। इसी आधार पर निद्रा को भी प्रमाद माना गया है।

४. प्रमाद का चौथा अंग है— विकथा—

जो कथा-वार्ता मन की समता, समाधि तथा शान्ति को भंग

करके मन में वैषम्य उत्पन्न करे उसे विकथा कहते हैं। स्थानाङ्ग सूत्र के चौथे स्थान में विकथा के चार भेदों का निरूपण किया गया है—वह है (१) स्त्री-कथा, (२) भक्त-कथा, (३) देश-कथा और (४) राज-कथा।

१. स्त्री की वेष-भूषा एवं हाव-भाव से सम्बन्धित चर्चा—स्त्री कथा है।

२. भोजन-सामग्री तथा खान-पान के सम्बन्ध में होने वाली चर्चा—भक्त-कथा है।

३. देश की विविध घटनाओं एवं विग्रहों के सम्बन्ध में की जाने वाली चर्चा देश-कथा है।

४. राजा के आगमन-प्रयाण तथा उसके आचार-विचार से सम्बन्धित वार्ता को राज-कथा कहते हैं।

स्मरण रहे कि जिस कथा के पीछे सत्य, न्याय, सेवा तथा करुणा आदि भावों का अविरल प्रवाह हो उसे कोई भी विकथा नहीं कह सकता, क्योंकि प्रत्येक बात की पृष्ठ-भूमि में भावों की प्रधानता मानी गई है। रागद्वेष की प्रेरणा पाकर चलने वाली और परिणाम में रागद्वेष तथा वैर-विरोध को उत्पन्न करने वाली हर कथा विकथा बन जाती है। इसी आधार पर विकथा को प्रमाद कहा गया है।

५. प्रमाद का पांचवां अंग है— मद—

यह अंग प्रमाद के अधिक निकट है। वैसे कषाय में मान का नाम तो आ ही जाता है तो फिर मद को अलग से ग्रहण करने का विशेष प्रयोजन क्या है ? इस शंका का उठना स्वाभाविक ही है।

स्मरण रहे कि मान प्रायः अहंकार के सामान्य रूप में ही सीमित रहता है, किन्तु अहं अपनी उत्कट स्थिति पर पहुंच कर मद का रूप धारण कर लेता है। वैसे अनन्तानुबंधी के शिखर पर पहुंच कर भी मान को मान ही कहा जाता है, क्योंकि यह मान की उत्कट दशा है। किन्तु क्या संज्वलन के मान में और अनन्तानुबन्धी के मान में अन्तर नहीं होता ? बहुत बड़ा अन्तर होता है। केवल स्थिति में

ही नहीं, बल्कि रस में भी गम्भीर अन्तर रहता है। मेरे विचार में कोई भी कषाय सामान्य स्थिति में मद का रूप नहीं ले सकता। उसे मद के रूप में प्रकट होने के लिए कषाय की सदैव उत्कट स्थिति अपेक्षित रहती है।

इसके सम्बन्ध में एक उदाहरण देना अधिक उपयुक्त रहेगा। हाथी दूसरे छोटे-मोटे प्राणियों के सामने अपने को बड़ा प्राणी समझ कर प्रायः अहं की दशा में घूमता है, किन्तु उन्माद की स्थिति में वह केवल अपने को बड़ा ही नहीं समझता, बल्कि दूसरे प्राणियों को पैरों तले रौंदने के लिए भी तैयार हो जाता है, यह ही हाथी का मद है। जिस अंकुश के नीचे हाथी नत-मस्तक होकर चलता है वह अंकुश भी उसके मद के आगे बेकार होकर रह जाता है।

शास्त्रों में जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत-लाभ तथा ऐश्वर्य इन आठ मदों का उल्लेख किया गया है। उन्माद की स्थिति में ही उसे मद कहा जाता है, क्योंकि उपलब्धि के नशे में व्यक्ति कभी-कभी दूसरों को हीन भावना से देखने लगता है। अधिकार, सत्ता तथा प्रभुता का नशा ही मद है। यह व्यक्ति को आत्मा से विमुख करके लोकैषणाओं में उलझा देता है। आत्मा के विशुद्ध 'स्व' से जीव को विचलित करने के कारण ही मद को प्रमाद का अंग स्वीकार किया गया है।

यह प्रमाद का संक्षिप्त विवरण मैंने प्रस्तुत किया है। केवल प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि इसलिये कि संयम के प्रत्येक साधक को अपने अन्तरंग के इस शत्रु के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो सके। प्रमाद सर्वथा हेय है, किन्तु हेय होने पर भी ज्ञेय तो है ही। हेय को जानने के बाद ही छोड़ा जा सकता है। अप्रमाद उपादेय है, किन्तु उपादेय में निष्ठा बनाने के लिए भी हेय का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से मैंने अप्रमाद की साधना पर कुछ भी लिखने से पहले प्रमाद के सम्बन्ध में लिखना उचित समझा है। यह तो प्रमाद के अंगों की थोड़ी सी झांकी मात्र दिखाई है। इसके अन्तस्तल में जाकर इसके अन्य पहलुओं पर भी चिन्तन करना होगा। कुछ लोग आलस्य को ही प्रमाद कहते हैं।

किसी भी आलसी आदमी को प्रमादी कह दिया जाता है, किन्तु स्मरण रहे आलस्य और प्रमाद ये दोनों बिल्कुल ही अलग-अलग हैं। इसका प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र के ग्याहरवें अध्ययन की तीसरी गाथा में शिक्षा कौन प्राप्त कर सकता है ? इस विषय पर निर्वचन देते हुए कहा गया है कि—

> अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
> थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य॥

अर्थात् जिस व्यक्ति में अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग तथा आलस्य इन पांच दोषों का वास हो उस व्यक्ति में श्रुत-शिक्षा का निवास नहीं हो सकता। यहां प्रमाद और आलस्य का अलग-अलग ग्रहण किया है। इससे ज्ञात होता है कि आलस्य प्रमाद से अलग प्रकार का दोष हैं, जिस का मुख्य सम्बन्ध शरीर की अस्फूर्ति से है, आत्मा से नहीं और प्रमाद वह महादोष है जिसका सम्बन्ध अन्तर्जगत के विकारों से है, शरीर से नहीं। किसी दुष्ट आशय से दिन भर परिश्रम एवं दौड़ धूप करने वाला व्यक्ति भले ही आलसी न कहा जाए, किन्तु वह प्रमादी तो होता ही है, उसे अप्रमादी नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर कुछ भी कर्म न करने वाला आत्मलीन पुरुष सदा अप्रमादी होता है उसके पास आलस्य कभी फटकता नहीं, किन्तु जो निरालसी है वहां प्रमाद की भजना है अर्थात् वहां प्रमाद हो भी सकता है और नहीं भी। संसार में पराक्रम तो अज्ञानी भी करता है और ज्ञानी भी करता है, किन्तु अज्ञानी का पुरुषार्थ प्रमाद-मय होने से कर्म-बन्धन का कारण बन जाता है और ज्ञानी का पुरुषार्थ विवेक एवं अप्रमाद-मय होने से कर्मक्षय का हेतु बन जाता है। इस तथ्य को एक उदाहरण अच्छी तरह स्पष्ट कर सकेगा।

एक व्यक्ति चल रहा है, अकस्मात् केले के छिलके पर से उसका पैर फिसलता है और वह गिर जाता है। सामने खड़े दो व्यक्ति उसकी ओर दौड़ते हैं, एक उस व्यक्ति को उठाता है और दूसरा उसकी जेब से गिरने वाले पर्स को उठा लेता है और चुपके से अपनी जेब में डाल

लेता है और फिर उस गिरनेवाले के कपड़े झाड़ने लगता है, तथा उस के साथ सहानुभूति का दम्भ भी करने लगता है। इन दोनों का भागना तथा अन्य व्यवहार एक समान होने पर भी अन्तस के भावों में आकाश-पाताल जैसा अन्तर पाया जाता है। इनमें से एक निष्करुण लोभी है और दूसरा है सेवा-लीन परोपकारी। एक पतन के पाताल में पहुंच जाता है और दूसरा कर्तव्य-परायणता के शिखर पर जा विराजता है। साधना में भाव की प्रधानता रहती है, बाह्य क्रिया की नहीं। इस तथ्य को कभी भूलना नहीं चाहिए।

प्रमाद जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसके रहते हुए आत्मा कभी भी साधना के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। प्रमाद सब दोषों का सम्राट है। जहां यह आ जाता है वहां सब दोष आ जाते हैं और जहां से यह विदा हो जाता है वहां से सब दोष भाग जाते हैं। ऐसी ध्वनि आचारांग सूत्र के पाठ में हम को सुनाई देती है जैसे कि—

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं।

अर्थात् संसार का प्रत्येक भय प्रमादी को ही होता है, जिसके जीवन से प्रमाद निश्शेष हो गया है उसे कोई भी भय नहीं होता। वैसे तो भय कितने ही प्रकार का होता है, किन्तु उपर्युक्त सूक्त में प्रमत्त जीव के लिए जिस भय का निर्देश किया गया है, वह केवल दुःख का भय है, दुख-जन्य भय में सब भयों का समावेश हो जाता है। ठाणांग सूत्र के सातवें ठाणे में इहलोक-भय, परलोक-भय, आदान-भय, अकस्मात्-भय, वेदना-भय, मरण-भय, तथा अश्लोक अर्थात् अपयश-भय इन सात भयों का उल्लेख हुआ है। भय कैसा भी हो वह मनुष्य के लिए दुःख, असन्तोष तथा चिन्ता का कारण होता है। भय व्यक्ति के मानसिक दौर्बल्य तथा दुष्कृत का दुष्परिणाम है। आत्म-बल के अभाव में मानसिक दौर्बल्य उत्पन्न होता है। आत्मबल के लिये आत्म-ज्ञान, आत्म-विश्वास तथा आत्म-संयम की अपेक्षा रहती है। इस रत्नत्रय की सच्ची साधना अप्रमत्त ही कर सकता है प्रमत्त नहीं, इसीलिये कहा गया है कि दुनिया का हर भय प्रमादी के पीछे लगा रहता है। स्मरण रहे

कि सब भयों में 'मरण-भय' सबसे बड़ा भय है और वह भय प्रमादी व्यक्ति को ज्यादा सताता है। शास्त्र में प्रमादी की 'बाल' संज्ञा है और अप्रमादी को 'पण्डित' कहा गया है। बाल को अकाम और पण्डित को सकाम मरण की प्राप्ति होती है। उत्कट प्रमादी जीव की मृत्यु के समय क्या दशा होती है? इसके सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र के पांचवें अध्ययन की सोलहवीं गाथा में कुछ इस प्रकार कहा गया है।

तओ से मरणंतम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाम-मरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए॥

मृत्यु के समय वह प्रमादी—बाल जीव नरक आदि गतियों के दुःख के भय से संतप्त हो उठता है और हारे हुए जुआरी की तरह अकाम-मरण को प्राप्त करता है।

यह बात सिद्धान्त-सिद्ध सर्व-विदित तथा त्रिकाल सत्य है कि संसार का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, किन्तु यह कितना बड़ा आश्चर्य है कि दुःख के कारण-प्रमाद से वह मुक्त होने के लिए पुरुषार्थ भी नहीं करता?

दुख का मूल प्रमाद है, इस के प्रमाण में स्थानांग सूत्र का एक संवाद प्रस्तुत कर रहा हूं—

भगवान् महावीर एक बार अपने शिष्यों से पूछ बैठे। क्या पूछ बैठे, जरा ध्यान से पढ़िये—

किं भया पाणा समणाउसो?

"आयुष्मन् श्रमणो! प्राणी किससे डरते हैं?" भगवान् के ऐसा पूछने पर किसी शिष्य ने कोई उत्तर नहीं दिया, अपितु वे भगवान से ही पूछने लगे कि आप ही फरमायें कि प्राणियों को भय किस से है? तब भगवान् बोले—

"दुक्खभया पाणा समणाउसो समणो!"

सभी प्राणी दुःख से ही डरते हैं!"

शिष्य ने फिर प्रश्न उठाते हुए कहा:—

'सेणं भन्ते ! दुक्खे केण कडे ?

प्रभो ! इस दुख का कर्ता कौन है ? भगवान बोले "जीवेणं कडे पमादेण" अर्थात् जीव ने स्वयं प्रमाद से दुःख उत्पन्न किया है।

शिष्य ने पुनः पूछा—'से णं भन्ते ! दुक्खे कहं पेइज्जई' अर्थात् दुख का क्षय कैसे हो सकता है ?

भगवान का उत्तर बस एक ही पद में समाप्त हो गया। वह पद था—"अप्पमाएणं" अप्रमाद से। अतः इस अक्षय सुख के साधक के लिए इस धरती पर यदि कोई नन्दन-वन हो सकता है तो वह केवल अप्रमाद ही है। ●



१६

आत्म-साधना की आधार-शिला वैराग्य

मुनि-जीवन में सदैव जागृत रहता है, वह कभी सोता नहीं। सोया हुआ भी वह जागता ही रहता है, जागरण ही उसकी साधना की परम शक्ति है।

वस्तुतः जागरण के स्वर्णिम क्षणों में ही संयम की साधना सफल होती है। संयम की ऊर्जा आत्म-जागृति ही है। संयम से साधक अनाश्रव तथा निर्जरा के सहारे आत्म-शुद्धि के शिखर पर पहुंच कर अरिहन्त बन जाता है, अरिहन्त हमारा आराध्य भी है, और साध्य भी। जैन धर्म में वस्तुतः आत्मा का साध्य आत्मा ही है। अरिहन्त निश्चय नय की अपेक्षा से विशुद्ध आत्मा का ही प्रतीक है, अन्य कुछ नहीं।

यदि यह कहा जाये कि आत्मा के लिए उसका विशुद्ध स्वरूप ही एकमात्र साध्य है तो बिल्कुल भी गलत नहीं होगा।

साध्य तक पहुंचने के लिए साधक के पास साधन भी होना चाहिए, वह साधन है संयम, जिस का दूसरा पुनीत नाम है चारित्र। मिथ्या नहीं एकदम सम्यक् चारित्र।

सम्यक् चारित्र का आधार केवल वेष और जड़ एवं विवेक-शून्य क्रिया नहीं है, बल्कि चारित्र की आत्मा वैराग्य तथा अप्रमाद हैं। जैसे आत्मा के निकल जाने से शरीर निर्जीव हो जाता

है और उस का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता, वैसे ही यदि चारित्र से वैराग्य और अप्रमाद को अलग कर दिया जाये, तो खाली वेष और बाह्य क्रिया की कुछ भी कीमत नहीं रह जाती। निर्जीव देह की तरह वह बेकार हो जाता है।

अब मैं अप्रमाद पर कुछ विशेष विचार प्रस्तुत कर रहा हूं।

संसार के प्रत्येक मुनि की आत्म-साधना निवृत्ति से प्रारम्भ होती है। प्रवृत्ति तो मनुष्य के पीछे अनादि काल से हो लगी हुई है। आत्मा से विमुख मन की विषय मार्ग में गति ही प्रवृत्ति है और मोह से विमुख मन की आत्मा को ओर गति ही निवृत्ति है। मोह ही मनुष्य के शरीर इन्द्रियों तथा मन को भोग-मार्ग में प्रवृत्त करता है। आत्मा जन्म-जन्म से ही सुख की खोज में है। मोह क्या है? इस के सम्बन्ध में यदि मैं ऐसा कहूं कि मोह वह संस्कार है जिस ने जीव के अन्तरतम में अनिज में निज तथा अकेन्द्र में केन्द्र बुद्धि उत्पन्न करके उसे असत् की ओर उन्मुख रखा हुआ है तो यह किञ्चित् भी असत्य न होगा। दूसरे रूप में ऐसा भी कहा जा सकता है कि मोह वह वृत्ति है जो जीव को सुख के लोभ में अनात्म-पदार्थों में आसक्त कर के उसे आत्म-विस्मृति के गर्त्त में धकेल देती है। शास्त्र ने—

खणमेत्त सुक्खा बहुकाल-दुक्खा

का सूक्त बोल कर आत्मा को आसक्ति के बन्धन से दूर रहने के लिये सावधान किया है।

भोग में सुख बहुत कम है और दुख बहुत अधिक है। क्षण भर का सुख जीवन भर के दुख की भूमिका बन जाता है। यदि कुछ अधिक खुल कर कहा जाए तो यह कहा जा सकता है कि क्षण भर की सुखा-सक्ति केवल एक जन्म के दुख का ही नहीं, बल्कि अनेक जन्मों के दुख का बीज बन जाती है।

मोह दुख का बीज है। यह मैं ही नहीं कहता, शास्त्र का इसमें स्पष्ट प्रमाण है —

दुक्खं हयं जस्स ण होइ मोहो, मोहो हयो जस्स ण होई तण्हा।
तण्हा हया जस्स ण होइ लोहो, लोहो हयो जस्स ण किंचणाहं ॥

उस व्यक्ति का दुःख नष्ट हो जाता है जिसके हृदय में मोह नहीं होता, उसका मोह विगलित हो जाता है जिसे तृष्णा का बन्धन नहीं बांधता, उस व्यक्ति की तृष्णा जाती रहती है जिसे लोभ आक्रान्त नहीं करता और उस व्यक्ति का लोभ विलीन हो जाता है जो सर्वदा अकिञ्चन रहता है।

उपर्युक्त गाथा से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि दुख का मूल मोह है, फिर मोह का विराट् रूप परिग्रह के विस्तार में दृष्टि-गोचर होने लगता है। परिग्रह मन का वह भाव है जो प्राणी को चारों ओर से ग्रस्त कर के उसे मोह-विकल बना देता है। स्मरण रहे कि संसार में कोई भी वस्तु तथा इस दुनिया का कोई भी पदार्थ मनुष्य के लिये परिग्रह नहीं होता। वह मनुष्य के रागात्मक जगत् में जा कर ही परिग्रह बनता है।

दुनिया में कुछ पदार्थ जड़ हैं और कुछ चेतन। प्रत्येक चेतन संसारावस्था में जड़ से आबद्ध है और प्रत्येक जड़ चेतन के सम्बन्ध में आकर नाना विध रूपों में विकसित होता है— कभी सचेतन तो कभी अचेतन रूप में पड़ा रहता है। कभी स्थूल रूप में प्रकट होता है, तो कभी परमाणु रूप में बिखर जाता है। हमें एक बात सदैव याद रखनी चाहिए कि परमाणु तथा पदार्थ को अव्यक्त दशा किसी के लिए भी परिग्रह नहीं बन सकती ? हर चीज़ स्थूल एवं व्यक्त रूप में आकर ही परिग्रह का कारण बनती है। निम्न उदाहरण से यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

अव्यक्त पृथ्वीकाय किसी के लिए भी परिग्रह नहीं, स्थूल एवं व्यक्त रूप में आ कर ही वह किसी के लिये परिग्रह बन सकता है। सोना, चांदी, हीरे तथा मोती आदि सब पृथिवीकाय के ही अन्तर्गत हैं। ये सब पृथिवी की ही परिणति विशेष कहे जाते हैं, किन्तु ये सब व्यक्त दशा में आकर ही किसी के हृदय का आकर्षण बनते हैं।

आकर्षण के पीछे भी मोह का संस्कार है। बिना मोह के आकर्षण नहीं होता।

मोह और आकर्षण मिल कर आसक्ति को जन्म देते हैं, आसक्ति का आधार व्यक्तदशा' में ही उत्पन्न होता है। संसार का प्रत्येक जड़ और चेतन पदार्थ आदि और अन्त में अव्यक्त रहता है, जिसे दूसरे शब्दों में सूक्ष्म जगत् कहते हैं। इस सूक्ष्म-लोक में सत्ता में सब कुछ होने पर भी प्रत्यक्ष में कुछ नहीं होता। जैसे बट का बीज। बट के बीज में सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार समूचा वृक्ष विद्यमान है, किन्तु प्रत्यक्ष में कुछ भी नहीं, क्योंकि बीज में वृक्ष व्यक्त नहीं हुआ। इसलिये बीज में स्थित वृक्ष पर किसी की भी आसक्ति नहीं होती, किन्तु अनुकूल कारणों का संयोग उपस्थित होने पर जब बीज से वृक्ष उत्पन्न हो जाता है तो वह किसी भी मोहशील जीवन को आसक्ति का कारण बन जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसे ज़रा और गहराई से समझ लेना चाहिये।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि संसार का प्रत्येक पदार्थ आदि और अन्त में अव्यक्त स्थिति में रहता है, केवल मध्य में ही वह व्यक्त होता है। गीता के माध्यम से इस तथ्य को अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। जैसे कि—

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना॥

Arjuna ! all beings were unmenifest before they were born, and will become unmanifest again when they are dead they are manifest only in the intermediate stage what occasion then for lamentation.

अर्जुन ! संसार के सब प्राणी जन्म लेने से पहले अव्यक्त होते हैं और जीवन के पर्यवसान पर फिर अव्यक्त दशा में पहुंच जाते हैं। केवल वे मध्य में ही व्यक्त दशा में रहते हैं, तो फिर शोक का कोई भी कारण नज़र नहीं आता।

गीता में यह सब कुछ आत्मा के विषय में ही कहा गया है, क्योंकि गीता के पूर्व श्लोकों में आत्मा की चर्चा चल रही है। प्रसंगानुसार यह उपयुक्त भी है, किन्तु उपलक्षण से यह सिद्धान्त जड़ प्रकृति पर भी लागू होता है। आत्मा जैसे कर्मानुसार नया-नया जीवन धारण करता रहता है, ठीक इसी तरह जड़ तत्त्व भी जिसे जैन दर्शन पुद्गल कहता है नये-नये रूप ग्रहण करता रहता है। जैन दर्शन में इसे पर्याय कहा जाता है। पुद्गल परमाणु से स्कन्ध में परिणत हो जाता है और फिर स्कन्ध से परमाणु अवस्था में चला जाता है। इस तरह आदि और अन्त में अव्यक्त हो कर वह स्कन्ध देश और प्रदेश की अवस्थाओं में आ कर व्यक्त हो सकता है और वहीं वह मोह का हेतु बन सकता है, क्योंकि व्यक्त दशा में उसे नाम और रूप मिलता है। नाम और रूप ही वस्तुतः मोह और आसक्ति के मूलाधार हैं।

जैन दर्शन के अनुसार नाम और रूप का अन्तर्भाव पर्याय में हो जाता है। वस्तु की अवस्था-विशेष को पर्याय कहते हैं। सब से पहले पदार्थ कोई न कोई रूप धारण करता है, फिर उसका कोई नाम अर्थात् संज्ञा पड़ती है। नाम और रूप की मनोहरता व्यक्ति के मन में रागात्मक वृत्ति को जागृत करती है और दूसरी ओर अमनोज्ञता घृणा को जन्म देती है और घृणा ही धीरे-धीरे विद्वेष का रूप ले लेती है।

दुनिया का हर प्राणी सुख की खोज में है। संसार के अन्य प्राणी नाम तथा रूप की आसक्ति में जकड़े रहें तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस धरती का मननशील कहलाने वाला मनुष्य भी अपने अज्ञान-जनित मोह से आवद्ध हो कर नाम-रूप के मोहक जाल में फंस जाता है। असत् सदैव नश्वर होता है। वैसे तो असत् वह है जो वस्तुतः है ही नहीं, किन्तु जैन दर्शन में उत्पाद को भी द्रव्य का उत्पत्ति-पक्ष मान कर किसी अपेक्षा से उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, किन्तु वह वस्तु-तत्त्व का नश्वर एवं क्षणिक पक्ष है। एक उदाहरण से इसे भी स्पष्ट करना उचित होगा।

स्वर्ण जब कंकण तथा कुण्डल के रूप में आता है तभी वह किसी अलंकार-प्रिय मानस की आसक्ति का कारण बनता है। हम स्वर्ण के

इन आकारों, रूपों तथा पर्यायों को एकान्त असत् नहीं कह सकते। वेदान्त जिसे एकान्त माया या भ्रांति मात्र मानकर उसे झुठलाता है, जैन दर्शन उसे पदार्थ का नश्वर पहलू मान कर उसे कथञ्चित् सत्य रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि यदि यह सब एकदम मिथ्या मान लिया जाये तो इसकी मन तथा इन्द्रियों पर आसक्ति के रूप में कोई प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। मिथ्या चीज का प्रभाव ही क्या होगा? वस्तु के उदय-अस्त तथा संयोग-वियोग की दशा में व्यक्ति के चित्त पर उसकी कोई प्रतिक्रिया दुख-सुख के रूप में नहीं हो सकती। किन्तु हम जीवन में हर्ष-शोक आदि विभिन्न अवस्थाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, इस से ज्ञात होता है कि नामरूपमय जगत् एकदम मिथ्या तो नहीं है, किन्तु नश्वर अवश्य है, क्योंकि वह एक दिन अवश्य नष्ट हो कर समाप्त हो जाता है, फिर कोई दूसरे रूप में उदय में आ जाता है। धीरे-धीरे उसका भी विलय हो जाता है और फिर कोई अन्य रूप आविर्भूत हो जाता है। इस तरह सृष्टि के अन्तस्तल में उदयास्त का क्रम चलता रहता है और पदार्थ हमारे राग-द्वेष का कारण बनते बिगड़ते रहते हैं।

जिसका प्रिय के प्रति राग होता है उसे ही अप्रिय के प्रति विद्वेष होता है, इसलिए द्वेष का मूल एकमात्र राग ही है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

अब वैराग्य क्या है? यह बड़ी अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। राग के प्रतिपक्षी तत्व को आप वैराग्य कह सकते हैं। संक्षेप में एवं सरल भाषा में यदि कहें तो हम कह सकते हैं कि राग का अभाव ही वैराग्य है। राग का मूल अज्ञान है और वैराग्य का मूल है ज्ञान। जैन दर्शन के अनुसार दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से ही अज्ञान उत्पन्न होता है। यह अज्ञान दुख में सुख-बुद्धि उत्पन्न कर के जीव को जागतिक पदार्थों में आसक्त करता है। दूसरी ओर सम्यक् दर्शन अज्ञान को मिटा कर जीव में ज्ञान का आलोक बिखेरता है। ज्ञान जीव को नश्वर सुख के केन्द्र से हटा कर उसे सुख के शाश्वत केन्द्र में ले जाता है। व्यक्ति के उस ज्ञान-जन्य भाव को हम वैराग्य कहते हैं। वैराग्य के

क्षणों में दुनिया के ऐश्वर्य तथा वैभव भले ही आंखों के सामने पड़े रहें, किन्तु उनके प्रति मन में आकर्षण नहीं जागा। वैराग्य की आंखों में हीरे कंकरों से अधिक मूल्यवान नहीं रह जाते।

वैराग्य का सम्बन्ध बाह्य जगत् से नहीं, उसका सम्बन्ध साधक के अन्तरंग जगत से है। कभी बाहर कुछ नहीं होता, किन्तु मन में कुछ पाने की आशा बनी रहती है और कभी बाहर सब कुछ रहता है, किन्तु हृदय में आसक्ति का लवलेश भी नहीं रहता और कभी न बाहरी जीवन में परिग्रह की छाया रहती है और न भीतर में किसी वस्तु की लालसा रह जाती है। वस्तुतः वैराग्यवान् होना जीवन का सब से ऊंचा शिखर है। महावीर इसी वैराग्य के सजीव उदाहरण कह जा सकते हैं।

पतञ्जलि ने वैराग्य को परिभाषा कुछ इस तरह की है 'दृष्टा-नुश्रविकविषय - वितृष्णस्य वशीकार-संज्ञं वैराग्यम्" — ऐहिक तथा पारलौकिक विषयों में तृष्णा से रहित मन को वशीकार अवस्था को वैराग्य कहते हैं।

वैराग्य की प्रोक्त परिभाषा से यह बात भली-भान्ति समझ में आ सकती है कि वैराग्य की वेला में व्यक्ति के चित्त में किसी भी प्रकार का विषय तथा उस की वासना नहीं रह जाती है।

जैन साहित्य में वैराग्य का पर्यायवाची शब्द निर्वेद है, क्योंकि वैराग्य के अर्थ-लोक में यह उसके अधिक निकट है। वेद जैन धर्म का अपना पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है विकार। जीवन में छोटे-मोटे विकार कई प्रकार से उदित होते हैं, किन्तु निर्वेद सब विकारों का सम्राट् है— काम-विकार जो काम-विकार को जीत लेता है उसके लिये शब्द, रूप, रस स्पर्श आदि विकारों का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। वैराग्य एवं निर्वेद अवस्था में जीव इनका वेदन नहीं करता है।

निर्वेद शब्द निवृत्ति-परक है निश्शेष-परक नहीं। साधक पहले स्थूल रूप से ही विकार आदि दोषों से निवृत्त होता है और फिर आगे चल कर उसे निश्शेष करता है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को वैराग्य हो गया है तो इस का यह मतलब नहीं कि उसमें अब राग

रहा ही नहीं, किन्तु उस समय कहने का केवल इतना ही तात्पर्य होता है कि अमुक व्यक्ति सांसारिक पदार्थों की आसक्ति से परे हट गया है, किन्तु उसका बीज-नाश तो वह अपनी दीर्घ साधना के पश्चात् ही कर पाता है।

लोभ राग का ही एक अंग है। जैन सिद्धान्त के अनुसार वह सब से अन्त में जा कर बारहवें क्षीण-मोहनीय गुणस्थान में निःशेष होता है। इससे ज्ञात एवं स्पष्ट हो जाता है कि वैराग्य का तात्पर्य राग के एकदम अभाव से नहीं, बल्कि वैराग्य जागतिक पदार्थों के प्रति उदासीन भाव का ही दूसरा नाम है। वैराग्य साधक जीवन का बल है, एक अलौकिक शक्ति है। साधना का यह सर्व-श्रेष्ठ सहचर है. इसके विना साधक बिल्कुल अनाथ होता है, वैराग्य की बीज-शक्ति मोहनीय कर्म का 'क्षयोपशम' है। बाहर से प्रेरक निमित्त अनेकों भी हो सकते हैं। बुद्ध भगवान के लिये जरा व्याधि तथा मृत्यु वैराग्य के अवलम्बन बने थे, किन्तु कौन आंख ऐसी है जिसने रोगी, वृद्ध तथा मृतक को कभी न देखा हो, किन्तु वैराग्य कितनों को होता है ? लाखों में शायद किसी एक को। इस से सिद्ध हो जाता है कि वैराग्य अन्तरङ्ग की एक मधुरतम सुखानुभूति है जो विषय - सुख से बहुत दूर है। वैराग्य तीन रूप से वर्धित होता है :—

१. दुःख-गर्भित वैराग्य
२. मोह-गर्भित वैराग्य
३. ज्ञान-गर्भित वैराग्य

दुःख के क्षणों में जीवन में कभी-कभी विरक्ति का जन्म होता है, उसे दुख-गर्भित वैराग्य कहते हैं। आगे चलकर मोहावरण हटने से वह ज्ञान-गर्भित वैराग्य में बदल सकता है।

कभी-कभी पुत्र के मोह में पिता दीक्षित हो जाता है और कभी पिता के मोह में पुत्र साधु बन जाता है। पुत्री के लिए मां कभी संन्यास ले लेती है और कभी मां के वियोग को असह्य समझ कर कोई पुत्री संयम की आराधिका बन जाती है। वे मोह के तारों से

वन्धे हुए संयमी जीवन में भी साथ-साथ रहते हैं। बाहर से संयम और अन्तरङ्ग में मोह पलता रहता है। कभी-कभी संयम की लम्बी यात्रा में लोकैषणाओं (सांसारिक उपलब्धियों) का सम्मोह हृदय को छोड़ता नहीं और आशा के केन्द्र में स्थित हो कर आनन्दानुभूति का कोई क्षण जीवन में नसीब नहीं होने देता। ऐसा वैराग्य मोह-गर्भित वैराग्य कहा जाता है। आगे चल कर ऐसा वैराग्य जीवन की सतत आत्म-साधना, गुरु-कृपा, आशीर्वाद तथा अपने गहन चिन्तन के बल पर ज्ञान में भी बदला जा सकता है।

तृतीय कोटि का ज्ञान-गर्भित वैराग्य सर्व-श्रेष्ठ होता है। वैराग्य की इस भूमिका पर आरूढ़ साधक संसार को अनित्य नश्वर तथा दुख रूप समझ कर छोड़ देता है। अपनी आत्मा के स्वरूप तथा जीवन के लक्ष्य को ठीक-ठीक समझ कर ही साधना का मार्ग अपनाता है और फिर पूरे विश्वास और निष्ठा के साथ अपनी मंज़िल की ओर वह चलता है। वैराग्य के बिना साधना नहीं होती। वैराग्य मोह-ग्रन्थि को तोड़ देता है। व्यक्ति बन्धन-मुक्त हो कर ही आगे बढ़ सकता है। वैराग्य की आंखें आगे की ओर अपने गन्तव्य पर रहती हैं, वे पुनः पीछे की ओर मुड़-मुड़ कर नहीं देखतीं। पीछे की तरफ देखने वाला आगे नहीं बढ़ सकता। वैराग्य साधक के कदमों का वेग है, गति है। गीता में इस तथ्य का उल्लेख सुस्पष्ट रूप से उपलब्ध है कि मनोनिग्रह के लिये अभ्यास तथा वैराग्य अति आवश्यक हैं। वैराग्य ही अभ्यास—अर्थात् साधना की ऊर्जा शक्ति है, बिना इसके साधना निष्प्राण है!

कुछ साधक वैराग में आ कर दुनिया के बड़े से बड़े वैभव को ठोकर लगा कर अलग हो जाते हैं, किन्तु अपने जीवन के मोह और सुख-दुख की अनुभूतियों से ऊपर नहीं उठ पाते। क्या उन्हें वैरागी कहा जाएगा? मैं मानता हूं कि साधना के प्रारम्भिक क्षणों में जीवन के प्रत्येक कृत्य पर राग की गहरी छाया नजर आती रहती है। राग केवल सांसारिक पदार्थों से ही नहीं होता, अपने जीवन, जीवन के सुखों, सुख के साधनों, साधनों के सम्पादन तथा उनके सहायक व्यक्तियों

के प्रति भी राग हो जाता है। प्राणी के लिये सब से प्रिय सुख है। उस सुख में जो-जो भी निमित्त रूप में सामने आता है, उसी के प्रति राग उत्पन्न होने लगता है। मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, पद एवं अधिकार, सत्ता तथा शासन ये सब भी व्यक्ति के लिए राग के प्रबल कारण माने जाते हैं। देखा जाता है कि सारी दुनिया को छोड़ देने पर भी मान-सम्मान के चक्र से साधक मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि साधक प्रतिष्ठा की उपलब्धि के लिये सदैव प्रयत्नशील बना रहता है और उसे प्राप्त करके उसे अपने अन्तरङ्ग में एक सुखद अनुभूति एवं मानसिक सन्तोष होता है।

इससे ज्ञात होता है कि साधक बाहर से सब कुछ छोड़ कर भी अन्तरङ्ग से कुछ नहीं छोड़ पाता। वह भीतर से किसी न किसी राग से ग्रस्त रहता है, यह राग भी कम भयंकर नहीं होता है। साधक की बुद्धि को वह काफी भ्रमित कर देता है और उसके मन में विकारों को उभार कर उसके साधना-जगत में भूकम्प पैदा कर देता है।

राही के लिए उसकी राह में केवल कांटे ही बाधक नहीं होते, फूल भी बाधक हो जाते हैं। कांटों में से राही बचकर निकल भी जाता है, किन्तु फूलों के मोहक प्रहारों से बचना कठिन होता है। संसार के विविध राग संयम-मार्ग के कुछ ऐसे ही फूल हैं, जिनकी मोहकता से आत्म-रक्षा करने के लिये ज्ञानपूर्वक सच्चे वैराग्य की आवश्यकता है।

यदि संक्षेप में कहा जाए तो ऐसे कहा जा सकता है कि आत्म-साधना की आधार-शिला एक मात्र वैराग्य ही है। आध्यात्मिकता का विशाल एवं दिव्य भवन केवल वैराग्य पर ही खड़ा होता है। इस सत्य को जीवन में कभी कदापि भूलना नहीं चाहिए। ●





चित्त-निरोध और मनोनिग्रह की प्राथमिक भूमिकाएं



योग जीवन की सबसे बड़ी साधना है। दुनिया के प्रत्येक कार्य में योग की अपेक्षा रहती है। यहां तक कि एक सूई में धागा पिरोने के लिए भी एक मिनिट के लिए अपने मन को केन्द्रित करना पड़ता है। कितना साधारण-सा काम है यह? किन्तु मन की एकाग्रता के बिना वह भी नहीं हो पाता। 'मानव-जीवन शक्तियों का भण्डार है'', यह बात मैं ही नहीं कह रहा, इस दुनिया के सभी महापुरुष ऐसा ही कह गए हैं। प्रायः सभी धर्म-शास्त्र भी ऐसा ही बोल रहे हैं। जिनको यह भण्डार मिला है, वे ही इसके सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं, दूसरे भला क्या कहेंगे? इसमें शंका के लिये कोई स्थान नहीं कि हमारे भीतर आनन्द एवं सुख का एक अद्‌भुत खजाना छिपा हुआ है। यदि कुछ लोगों ने उसे प्राप्त किया है तो आपको और हम को भी वह अवश्य मिल सकता है। जो अच्छा काम एक व्यक्ति कर सकता है वह दूसरा भी कर सकता है, क्योंकि आत्मा और उसकी शक्ति सर्वत्र एक समान है। शक्ति के उस निधान तक पहुंचने के अनेक साधन हैं परन्तु उनके सम्बन्ध में इस लेख में मुझे कुछ नहीं कहना है, किन्तु एक बात निश्चित है कि योग के नेत्रों से उस भण्डार को अवश्य देखा जा सकता है, इसमें किसी भी महापुरुष के दो मत नहीं हो सकते। भगवान्

महावीर अपने युग के एक बहुत बड़े अध्यात्म-योगी थे। उन्हें जो कुछ भी मिला वह सब अध्यात्म-योग की शक्ति से ही मिला, यह कहने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं है।

आज का साधक बाहरी क्रिया-काण्ड में इतना उलझ गया है कि अन्तरङ्ग में झांकने का तो उसके पास शायद समय ही नहीं रहा। यदि कुछ समय बचता भी है तो वह सामाजिक प्रवृत्तियों के अर्पण हो जाता है। दो घड़ी ध्यान में बैठने का भी उसके पास अवकाश नहीं है। समाज में रहते हुए सामाजिक प्रवृत्तियां करनी ही पड़ती हैं। मैं तो क्या कोई भी बुद्धिमान् इसका विरोध नहीं कर सकता, किन्तु एक बात सदैव याद रखनी चाहिए कि योग प्रवृत्तिमय जीवन के लिए और भी अधिक आवश्यक है। जो जितना अधिक संयत होता है, वह उतनी ही अधिक सुन्दर प्रवृत्ति कर सकता है। आत्म-स्थित होकर साधक केवल आत्म-सुख का भोक्ता बनता है, कर्म और उसके फल का नहीं। योगी की प्रवृत्ति तो निवृत्ति स्वरूप होती है और उसका कर्म अकर्म सदृश होता है। फल के उद्भव में योगनिष्ठ को न राग विक्षुब्ध करता है और न द्वेष उद्वेलित ही करता है। समता के क्षणों में वह सदा सुखमय होकर विचरता है। निवृत्ति के क्षणों में ही योग की साधना होती है और योग की साधना ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे ऊंचा उठाती है। संस्कृत की 'युज्' धातु से योग शब्द की निष्पत्ति होती है। इस धातु का अर्थ है जोड़ना। मनुष्य-जीवन में सबसे बड़ी शक्ति है विचार। विचारों का केन्द्र मन है, विचारों की बीज-शक्ति वृत्ति है। वृत्ति चित्त का धर्म है, अर्थात् वृत्ति चित्त में उत्पन्न होती है। मेरे चिन्तन में चित्त मन से पृथक् तत्त्व है? वह मन से अधिक सूक्ष्म है। जहां तक मैं समझता हूं प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध से जो तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है, वही चित्तावस्था है। जैन दर्शन के अनुसार इसे जीव और कर्म का सम्बन्ध कह सकते हैं। मन चित्त का विकसित एवं परिपुष्ट रूप है। जैन धर्म में मन शब्द का अधिक ग्रहण किया गया है। योग-शास्त्र में मन की अपेक्षा चित्त का प्राधान्य माना गया है, क्योंकि योग की परिभाषा करते हुए मन को छोड़

कर चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है और वह उपयुक्त भी है। वृत्तियों का निरोध हो जाने पर विचारों के आने का प्रश्न ही नहीं उठता।

"योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः"—चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। विचार और वृत्ति में ज़रा अन्तर समझ लेना चाहिए। विचार वृत्ति का परिपुष्ट रूप है। वृत्ति विचार का सूक्ष्म रूप है। एक उदाहरण से यह अन्तर अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

पवन के संयोग से जल में स्पन्दन होता है, उस स्पन्दन से तरङ्ग उत्पन्न होती है। वह स्पन्दन ही वृत्ति है और तरङ्ग को विचार कहा जा सकता है। जब जल में स्पन्दन रूप विकार ही नहीं होगा तो फिर तरङ्ग कहां से उत्पन्न होगी? कदापि नहीं होगी। यही स्थिति वृत्ति और विचार की है। जब वृत्ति ही नहीं रहेगी तो फिर विचार कहां से आएंगे—"मूलम् नास्ति कुतो शाखा।" योग और एकाग्रता का चोली-दामन का सम्बन्ध है। एक लक्षी विचार को ही एकाग्रता कहा जाता है। विचार कभी दुष्ट लक्ष्य में भी एकाग्र हो सकता है, उस समय उसे हम एकाग्रता न कह कर यदि आसक्ति कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। एकाग्रता शब्द सत्यार्थ में तन्मय होने के अर्थ में रूढ़ सा बन गया है। वह प्रायः प्रशस्तार्थ में ही प्रयुक्त होता है। एकाग्रता के अभ्यास से योग में सहायता मिलती है और योग के सिद्ध होने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। इस बात को ज़रा और अधिक स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

अष्टाङ्ग योग में चित्त-वृत्तियों का निरोध समाधि अवस्था में होता है। वहां ध्याता, ध्यान और ध्येय एकाकार हो जाते हैं, किन्तु देखना यह है कि यह स्थिति कितनी देर तक रह सकती है? इस स्वरूप-स्थिति का अक्षय आनन्द ध्याता कितने समय तक भोग सकता है? अन्तर स्पष्ट है कि जितनी देर तक साधक उस स्थिति में स्थित रहेगा। उतनी देर तक आनन्द का प्रवाह अविरल गति से प्रवाहमान रहेगा, कोई भी योगी आजीवन समाधि की अवस्था में नहीं रह सकता। शरीर के अपने कुछ धर्म हैं और उसकी कुछ आवश्यकताएं

हैं। साधक में यदि इच्छा न भी हो, फिर भी कुछ आवश्यकताएं तो रहती ही हैं। ऐसी आवश्यकताओं से दिगम्बर महावीर भी मुक्त नहीं थे। छः-छः महीने तप करने और कायोत्सर्ग में बैठने के पश्चात् भी भगवान् को भिक्षा के लिये समाधि से उठना पड़ता था। समाधि से उठते और आंख के खुलते ही चित्त-वृत्ति जागृत हो जाती है। उस क्षण में उसका 'निरोध' नहीं रह सकता है, किन्तु 'एकाग्रता' बनी रहती है? वृत्ति उत्पन्न होकर भी आत्मलक्षी बनी रहती है, तदनुसार विचार भी आत्मानुलक्षी रहते हैं। देह और इन्द्रियां कार्यरत होती हुई भी आत्मार्थ की परिधि से बाहर नहीं जातीं। प्रकृति और प्रकृति-जन्य सुख उनका लक्ष्य नहीं होता, बल्कि आत्मा और आनन्द ही उनका एकमात्र ध्येय रहता है। योग केवल निश्रेयस के लिए ही है, ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए। मेरे ख्याल में कर्म-क्षेत्र में योग सर्वाधिक उपयोगी है। एकाग्रता योग का मुख्य अंग है। जो अपने मन का जितना अधिक संयम कर सकता है, वह अपने कार्य को उतने अधिक सुन्दर ढंग से करने में सफल हो सकता है।

चित्र बनाते समय चित्रकार को देखिये, उसका मन अपनी कला को सजीव रूप देने में एक दम खोया हुआ मिलेगा। यही एकाग्रता उसकी तूलिका से बिखरे हुए रंगों में से एक सजीव चित्र को जन्म देती है। बाकी तो बाहर के जड़ साधन हैं। एकाग्रता आत्मा की अनन्त शक्ति का चमत्कार है, जिसे देखकर लोग वाह-वाह करने लगते हैं।

एक विद्वान् लेखक अपने विचार-सागर में डूब कर ही एक सुन्दर लेख का मोती निकलता है। अस्थिर चिन्तना में विचार तिनकों की तरह बिखर जाते हैं, उससे लेख तो क्या सुन्दर अक्षर भी नहीं बन सकते। सौंदर्य एकाग्रता की शाखा का सुन्दर फूल है और एकाग्रता योग के उपवन का एक सुन्दर कल्पवृक्ष है, इससे आप जो कुछ भी प्राप्त करना चाहें कर सकते हैं, केवल विश्वास की आवश्यकता है। ऐसे अनेकों उदाहरण और भी हो सकते हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण ही पर्याप्त समझता हूं।

चञ्चल पानी में अपनी परछाई कोई नहीं देख सकता। शान्त जल में वह पूर्णतया ठीक नजर आती है। ठीक इसी तरह चञ्चल मन से आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता है। आत्मा का बिम्ब मन में देखने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। आत्मा एक अरूपी तत्व है, उसका बिम्ब तो क्या होगा, केवल उसकी अनुभूति ज्ञान सत्य और आनन्द के रूपों में मन में होती है। आलङ्कारिक भाषा में इसे हम आत्मा का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं। इसे अनुभव करने के लिए एक अचञ्चल अर्थात् स्थिर मन की अपेक्षा रहती है।

मन की चञ्चलता क्या है? जरा इसे भी समझ लेना चाहिए। मन की चञ्चलता को समझने के लिये पहले मन के स्वरूप को भी समझना होगा।

जैन-दर्शन में भी मन को अन्तरङ्ग इन्द्रिय कहा गया है, किन्तु यह और ज्ञानेन्द्रियों की तरह प्रत्यक्ष तथा बाह्य नहीं है, किन्तु इसका सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ है। इन्द्रियों के कार्यक्षेत्र में यह अग्रगामी है, इसलिए इसे ईषद्-इन्द्रिय या नो-इन्द्रिय कहा गया है। कार्य और कारण में अभेद मानने से मनन को भी मन कहा जा सकता है, या जिसके द्वारा मनन किया जाए वह मन है, ऐसा अर्थ भी हो सकता है। संक्षेप में यदि हम कहें तो विचारों का माध्यम मन ही है।

जैन-दर्शन में जीव की छह पर्याप्तियों में मन एक पर्याप्ति है। चिन्तन, मनन तथा विचार करने की शक्ति-विशेष को मनः-पर्याप्ति कहते हैं। जिसके पास यह शक्ति रहती है उसे समनस्क जीव कहते हैं। विचार का सम्बन्ध 'समनस्क जीव' से है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य एक समनस्क प्राणी है, इसीलिए वह विचारों से सदा घिरा रहता है। प्रत्येक विचार कुछ क्षण रह कर चला जाता है, फिर दूसरा विचार आ जाता है। वह भी मिन्टों में भाग खड़ा होता है और फिर कोई तीसरा ही आकर मन में बैठा जाता है। वह भी अधिक देर कहां बैठता है टिक कर? वह भी चल पड़ता है तो फिर अन्य विचार भूत की तरह मन को घेर लेता है। यही मन की चंचलता है। यह मन का चांचल्य ही मनुष्य को परेशान करता रहता है। जीवन की यह स्थिति

महीना दो महीने या वर्ष दो वर्ष नहीं, बल्कि जीवन भर बनी रहती है। पवन के जोर से लहराते हुए ध्वज एवं उड़ते हुए तिनके की तरह यह मन सदैव डावां-डोल रहता है। ऐसा मन सुख और शांति से सदैव दूर ही रहता है। दुःख, शोक, चिन्ता और विषाद उसके साथ नित्य शत्रु की तरह लगे रहते हैं।

योग की साधना से इस चंचलता का अन्त किया जा सकता है। चंचलता के अन्त का अर्थ है एकाग्रता की प्रतिष्ठा। एकाग्रता की वेला में मनुष्य हर्ष शोक, दुख-सुख संयोग-वियोग, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान तथा लाभ-अलाभ आदि समस्त द्वन्द्वों में एक रूप एवं समरस रहता है। यही गीता के शब्दों में 'समता-योग' है, जैन भाषा में इसे सामायिक-योग कहा जा सकता है। एकाग्रता और सामायिक को मैं एक ही स्थिति समझता हूं। आत्मानुलक्षी विचार एकाग्रता है। आत्मा में वैषम्य नहीं होता, वह सदा "सम" है, क्योंकि वह सत् रूप है। सत सदा सम ही रहता है। इसलिये एकाग्रता और सामायिक एक ही तत्त्व है, दो नहीं। एक की साधना होने से दूसरी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

चंचलता क्या है? एकाग्रता की साधना के लिए इसे समझना नितान्त आवश्यक है।

ऊपर मैंने कहा है कि विचारों की क्षणिकता ही मन का चांचल्य है। अब प्रश्न होता है कि विचारों का केन्द्र कहां है? इनका उद्गम-स्थान इस शरीर में कहां है? कुछ लोग इस प्रश्न का उत्तर देंगे कि विचारों का केन्द्र मन है, किन्तु यह उत्तर समीचीन नहीं है? मन तो जड़ है? भला जड़ में विचार कहां से आएंगे? विचार मन का धर्म नहीं है। विचार आत्मा का धर्म भी नहीं हैं, क्योंकि यदि विचार को आत्मा का धर्म मानेंगे तो फिर सिद्धों में भी विचार मानना पड़ेगा। ऐसा मानने से बड़ी गड़बड़ हो जायेगी, क्योंकि विचार से मन और कर्म की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा। सिद्धों में यह सब कुछ नहीं है, इसलिए 'विचार' को आत्मा का धर्म भी नहीं माना जा सकता। आत्मा का धर्म तो ज्ञान है। ज्ञान और विचार में मौलिक भेद है। विचारों के

लिए मन रूप माध्यम की अपेक्षा रहती है, किन्तु ज्ञान के लिए मन की आवश्यकता नहीं, वह आत्मा का निजीगुण है।

विचार प्रकृति का धर्म भी नहीं, क्योंकि प्रकृति जड़ है। जैन-धर्म के अनुसार कार्मण और तैजस शरीर जो कर्म-परमाणुओं का पिण्ड होने से पौद्गलिक है, उसका धर्म भी विचार नहीं हो सकता, तो फिर विचार क्या है ? इसे समझना हो तो सर्व प्रथम वृत्ति का मूल क्या है ? इसे समझना पड़ेगा।

जीव में कर्म एवं प्रकृति के संयोग से अहं एवं अस्मिता तथा जैन-धर्म के अनुसार मोह के रूप में एक वृत्ति का उदय होता है। वह वृत्ति रागात्मक तथा द्वेषात्मक रूप लेकर चित्त में उद्भूत होती है, वहीं पर शुभाशुभ विचारों की मन में उत्पत्ति होती रहती है। विचारों में चैतन्य आत्मा का है और गुणप्रकृति का है। प्रकृति स्वभाव से परिवर्तन-शील है—क्षणिक है —अस्थिर है। इसलिए ही मन के विचारों में अस्थिरता प्रतीत होती है। विचारों की अस्थिरता के कारण ही मन को अस्थिर एवं चंचल कहा जाता है इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—

एक सरोवर है, उसके किनारे एक लोहे का स्तूप है। उसकी परछाईं पानी में पड़ती है। पानी जब हिलता है तो लोहे के स्तूप का प्रतिबिम्ब भी हिलता हुआ मालूम होता है। स्तूप की छाया पानी में पड़ती है और पानी के चांचल्य से वह छाया चंचल प्रतीत होती है। नहीं तो स्थिर स्तूप की छाया कदापि चंचल नहीं हो सकती। लोहे के स्तूप की तरह आत्मा और उसका चैतन्य चंचल नहीं हैं, चित्त और मन में उसका चैतन्यांश सदा एक रूप से रहता है। केवल प्रकृति का चांचल्य ही उसमें प्रविष्ट होकर उसे चञ्चल बना देता है। जैन-धर्म ने मन के निग्रह एवं एकाग्रता की चर्चा करते हुए पुनः-पुनः संयम और तप पर अधिक जोर दिया है। संयम के द्वारा बाहर के जगत् से मन का सम्बन्ध टूट जाता है, मन पर बाहर से प्रकृति का दबाव कम ही नहीं एक तरह से विशेष हो जाता है। तप का सम्बन्ध भीतर के जगत से है। वह भीतर से संचित कर्म-शक्ति या प्रकृति के बल को क्षय

करता है, जर्जरित करता है, कर्म को क्षीण करके उसके बन्धन खोलता है, जिसे जैन धर्म में निर्जरा कहा गया है। निर्जरा से चित्त और मन पर अन्तरङ्ग से पड़ने वाला प्रकृति का दबाव एक तरह से समाप्त हो जाता है, यही मन की एकाग्रता और चित्त का निरोध है। आत्मा की यह अवस्था उसकी शुद्ध स्वरूपावस्था है। शरीर के रहते हुए कर्म अनिवार्य है और प्रवृत्ति अपहरिहार्य है, किन्तु चित्त के मल और विक्षेप हट जाने पर वह प्रवृत्ति अमृत रूप हो जाती है, स्व-पर के लिए कल्याणकारी सुखमयी एवं शांतिमयी बन जाती है। प्रवृत्ति में अमृत और निवृत्ति में भी अमृत, बस एक अमृत ही बाकी रह जाता है, अन्य कुछ नहीं। योग एक लम्बी साधना है। साधारण मनुष्य के लिए कठिन हो नहीं असम्भव भी है, किन्तु एकाग्रता का सम्पादन इतना मुश्किल नहीं। जीवन की अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव से रहने का अभ्यास कर लेने से एकाग्रता आ सकती है, कर्म-फल पर विश्वास, अनासक्ति, सन्तोष, अक्रोध, सहनशीलता, धैर्य-गुण-दृष्टि, आत्म-विश्वास तथा प्रसन्न-चित्तता ये सब एकाग्र मनोयोग के आधार-स्तम्भ हैं, यह कदापि भूलना नहीं चाहिये। मनोनिग्रह की इन भूमिकाओं पर जरा और गहरा चिन्तन कर लेना चाहिये। इसकी पहली भूमिका है—कर्म-फल पर विश्वास।

कर्म-फल पर विश्वास—जो व्यक्ति अपने कर्मों पर विश्वास रखता है वह शुभ में अहंकार और अशुभ में विषाद नहीं करता। उसके मन के सरोवर में संकल्प और विकल्प के बुल-बुले नहीं उठते। वह सुख-दुख में निमित्त बनने वालों पर राग-द्वेष नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि अपने कर्म पर रहती है, निमित्त पर नहीं। इस तरह कर्म-फल पर विश्वास करने से वह व्यर्थ के संकल्प-विकल्प के चक्रव्यूह से बच जाता है। योग की पूर्णता के लिए व्यर्थ के संकल्पों-विकल्पों से अपने को सुर- क्षित रखना अत्यन्त आवश्यक है।

अब दूसरी भूमिका पर आइये, वह है अनासक्ति।

अनासक्ति—जिस व्यक्ति का मोहनीय कर्म प्रबल है, जो इन्द्रिय-विषयों में सहज में ही फंस जाता है, संसार का आकर्षण जिसे जल्दी लुभा

लेता है, वह योग की साधना के लिए पात्र नहीं हो सकता। आसक्ति वियोग में दुःख एवं शोक उत्पन्न करती है, यह आर्त्तध्यान की जननी है। मोह में अतृप्ति रहती है, अतृप्ति अशान्ति को जन्म देती है। अशान्त-चित्त व्यक्ति एकाग्रता का वरण नहीं कर सकता। संसार में कोई मेरा नहीं, मेरा कुछ नहीं, मैं किसी का नहीं, मैं अकेला ही दुनिया में आया हूं, अकेला ही जाऊंगा, कर्म अकेला ही कर रहा हूं। उस कर्म का फल अकेला ही भोगूंगा। जीव को शरण देने में कोई समर्थ नहीं। संसार में तेरा कोई मित्र नहीं, तू अपना मित्र आप ही है, ऐसा चिन्तन व्यक्ति को संसार के मिथ्या-मोह से मुक्त कर सकता है। अमोह की अवस्था में कोई भी संयोग व वियोग मन को प्रभावित नहीं कर सकता, मन स्थिर रहता है और तभी साधक योग की साधना करने में सफल हो सकता है। एकाग्रता तो इस चिन्तन का सुखद फल है ही।

योग की तीसरी भूमिका पर जरा आइये, वह है सन्तोष।

सन्तोष—सन्तोष की स्थिति में आवश्यकता पर तो दृष्टि रहती है, किन्तु इच्छा पर नहीं। इच्छा का संक्षेपीकरण मन को संयत कर देता है, व्यर्थ का चिन्तन बन्द हो जाता है। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में प्रवेश पाने का अवकाश मिलता है। इच्छा की पूर्ति की अपेक्षा इच्छा के निरोध में अधिक सुख प्राप्त होता है। यह विश्वास व्यक्ति को सन्तोष की भूमिका पर आसीन कर देता है। सामाजिक उन्नति में सन्तोष जितना बाधक है, आध्यात्मिक जीवन में वह उतना ही अधिक साधक है।

योग की चौथी भूमिका है—अक्रोध।

अक्रोध—क्रोध योग-साधना का सबसे बड़ा शत्रु है। क्रोध विवेक का राहु है। अविवेक सब पापों का मूल है। अविवेक अच्छा नहीं होता है, किसी भी कर्म के अच्छे-बुरे परिणाम को वह सोचने ही नहीं देता। इसके कारण ही उसके जीवन में अशान्ति रहती है। विनय का अभाव होने से वाणी कठोर बन जाती है। दूसरों को वह अप्रिय लगने लगती है। क्रोध मैत्री और प्रेम की कैंची है। प्रेम के अभाव में व्यक्ति का जीवन सूखा हो जाता है और ऐसे व्यक्ति ही शान्ति पाने के लिए योग-शिविरों

में जाते हैं। शिविरों की प्रथा श्रेष्ठ है, किन्तु जब तक भीतर का विवेक-नेत्र नहीं खुलेगा, तब तक स्थायी शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती। आचार्य योग की प्रक्रिया सिखा सकते हैं, किसी को योगी नहीं बना सकते। योग से क्रोध नहीं जायेगा, बल्कि अक्रोध से योग आयेगा, ऐसा समझना चाहिये। अक्रोध का फल है हित, मित और मिष्ट वचन।

पांचवीं भूमिका पर उतरिये जरा, वह है सहनशीलता।

सहनशीलता—एकाग्रता मनोयोग की साधना के लिये सबसे बड़ा गुण है। अक्रोध, धैर्य तथा समभाव इसी सहनशीलता की शाखा के सुन्दर फूल हैं। क्षमा के बिना व्यक्ति सहनशील नहीं हो सकता, अहंकारी के पास सब कुछ हो सकता है, किन्तु क्षमा नहीं हो सकती। एक सहिष्णुता के आ जाने से अनेकों ही गुण जीवन में आ जाते हैं। असहिष्णु व्यक्ति का मन कभी एकाग्र नहीं हो सकता। योग के लिए जीवन के प्रत्येक शुभाशुभ को सहन करना पड़ता है। याद रहे संसार में अशुभ का सह लेना तो सुगम है, किन्तु शुभ को पचाना अति कठिन है। साधु के बाईस परीषहों में अक्रोध और सत्कार दोनों को परीषह कहा गया है। आक्रोश की अपेक्षा सत्कार को हजम करना अधिक दुष्कर है। कांटे से फूल अधिक खतरनाक होता है, कांटा तो शरीर को दुख देता है, किन्तु फूल कोमल होता हुआ भी भीतर से मन को जकड़ लेता है, उसके बल और उसकी शक्ति को खोखला कर देता है। दुख अगर कांटा है तो सुख फूल है। प्रतिकूलता यदि कांटा है तो अनुकूलता फूल है। योग के लिए दोनों को सहन करना पड़ता है, तभी मन एक रूप हो सकता है।

छठी भूमिका है धैर्य।

धैर्य—इसका दूसरा नाम धृति है। मनु ने धर्म के दश लक्षणों में इस गुण को प्रथम एवं प्रधान स्थान दिया है। धैर्य सहिष्णुता की बीज-शक्ति है, जिसमें जितना धैर्य होता है उसमें उतनी ही सहन-शक्ति होती है। आत्मा के विशुद्ध सत्य पर मानसिक विश्वास के साथ खड़े रहना धैर्य है और ऊपर की अनुकूल एवं प्रतिकूल जीवन-स्थितियों को मौन रूप से स्वीकार कर लेना सहनशीलता है। धैर्य मन की वह आंख है जिस

के सामने सत्य का आलोक सदैव बना रहता है। उस आलोक में नजर आने वाले जीवन के स्तम्भ को सहनशीलता कहा जा सकता है। दोनों का आधाराधेय सम्बन्ध है। योग और एकाग्रता की यह आधार-शिला है। यह गुण विघ्न-बाधाओं में भी साधक को आशावान् बनाये रखता है। उसे पुनः-पुनः प्रयत्नशील होने की क्षमता प्रदान करता है। शान्ति के द्वार पर बाहर खड़े रहकर जीवन भर उस द्वार को खटखटाता रहता है। आत्म-सुख के उस मंगल प्रभात के उदय की प्रतीक्षा में खड़े-खड़े कभी थकता नहीं। कभी निराश व हताश नहीं होता। ऐसा ही दृढ़ प्रतिज्ञ-व्यक्ति योग-साधना का अधिकारी होता है।

सातवीं भूमिका है गुण-दृष्टि—

गुण-दृष्टि—यह सारा संसार गुण-दोष-मय है। कान और आंख ये संस्कारों को ग्रहण करने के दो प्रधान माध्यम हैं। अन्य इन्द्रियां भी बाहर के जगत् से शुभाशुभ संस्कारों को इकट्ठा करती हैं, किन्तु कान और आँख का क्षेत्र अधिक विस्तृत एवं विशाल है। कान नजदीक से और दूर से सदा ही कुछ सुनते रहते हैं और आंखें इधर-उधर सदा ही कुछ न कुछ देखती रहती हैं, इसलिए इन दो के द्वारा अधिक संस्कार बनते हैं। बाहर की दुनिया के संस्कार संकल्प के बीज होते हैं। संकल्प और विकल्प मन को अस्थिर बना देते हैं। यह अस्थिरता व्यक्ति के योग-मार्ग में विघ्न रूप होती है। आंख और कान को बन्द रखना योग-साधना में गति उत्पन्न करता है, किन्तु व्यवहार में इन को सदैव तो बन्द नहीं रखा जा सकता। हां! इनका संयम अवश्य हो सकता है। व्यवहार से संयम का अभिप्राय केवल इतना ही है कि कभी कान से दुष्ट श्रवण और आंख से दोष-दर्शन न होने पाये, क्योंकि दोष-दर्शन से जीवन में दोषों का संग्रह हो जाता है। इससे निन्दा और पर-परिवाद की आदत बनने लगती है। इस तरह बाहर का वातावरण मन को अशान्त रखता है। उसको सुलझाने में शक्ति का अपव्यय होता है। गुण-ग्रहण से व्यक्ति इन सब दोषों से दूर रहता है जीवन के शान्त क्षणों में ही योग की साधना सफल होती है।

आठवीं भूमिका पर चलिए जरा, वह है आत्म-विश्वास।

आत्म-विश्वास—आत्म-विश्वास के बिना कोई काम नहीं होता। आत्म-विश्वास में दीनता नहीं रहती, भय भी समाप्त हो जाता है। आत्मा की सुप्त शक्ति जाग पड़ती है। उसमें विघ्न-बाधाओं से लड़ने की क्षमता आ जाती है। साधक परावलम्बन से मुक्त रहता हुआ स्वयं अपने बल पर आगे बढ़ता है। मैं आत्म-विश्वास को साधना की रीढ़ की हड्डी समझता हूं, इसके छूट जाने पर साधना के शरीर को गिरने में विलम्ब नहीं होता। आत्म-विश्वास का प्राण सत्य-निष्ठा है।

योग की अन्तिम भूमिका है प्रसन्न-चित्तता—

प्रसन्न-चित्तता जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है। पशु रोता है, किन्तु कभी खिलखिला कर हंसता नहीं। यह वरदान मनुष्य को ही मिला है। हंसना भी गम्भीर हो और उसके पीछे मन की प्रफुल्लता भी हो, केवल प्रसन्नता का प्रदर्शन न हो। व्यक्ति सदैव हंस तो नहीं सकता, किन्तु प्रसन्न तो वह सदैव रह सकता है। प्रसन्न-मुख कमल की तरह खिला रहता है। उसको देख कर दूसरों के मन की चिन्ता एवं चेहरे की उदासी दूर हो जाती है तथा आंखों के आंसू भी सूख जाते हैं. दिन में दो चार बार गम्भीर हंसी का व्यायाम हो तो कोई बुरा नहीं, किन्तु प्रसन्न-चित्तता तो सदैव जीवन के अंग-अंग में रहनी चाहिये। यह सफल योग की एक निशानी है।

ये हैं योग एवं मनोनिग्रह की प्राथमिक भूमिकाएं। इनका चिन्तन एवं अभ्यास आपके लिए शान्ति और सुख के द्वार खोल सकता है और एक दिन आपको योग के शिखर पर भी पहुंचा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। ●





मानव जीवन की विशेषता चिन्तन और विवेक



संसार में मानव-जीवन दुर्लभ है, मानव के रूप में जीव का प्रादुर्भाव पुण्योदय से ही होता है, प्राय: सभी धर्म-शास्त्रों का यही मत है। मानव-देह अवश्य पुण्य से ही प्राप्त होती है, किन्तु सभी मानव पुण्य या धर्म करते हों ऐसी बात नहीं है।

विवेक मानव-जीवन से भी अधिक दुर्लभ है। विवेक तो बड़ी दूर की चीज़ है, सद्बुद्धि का जीवन में उदय भी अति दुर्लभ होता है। सभी कहते हैं कि मनुष्य पशु से कहों श्रेष्ठ प्राणी है, किन्तु मैं कहता हूं कि विवेकहीन और सद्बुद्धि से शून्य मानव पशु से भी कहीं अधिक निकृष्ट प्राणी है। पशु के पास कार्य के परिमित तथा सीमित साधन होते हैं; पशु विचार-प्रधान प्राणी नहीं है। प्रकृति तथा स्वभाव ही उसके जीवन की संचालिका शक्ति हैं, उन्हीं से प्रेरित होकर पशु अपने जीवन की यात्रा पूर्ण करता है।

किन्तु मनुष्य का जोवन उससे बिल्कुल भिन्न है। मनुष्य एक विचार-प्रधान प्राणी है। विचार उसके जीवन की प्रेरक शक्ति है। प्रकृति और स्वभाव का भी उसके जीवन पर प्रभाव देखा जाता है; किन्तु वह अपने विचार-बल से अपनी प्रकृति और स्वभाव को भी परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। पशु के स्वभाव में परिवर्तन प्रकृति के प्रांगण की एक असम्भव घटना है।

मनुष्य अपने आस-पास के वातावरण एवं परिस्थितियों से बहुत

कुछ सीखता है। प्रकृति के अनन्त प्रांगण के अनन्त संस्कार मनुष्य के अंतरंग में उतर कर उसके स्वभाव और प्रकृति को एक नवीन रूप प्रदान करते रहते हैं। उसकी यही आग्रहण - शक्ति ही उसके चिन्तन और मनन की बीज शक्ति है।

मानव का ह्रास और विकास उसके चिन्तन और मनन पर ही आधारित रहते हैं, भावना का यही मूल है। भावना संस्कार का एक प्रतिबिम्ब है, उस प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में जितना विवेक से काम लिया जाएगा उतना ही मनुष्य अपने जीवन के अन्तस्तल को संस्कारों की कुत्सित प्रतिकृति से सुरक्षित रख सकेगा।

पशु अपने आस-पास की दुनिया से प्रायः कुछ भी नया ग्रहण नहीं करता, यदि कुछ करता भी है तो वह आपवादिक स्थिति में और वह भी अत्यन्त सामान्य रूप में, जिसे परिवर्तन की कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। चिन्तन यहां अत्यन्त नगण्य अवस्था में रहता है, इसलिए न वहां बाहर से आग्रहण है और न अन्तरङ्ग से जागरण ही है। पशु की प्रत्येक प्रवृत्ति पर प्रकृति का अंकुश और उसके समूचे पराक्रम पर स्वभाव का शासन रहता है। इस तथ्य की पुष्टि में दो तीन उदाहरण देने अधिक उपयुक्त रहेंगे।

आप देखते हैं कि परभृत अर्थात् कोयल काक-नीड़ में पोषण पाकर भी काक-चांचल्य तथा उसके कर्कश स्वर का ग्रहण नहीं करती। स्वर-माधुर्य का वह कभी भी परित्याग नहीं करती। उसके मधुर स्वरों में कर्कश स्वरों का तनिक भी मिश्रण नहीं होने पाता। भला ऐसा क्यों ?

मानव अपने साथी मानव के गुण-दोषों से प्रभावित होता देखा जाता है, किन्तु कोयल कौए के दुर्गुणों से एक साथ रह कर भी प्रभावित नहीं होती। इस प्रश्न का उत्तर क्या है ? इसका एक ही समाधान हो सकता है कि एक के स्वभाव में दूसरे के स्वभाव का प्रवेश नहीं हो पाता।

चिन्तन ही दूसरे के गुण-दोष के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है।

आकर्षण-विकर्षण से ही संस्कार-जगत् में परिवर्तन का उपक्रम आरम्भ होता है। ऐसा परिवर्तन पशु-जीवन में अत्यन्त नगण्य दशा में रहता है। जहां चिन्तन नहीं वहां स्वभाव प्रधान हो जाता है। व्यक्ति का शुभ स्वभाव शुभ तथा अशुभ स्वभाव अशुभ मार्ग की ओर ले जाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि उस पर किसी नवीन प्रेरणा एवं उद्बोधन का प्रभाव नहीं पड़ता। नया चिन्तन प्रकृति में पर्याय-परिवर्तन करता है। अशुभ प्रकृति को शुभ और शुभ को अशुभ बनाने की क्षमता एक मात्र चिन्तन में ही है और वह चिन्तन मनुष्य को ही विरासत में मिला है।

मनुष्य शब्द की परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि जो मननशील है वह ही मनुष्य है। मानव की अपेक्षा 'मनुष्य' शब्द अधिक समीचीन एवं उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्य शब्द में चिन्तन का भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। चिन्तन-रहित होने से पशु अपने स्वभाव के अनुसार ही प्रवृत्ति करता रहता है।

हम देखते हैं कि सरोवर के किनारे पर हंस भी रहता है और बगुला भी मछलियां पकड़ता है। हंस का स्वभाव बगुले में नहीं आ पाता और बगुले की प्रकृति हंस के जीवन में प्रवेश नहीं कर पाती। दोनों अपने-अपने स्वभाव के आधीन रहकर प्रवृत्ति करते हैं। वहां दुर्जन सज्जन से कुछ नहीं सीखता। शूकर को गंदगी खाने में जो मजा आता है वह मजा उसे मिष्टान्न के खाने से भला कैसे मिल सकता है? उसके यह स्वभाव का चमत्कार नहीं तो और क्या है? जिस जंगल में गाय और घोड़ा हरी-हरी घास चरते हैं उसी जंगल में जंगल का बादशाह शेर शिकार के लिए प्राणियों की तलाश में फिरता रहता है। सरकस में गधा, घोड़ा और शेर एक साथ काम करते हैं। एक दूसरे के पास रह कर भी शेर कभी शाकाहारी बन नहीं पाता। कहते हैं कि "शेर भूखा मर जाता है, किन्तु कभी घास नहीं खाता" और उसी प्रकार संकट के क्षणों में भी गाय और घोड़ा कभी मांस को मुंह नहीं लगाते। यह सब कुछ विवेक से नहीं होता, बल्कि स्वभाव से ही होता है। इन प्राणियों को आहार के गुण-दोषों का तो कुछ भी ज्ञान नहीं। केवल जाति-स्वभाव

का ही इन के जीवन में प्रभुत्व रहता है। उसी से प्रेरित होकर वे ऐसा करते हैं। पुण्य-पाप की समीक्षा उनके जीवन में नहीं है। इसीलिए धर्म का पशु के जीवन में कहीं भी स्थान नहीं। उसकी उसे आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि उसके सामने न तो कोई जीवन का पावन उद्देश्य है और न ही उसके पीछे कोई समाज है। पुण्य, पाप और धर्म का विचार या तो समाज के लिए उपयोगी होता है या वैयक्तिक जीवन के अभ्युदय के हेतु। ये दोनों ही लक्ष्य पशु-जोवन में नहीं हैं। यह तो मनुष्य के हो काम की वस्तु हैं। शायद इसीलिए कहा गया है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

पशु जीवन भर आहार-निद्रा भय तथा भोग को ही परिक्रमा करता रहता है, इसी में उसका संपूर्ण जीवन बीत जाता है। उसे हेय, ज्ञेय और उपादेय का कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता। जहां इस शब्द-त्रय का ज्ञान नहीं है, वहां चिन्तन के बिना धर्म-तत्त्व की समीक्षा नहां हो सकती। मानव चिन्तनशील प्राणी है, इसलिये धर्म की आराधना का अधिकारी वही माना गया है। वस्तुतः इसके जीवन की उच्चता तथा श्रेष्ठता का धर्म हो केन्द्र-बिन्दु है। यही उसके जीवन की उपादेयता की आधार-शिला है।

मनुष्य का चिन्तन जब सत्य से ओत-प्रोत होता है, तभी उसे धर्म-चिन्तन की संज्ञा उपलब्ध होती है। यह सत्य पर-विषयक न होकर स्व-विषयक होना चाहिए। आत्मा ही धर्म-दर्शन में "स्व" तत्त्व है, प्रकृति पर तत्त्व है।

वैसे तो चिन्तन के द्वारा ही मनुष्य परमाणु जगत् के अन्तस्तल तक पहुंचा है। चिन्तन की पांखों से उड़ कर ही प्राणी चन्द्र-लोक के धरातल पर पहुंचने में सफल हो सका है। आज के वैज्ञानिक युग के आश्चर्य-जनक अविष्कार मानव के विकास-युग के सजीव प्रमाण हैं। मानव के चिन्तन ने ही उसे विकास के शिखरों पर आसीन किया है!

प्रकृति की शक्तियों के अन्वेषण को हम भौतिक विज्ञान की संज्ञा देते हैं। यह भी सत्य की ही एक शोध है, किन्तु, पर-विषयक' धर्म से

वह 'स्व' के प्रति उपेक्षित रहता है। 'स्व' के बिना 'पर' का कुछ भी महत्त्व नहीं। 'स्व' को 'स्व' ही जानता है और पर को भी 'स्व' ही जान सकता है। पर के लिए "स्व" नहीं, बल्कि "स्व" के लिए पर है। आत्मा नहीं है, मन, शरीर और इद्रियां जब आत्मा के लिए समर्पित होते हैं तभी आत्मा का विकास होता है। आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। किन्तु जब 'स्व' आत्मा, शरीर मन और इन्द्रियों के लिए स्वयं को विस्मृत करके समर्पित हो जाता है तब आत्मा का पतन होना आरम्भ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब मानव अपने विराट् 'स्व' को भूल कर भौतिक विज्ञान को ही सब कुछ मान लेता है तभी जीवन और जगत् का पतन होता है। विकास में से विनाश का ज्वालामुखी फूट पड़ता है। स्व को विस्मृति विराट सत्य की उपेक्षा, निरादर तथा अपमान है। जीवन का यह अज्ञान मोह राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, वैर, मद और मत्सर जैसे कुभावों का सृजन करके जीवन और जगत के लिए नरक के द्वार खोल देता है। इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि मनुष्य का चिन्तन जब सत्य शिव और सुन्दर होगा तभी वह भौतिक विज्ञान को अपने लिए मंगलकारी वरदान बना सकेगा, नहीं तो यह अभिशाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

शक्ति अपने आप में न अच्छी है और न बुरी है। उसकी शुभता और अशुभता तो उसके उपयोग पर ही निर्भर करती है। उपयोग भाव-प्रधान होता है, जैसा भाव होगा वैसा ही उपयोग होगा। शरीर और इन्द्रियां तो उपयोग के बाह्य उपकरण मात्र हैं। उनका संचालक तो मन के भावों से प्रेरित रहता है। भाव अन्तरंग की वस्तु हैं, वे भौतिक विज्ञान की चीज़ नहीं है। शरीर के कण-कण और एक-एक नाड़ी को देखने वाला चिकित्सक अपने भीतर उठने वाले कषायों के वेग, उनके कारण और उनके केन्द्र को नहीं देख पाता, उसे यह मालूम नहीं हो सकता कि ये सब विकार कहां से प्रकट हो जाते हैं और फिर कहां चले जाते हैं। परमाणु - गर्भ में झांक कर देखने वाली वैज्ञानिक की आंखें स्वयं अपने को नहीं देख पातीं। वैज्ञानिक शायद यह बतला सकता है कि वर्षा कब आएगी ? भूकम्प होगा ? समुद्री तूफान कब उठेगा ? किन्तु यह नहीं बता सकता कि उसके अन्तःकरण में किस समय कौन

सा भाव उठेगा और वह उसे किस दिशा में ले जाएगा ? मृत्यु उसके जीवन में कब भूकम्प उत्पन्न कर के उसे धराशायी कर देगी ? यह उसे ज्ञात नहीं होता। दुःख और विपत्ति का तूफान उठकर कब उसकी जीवन-नैया को डुबो देगा ? इसका उसे तनिक भी भान नहीं रहता।

इसीलिए मैंने ऊपर कहा है कि भौतिक विज्ञान की समस्त प्राकृतिक पदार्थों में अप्रतिहत गति हो सकती है ? किन्तु मनुष्य के अन्तरंग के भावों में उसका प्रवेश नहीं। उसके लिए आत्म-ज्ञान की अपेक्षा है। सत्य का चिन्तन ही व्यक्ति के जीवन का ज्ञान-चक्षु बनता है। इस ज्ञान-चक्षु से मनुष्य को 'स्व' का साक्षात्कार होता है। 'स्व' स्वयं शिव है, वह वस्तुतः सत्य और सुन्दर है, किन्तु जो केवल सुन्दर और क्षणिक सत्य है, किन्तु शिव नहीं है, वह उपादेय नहीं हो सकता, जैसे कि प्रकृति स्वरूप से सत्य है, नाम और रूप से क्षणिक है, सुन्दर तो वह है ही, किन्तु वह अपने आप में शिव नहीं है।

शिव का अर्थ है—'मंगल' कल्याण, सुख, शुभ और आनन्द। मनुष्य जब अपनी आत्मा के समान ही सब प्राणियों में आत्मा के दर्शन करने लगता है, जड़ और चेतन का उसके भीतर विवेक जाग पड़ता है, तब उस का सब कुछ दूसरे के सुख-निर्माण एवं हित के लिये समर्पित हो जाता है, तभी उसका चिन्तन विभु आकार धारण करता है, उसका स्व विराट् बन जाता है, समूचा जगत उसमें समाविष्ट हो जाता है। 'स्व' के अतिरिक्त शेष कुछ नहीं रहता। फिर वह कठोर बने तो किसके प्रति ? यदि वह हिंसा करे तो किसकी ? वह दुर्व्यवहार करे तो किसके साथ ? क्योंकि व्यक्ति 'स्व' के प्रति कभी कठोर नहीं हो सकता। स्व की हिंसा वह नहीं करता, क्योंकि अपने प्रति दुर्व्यवहार किसी को भी रुचिकर नहीं है। सर्वत्र 'स्व' के दर्शन से अहिंसा स्वतः सिद्ध हो जाती है। सत्य जीवन में अपने आप आता है। अहिंसा और सत्य ही आध्यात्मिक विज्ञान हैं, इससे सन्धि पाकर भौतिक विज्ञान भी शिव रूप होकर उपादेय बन सकता है। नहीं तो वह हेय के सिवाय और कुछ नहीं। इन आध्यात्मिक शिखरों पर केवल मनुष्य ही पहुंच सकता है, क्योंकि वह किसी विशेष स्वभाव का दास नहीं। वह चिन्तन-गगन का उन्मुक्त विहग है और चिन्तन से वह विवेक को उपलब्ध करने में सक्षम है, यही उसकी विशेषता है। ●



जागरण और निद्रा

○

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति।

अमुनि सोता रहता है और मुनि जागता रहता है।

मूल सूत्र—

यह सूक्त आचारांग सूत्र का है। काफी गहनता और गम्भीर्य को लिए हुए यह शास्त्र के पन्नों पर अवतरित हुआ है। गहनता का ज्ञान गहन चिन्तन के पश्चात् ही होता है। इसी में चिन्तन की डुबकी लगाने के लिए मेरी लेखनी तत्पर हुई है। मुझे विश्वास है कि पाठकोंका चिन्तनशील पठन इस सूत्र के रहस्य को अवगत करने में अवश्य सफल होगा।

भगवान महावीर की दिव्यात्मा से एक मंगल शब्दावली उद्भूत हुई और आचारांग के पन्नों पर उसका अंकन सदा-सदा के लिए सुरक्षित हो गया :—

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति।

इस सूत्र का सरलार्थ केवल इतना ही है कि संसार में अमुनि सदा सोये हुए रहते हैं और मुनि सदा जागते रहते हैं, वे कभी सोते नहीं।

निद्रा की उपयोगिता—

व्यवहार में निद्रा के वशवर्ती आंखों की पलकों के निमीलन तथा उन्मीलन की प्रक्रिया को ही शयन तथा जागरण कहा जाता है।

निद्रा जीवन के लिए परमावश्यक है। मनुष्य तो निद्रा लेता ही है, उसके अतिरिक्त पशु-पक्षी भी निद्रा के सुख का आस्वादन करते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार वनस्पति लोक में भी निद्रा का शासन पाया जाता है।

उपर्युक्त सूत्र का विश्लेषण करने से पूर्व निद्रा के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां लिखना अधिक उपयुक्त रहेगा।

जैन-धर्म के अनुसार दर्शनावरणीय कर्म का जीव पर प्रभाव ही निद्रा है। यह प्रभाव जितना प्रगाढ़ होता जाता है निद्रा का बन्धन भी उतना ही प्रगाढ़ हो जाता है।

निद्रा एक प्रकार से जीवन का अंग ही है। क्या मुनि और क्या अमुनि सभी को इसके अंक में विश्राम ही लेना पड़ता है। निद्रा जीवन में स्फूर्ति देती है, यह स्वस्थ एवं निरोग जीवन का सर्वोत्तम आश्रय-स्थान है। रोगी सुख-पूर्वक निद्रा लेने लगे तो यह आरोग्य की पहली सूचना समझी जाती है और यदि व्यक्ति दुर्भाग्य से अनिद्रा दोष से ग्रस्त हो जाये तो उसके शारीरिक बौद्धिक तथा मानसिक जगत में एक तरह से भूकम्प आ जाता है। निद्रा के अभाव में शरीर का कण-कण दुखने लगता है। मन बेचैन हो जाता है, मस्तिष्क पर व्यर्थ के चिन्तन का भार पड़ जाता है। आंखों के आगे अन्धेरा छाने लगता है, कभी-कभी मन और मस्तिष्क विक्षिप्त हो उठते हैं। अनिद्रा समस्त रोगों की रानी है। जीवन की सुरक्षा के लिए निद्रा अत्यन्त आवश्यक है। इसी-लिए आजकल कृत्रिम निद्रा लाने के लिए औषधियों का सेवन किया जाता है।

निद्रा के क्षणों में शरीर की थकान मिट जाती है, मन की चिन्ता दूर हो जाती है और मस्तिष्क का भार उतर जाता है। सोने के बाद व्यक्ति अपने आपको हलका अनुभव करने लगता है।

संसार में विचारों से बढ़ कर शक्तिशाली और बोझिल कोई चीज नहीं है। संकल्प की शक्ति से ही मनुष्य मछली की तरह संसार-सागर में तैर रहा है, पक्षी की तरह हवा में उड़ रहा है, किन्तु जब मनुष्य का

संकल्प और विश्वास गिर जाता है और उसके मन पर कोई आघात लगता है तो समुद्र में तैरने और आकाश में उड़ने वाला मानव धरती पर खड़ा भी नहीं रह सकता, वह उसी समय गिर जाता है। तब वह अपने शरीर को भी सम्भाल नहीं पाता। ऐसा विक्षिप्त चित्त व्यक्ति यदि दो घड़ी मीठी नींद का आनन्द लेकर उठे तो उसे ऐसा लगेगा कि वह किसी अमृत-सरोवर में से स्नान कर के बाहर आया है। उसके मन की सारी चिन्ता और दिमाग का सारा भार काफूर हो गया है। धर्म-ग्रन्थों के हजारों उपदेश जो काम नहीं कर सकते वह काम दो घड़ी की मीठी नींद कर देती है। जीवन में आरोग्य, सुख, स्फूर्ति तथा शक्ति-संचार करने के लिए नींद अत्यन्त आवश्यक है।

फिर निद्रा का निषेध क्यों ?

जीवन में नींद इतनी उपयोगी होने पर भी शास्त्रकारों ने कह दिया है कि जो सोया हुआ है वह अमुनि है और जो जागता है वह ही मुनि है, अर्थात् सोना मुनि का काम नहीं, वह तो जागता रहता है। जो कुछ शास्त्रकार कह रहे हैं व्यवहार में क्या ऐसा ही देखा जाता है? क्या अमुनि ही सोता है? मुनि नहीं सोता क्या? वह भी सोता है। रात्रि में तो सोता ही है, कभी-कभी दिन में भी सो जाता है। मुनि तो क्या महामुनि तक भी सोते देखे जाते हैं। जीवन में निरन्तर अप्रमत्त रह कर विचरने वाले भगवान महावीर को भी नींद ने दो घड़ी के लिए घेर लिया था, तो क्या वह इससे अमुनि हो गये? बिल्कुल नहीं।

उपर्युक्त सूक्त किस अपेक्षा से उच्चरित हुआ है, यह समझ लेने के पश्चात् ही सारी बात स्पष्ट हो सकेगी, नहीं तो यह एक पहेली बनी रहेगी और जीवन में इस सूत्र की संगति नहीं बैठ सकेगी।

जैन-धर्म का अपेक्षावाद जब जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान करने में अत्यन्त कुशल है तो फिर इस सूक्त का रहस्य समझाने में वह क्यों उपयोगी सिद्ध नहीं होगा?

द्रव्य-निद्रा और भाव-निद्रा—

उपर्युक्त सूक्त विशुद्ध अध्यात्मवाद के शिखर से बोला गया है,

शरीर के धरातल से यह उच्चरित नहीं हुआ। इस सूत्र का संकेत भाव-निद्रा की ओर है, द्रव्य-निद्रा इसका विषय नहीं।

शरीर और इन्द्रियों में परिलक्षित होने वाली निद्रा द्रव्य-निद्रा है। मन, मस्तिष्क और आत्मा को आत्म-विस्मृति के लोक में ले जाकर प्रमत्त बना देने वाली निद्रा भाव-निद्रा है।

जैन-धर्म के अनुसार द्रव्य-निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का फल है। दर्शनावरणीय कर्म चार घातिक कर्मों में से एक है। जैन-धर्म की परिभाषा के अनुसार जो आत्मा को उसके मूल गुण सुख ज्ञान और सत्य से विमुख करके, दुःख, अज्ञान और असत्य में प्रवृत्त करे वह कर्म-घातिक कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्य-निद्रा घातिक कर्म का अंग होने से आत्मा के मूल गुण और उसके विकास के लिए बाधक है।

जैन धर्म में 'प्रमाद' जीवन की सबसे बड़ी वैभाविक स्थिति है, वह प्रमाद, विषय, कषाय, मद, निद्रा तथा विकथा, इस तरह से पांच प्रकार का है। यहां निद्रा का प्रमाद में समावेश किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि निद्रा भी प्रमाद ही है। प्रमाद जीव को आत्मा के विशुद्ध स्वरूप से विमुख करता है। भाव-निद्रा की दशा में जीव में वैभाविक परिणमन होता है। इस तरह प्रमाद और भाव-निद्रा यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सिक्का एक ही है, अर्थात् परिणमन और भाव-निद्रा एक ही चीज हैं। ये जीवन की एक ही परिणति का सृजन करते हैं और वह है वैभाविक परिणति।

उपर्युक्त सूत्र का भाव स्पष्ट करने के लिए अब हम सर्वथा सम्यक् भूमिका पर पहुंच गये हैं।

जिसके जीवन-क्षण जीवन की वैभाविक परिणति में बीत रहे हैं वह बाहर से मुनि नजर आने पर भी अन्तरङ्ग में अमुनि ही है, जिनके जीवन के मंगल-मुहूर्त आत्मा की स्वरूप-स्थिति में बीत रहे हैं वे बाहर से अमुनि होने पर भी मुनि ही कहे जायेंगे, क्योंकि मुनि केवल वेश धारण करने से नहीं होता। व्रत, नियमादि का पालन करते हुए आत्म-स्थित होने से ही मुनि होता है, यदि मैं दो कदम आगे बढ़कर कहूं तो

यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। किन्तु नियम और मर्यादा भी व्यवहार की ही वस्तुएं हैं। वस्तुतः मुनि के जीवन की अन्तरङ्ग स्थिति तो स्वरूप-स्थिति या आत्म-स्थिति ही है। व्यवहार में आत्म-स्थिति का रूप समभाव है। जीवन के अनुकूल एवं प्रतिकूल अवसरों में एक-रस एवं एक रूप रहना समभाव है। आत्म-ज्ञानी ही समभाव रख सकता है, इसलिए मुनि की परिभाषा करते हुए आगम में कहा गया है—

"नाणेण मुणी होइ" अर्थात् वेष विशेष से नहीं, बल्कि ज्ञान से ही साधक मुनि बन सकता है। आचारांग के इस सूत्र से मिलता-जुलता एक श्लोक गीता के पावन पन्नों पर भी आपको मिल सकता है। देखिये गीता के दूसरे अध्याय का ६९वां श्लोक जो इस तरह से है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

That which is night to all beings, in that state the God. realised yogi keeps Awake and that in which all beings keeps awake in night to the seer.

जो सब प्राणियों की रात है उस रात्रि में संयमी जागता रहता है और जब दुनिया के सब प्राणी जागते हैं, तब आत्मदर्शी मुनि के लिए वह रात्रि होती है।

उपर्युक्त श्लोक में आचारांग के सूक्त से कितनी साम्यता है, यह दोनों के अर्थ से आप भली-भान्ति समझ सकते हैं।

वस्तुतः संसार के प्राणी विभाव में जागते रहते हैं, आत्म-दर्शी मुनि वहां सदैव सुप्त रहता है और जब दुनिया आत्मा के विशुद्ध स्वभाव में सो जाती है, तब संयमी पुरुष वहां सदैव जागता रहता है।

मुनि कौन है? इस प्रश्न का उत्तर बड़ी सरलता से मिल सकता है कि जो स्वभाव-रत है वह मुनि है और जो विभावरत है वह अमुनि है।

यदि मैं संक्षेप से कहूं तो कह सकता हूं कि कषाय ही विभाव है और आत्मा की अकषाय-स्थिति स्वभाव है? इसका मतलब यह है कि

जो कषायों पर विजय पा लेता है वह ही वस्तुतः मुनि कहलाने का अधिकारी है, कषायशील को मुनि कहना यह एक तरह से मुनि शब्द का अपमान करना है।

जैन-धर्म ने कषाय उन विकारों को संज्ञा दी है जिनके द्वारा जीव आवागमन के चक्र में परिभ्रमण करता है। कषाय संख्या में क्रोध, मान, माया तथा लोभ के रूप में चार प्रकार का है। जो कषाय-जित है उसे ही शास्त्र ने मुनि कहा है। इस तथ्य की पुष्टि में गीता का एक दूसरा श्लोक उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर रहा हूं। वह है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमना, सुखेष विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

The sage, whose mind remains unperturbed in sorrows, whose thirst for pleasures has altogether disappeared and who is free from passion fear and anger is called stable of mind.

जिसका मन दुःख में उद्विग्न नहीं होता, जो जीवन में सुख की कभी स्पृहा नहीं करता और जो राग, भय और क्रोध से रहित हो गया है वह मुनि स्थित-प्रज्ञ कहलाता है।

गीताकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि जो स्थित-प्रज्ञ है वही मुनि है और जो मुनि है वह अवश्य स्थितप्रज्ञ होता है। दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है।

मोह, विद्वेष, राग, भय एवं क्रोध ये सब कार्य-कारण-भाव से कषाय ही हैं। दूसरे शब्दों में—अर्थात् जैन-धर्म की भाषा में अकषायी को हम स्थित-धी या स्थित-प्रज्ञ कह सकते हैं और वह ही मुनि पद को अलंकृत करने के अधिकार से विभूषित हो सकता है।

मुनि का जीवन काफी विराट् होता है। आत्मिक जगत में वह किसी एक जाति या सम्प्रदाय का नहीं होता, वल्कि सारे संसार का ही होता है।

मैं यह भी मानता हूं कि साधक को किसी न किसी सम्प्रदाय में तो रहना ही पड़ता है, किन्तु सम्प्रदाय में रहना एक वात है और सम्प्रदाय का वनकर रहना यह दूसरी बात है। सम्प्रदाय का वनकर रहने से मेरा

अभिप्राय है—सम्प्रदाय के मोह से ग्रसित होकर रहना। मोह से राग-द्वेष का जन्म होता है। राग-द्वेष ही भाव-निद्रा हैं। इस निद्रा से आक्रान्त हृदय का स्वामी भला मुनित्व का आराधक कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। फिर एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि राग-द्वेष व्यक्ति को संकीर्ण एवं क्षुद्र बना देते हैं। संकीर्ण व्यक्ति न विराट् बनता है और न ही विराट् सत्य के दर्शन कर सकता है। सत्य की उपलब्धि ही मुनि जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। सम्प्रदायों के मिथ्या मोह में पड़े रहने से और सब कुछ मिल सकता है, किन्तु विराट् सत्य के भव्य दर्शन नहीं हो सकते।

एक बात और भी देखी जाती है कि प्रत्येक सम्प्रदाय का मुनि अपने को ही मुनि समझता है। अपने से अलग दूसरा कोई उसे मुनि नज़र ही नहीं आता। यदि कहीं ऐसी स्थिति हो तो वहां मोह अज्ञान और क्षुद्रता की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या समझा जायेगा?

अन्य सम्प्रदायों के अनुयायी भी अपने सम्प्रदाय के मुनि को ही मुनि समझते हैं, बाकी सब उन्हें अमुनि ही नज़र आते हैं। इससे बड़ी क्षुद्रता एवं संकीर्णता क्या होगी भला? क्या अपने ही सम्प्रदाय का मुनि जाग्रत और अप्रमत्त होता है, अन्य सम्प्रदायों का मुनि क्या सदा सुप्त और प्रमत्त ही होता है? बात ऐसी नहीं है, मुनित्व आत्मा की एक विशुद्ध परिणति है, उसकी साधना इस धरती पर कोई भी साधक कहीं भी कर सकता है। सम्प्रदाय और वेष न उस में साधक होते हैं और न बाधक ही बनते हैं। केवल अन्तरंग से आत्मा जाग्रत होनी चाहिये। जो कषाय की शय्या पर सोया हुआ आत्म-तत्त्व से दूर वैभाविक जगत में विचरता है उस मुनि का श्वेताम्बरत्व भी निष्फल है और दिगम्बरत्व भी बेकार है।

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक के मन में शंका उठ सकती है कि मुनि साधनावस्था में छद्मस्थ एवं अपूर्ण होता है, ऐसी स्थिति में उसके जीवन में कभी भी कषाय रेखा उभर सकती है। वह सदा वीतराग की तरह नहीं रह सकता। कषाय तो बारहवें गुणस्थान पर जाकर क्षीण होता है। उस से पहले तो न्यूनाधिक कषाय किसी

न किसी रूप में साधक के जीवन में बना ही रहता है, फिर मुनि कषाय से रहित हो यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

यह प्रश्न बिल्कुल उचित एवं समीचीन है, किन्तु इस तथ्य से लेखक अनभिज्ञ भी नहीं है—वह भी जानता है कि मुनि एक साधक होता है, वह सिद्ध नहीं होता। उसके जीवन में थोड़ा बहुत रागद्वेष तो आ ही जाता है। प्रमाद-वश कषाय का उदय उसके जीवन में हो जाता है, किन्तु जो ज्ञानी और आत्मार्थी मुनि है वह उपर्युक्त स्थिति में भी सदैव जागृत रहता है। वह प्रवीण साधक अन्तरङ्ग में कभी सोता नहीं, वह विवेक से अपने कषाय का दमन करने का प्रयत्न करके उस के लिये प्रायश्चित्त करने के लिये सदैव तत्पर रहता है, दूसरे की भूल हो तो उसे क्षमा करके उदारता का परिचय देता है। जहां कलह और संघर्ष में व्यर्थ ही शक्ति एवं समय का दुरुपयोग हो तो आत्म-साधक मुनि स्व-पर के हित के लिये वहां से दूर हट जाता है। ऐसा मुनि केवल मुनि ही नहीं, बल्कि महामुनि कहलाता है।

जो मुनि अन्तरङ्ग से अजागृत रहकर जान-बूझ कर राग-द्वेष के प्रसंग उत्पन्न करता है, दूसरे की प्रतिष्ठा पद और प्रगति को देख कर ईर्ष्या एवं विद्वेष के वशीभूत होकर निन्दा और कलह से वातावरण को विषाक्त एवं दूषित बनाने में ही अपने जीवन की इति श्री मानता है, ऐसा मुनि अपनी अपूर्णता और छद्मस्थता की दुहाई देकर कषाय-शीलता के दोष से मुक्त नहीं हो सकता। क्या ऐसा मुनि जागता हुआ कहा जाएगा ? नहीं ! बिल्कुल नहीं। शास्त्र के शब्दों में वह सदा सोया हुआ ही माना जाएगा।

वर्तमान समाज का अस्थिर एवं अशान्त वातावरण इस बात का प्रमाण है कि संघ में आत्म-साधक मुनियों का अभाव सा हो गया है, आज का मुनि आत्म-साधना को तिलाञ्जलि देकर किसी और ही साधना में लग गया है। आचारांग के इस सूत्र के विमल दर्पण में निष्पक्ष दृष्टि से निहारने पर प्रत्येक साधक को मालूम हो सकता है कि वह मुनि है या अमुनि, सोया हुआ है या जाग रहा है। सोकर मुनित्व के शिखरों से गिर रहा है या जागकर मुनित्व को सिद्ध-पद की ओर अग्रसर कर रहा है। निद्रा नहीं जागरण ही मुनि-जीवन का लक्ष्य है। ○



संगठन का अभय द्वार सत्य तथा समन्वय



श्रमण-संघ में "संघ" शब्द को केवल समुदाय का ही प्रतीक नहीं समझना चाहिये, बल्कि यह सच्चे अर्थों में तो संगठन का द्योतक है। आप यह तथ्य अच्छी तरह जानते हैं कि जहां सम्यक् ज्ञान होता है, वहां चारित्र की भजना रहती है, अर्थात् वहां चारित्र रह भी सकता है और नहीं भी, किन्तु जिस जीवन में चारित्र का उदय होता है, वहां ज्ञान नियम से पाया जाता है, अर्थात् वहां ज्ञान अनिवार्य रूप से उपलब्ध होता है। ज्ञान चारित्र के विना भी रह सकता है, किन्तु चारित्र की ज्ञान के अभाव में कदापि स्थिति सम्भव नहीं होती।

ठीक इसी तरह जहां केवल व्यक्तियों का समूह एवं समुदाय रहता है, वहां संगठन कभी होता है तथा कभी नहीं भी होता, किन्तु जहां सच्चा संगठन होता है वहां एक समुदाय तो होता ही है, किन्तु कभी-कभी कोई समुदाय अर्थात् संघ बिना संगठन के भी वना रह सकता है।

श्रमण-संघ की आज ऐसी ही स्थिति वनी हुई है। एक आचार्य के नाम पर श्रमणों एवं श्रमणियों का एक समुदाय अवश्य नज़र आ रहा है, किन्तु उनमें संगठन नाम की कोई भी चीज़ नहीं रही। नारंगी के छिलके के भीतर उसकी फांकों का एक समूह अवश्य रहता है,

किन्तु उनमें संगठन कहां होता है ? बाहर के एक छिलके में ही उन का संगठन नज़र आता है। उस छिलके के उतरते ही हर एक फांक अलग-अलग नज़र आने लगती है। इसी तरह ठीक श्रमण-संघ का रूप भी एक नारंगी की तरह बना हुआ है। ऊपर से एक रूप बना कर भी भीतर से सब अपना-अपना अलग रूप लेकर बैठे हुए हैं।

केवल बाहर से मिले एवं जुड़े रहने में ही संगठन नहीं होता, क्योंकि देखा जाता है कि कभी-कभी स्वार्थी लोग भी बाहर से एक दूसरे के साथ मिले रहते हैं, देखने वालों को ऐसा लगता है कि इनमें बड़ा मेल है, किन्तु जब उनके स्वार्थ की तृप्ति नहीं होती तो वे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं, एक दूसरे के गले में बाहें डालकर घूमने वाले एक दूसरे की टांगें खींचने लगते हैं और एक दूसरे की प्रशंसा करने वाले फिर एक दूसरे को गालियां देने लगते हैं। मैं इसे स्वार्थ भरी धरती का विस्फोट समझता हूं।

स्वार्थ 'स्व' में सीमित होने से सदैव क्षुद्र ही रहता है। संगठन सब के कल्याण, हित-निर्माण तथा विकास के पुनीत उद्देश्य को दृष्टि में रखकर ही बनाया जाता है, इसलिए संगठन कभी संकीर्ण बन कर नहीं रह सकता, वह सदैव विराट् बन कर ही जीवित रह सकता है। क्षुद्र स्वार्थ तथा विराट संगठन का इस धरती पर कभी भी सामंजस्य नहीं बैठ सकता।

संगठन केवल व्यक्तियों के समूह का ही नाम नहीं होता, वह तो वस्तुतः विभिन्न दृष्टियों तथा विचारों का एक पुनीत संगम है। जब कभी दुर्भाग्य से दृष्टियां भिड़ती हैं तथा विचार टकराते हैं तो संगठन की धरती पर भूकम्प उत्पन्न हो जाता है और संगठन के भव्य भवन को ध्वस्त होने में ज़रा भी देर नहीं लगती।

विचारों को पारस्परिक टकराव से बचाने के लिये समन्वय का द्वार खोलना पड़ता है और समन्वय के अन्तरंग में प्रवेश पाने के लिये संघ के अग्रणी हृदयों के लिये अपने को उदारता का प्रशिक्षण देना अनिवार्य बन जाता है। औदार्य-सम्पन्न हृदय ही दूसरों के विकास,

सुख तथा अभ्युदय के लिये अपने स्वर्णिम सुखों को तिलांजलि दे सकते हैं। जो केवल स्वार्थ को ही अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य समझते हैं, उनके जीवन-प्रांगण में परोपकार तथा सेवा जैसे दिव्य गुणों की मनोरम क्रीड़ा को कोई भी आंख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकती।

मेघाछन्न आकाश पर जैसे तारों का दर्शन नहीं होता, ठीक इसी तरह स्वार्थ-रत जीवनों में सद्गुणों का दर्शन भी कभी किसी को नहीं हो सकता। स्वार्थ केवल धन-दौलत ऐश्वर्य तथा वैभव का ही नहीं होता, अपितु अधिकार, सत्ता तथा प्रभुता की वासना का नशा तो सबसे बड़ा होता है, जो इस नशे में पागल हो जाता है, वह सबसे बड़ा स्वार्थी बन जाता है। स्वार्थान्ध व्यक्ति सत्य में 'स्व' को नहीं देखता, बल्कि वह 'स्व' में ही सम्पूर्ण सत्य को देखने का प्रयास करने लगता है।

क्षुद्र 'स्व' की परिधि में आकर सत्य सीमित हो जाता है और सत्य के अनन्त लोक में आकर 'स्व' विराट् बन जाता है। जो क्षुद्र है वही एकान्त-वादी है और जो विराट् है उसे ही अनेकान्तवादी कहते हैं। स्वार्थी को अपने सिवा दुनिया में और कुछ भी नज़र नहीं आता। जिसे दूसरा कोई नज़र ही नहीं आता तो फिर वह परोपकार करे भी तो किस पर ? सदैव उसे 'स्व' ही दिखाई देता है और स्वार्थी 'स्व' पर ही उपकार करता है। जो व्यक्ति उसके 'स्व' के पक्ष में रहता है या उसके 'स्व' को पुष्टि करता है, वह उसकी आंख का तारा बन जाता है। वह उसे अपनी जीवन-शय्या का कमनीय फूल समझने लगता है और जो उसके 'स्व' के विपक्ष में रहता है और उसके 'स्व' को समर्थन नहीं देता, वह उसके जीवन का कांटा बन जाता है। इस तरह स्वार्थी फूलों को चूम-चूम कर इकट्ठे करने लगता है और कांटों को अपने मार्ग से अलग फेंकने लगता है। मानव की इस स्वार्थ-परायण वृत्ति का परिणाम यह होता है कि एक सुदृढ़ संगठन में भी वर्गवाद का विस्फोट हो उठता है, फिर दोनों स्वार्थी वर्ग एक दूसरे के आमने-सामने आकर खड़े हो जाते हैं। वैसे प्रत्येक वर्ग अपने को

सत्य दूसरे को असत्य कहता रहता है, किन्तु स्मरण रहे कि सत्य कभी भी तर्क के आधीन नहीं रहता। जीवन में एक दिन ऐसा भी आ ही जाता है कि जिस दिन दूध का दूध और पानी का पानी हो जाता है और जन-मानस को सत्यासत्य की झांकी का ठीक-ठीक दर्शन भी हो जाता है।

श्रमण-संघ में आज एक ऐसा दल बन चुका है जो ऊपर से एकता की बातें कर रहा है, किन्तु अन्तरङ्ग से वह अपने ही सम्प्रदाय की खूंटी से बन्धा हुआ है और संघ में विघटन को बढ़ावा दे रहा है।

श्रमण-संघ के रूप में संगठन का उदय जैन-शासन के अभ्युदय एवं चतुर्मुखी निर्माण के उद्देश्य से ही हुआ था। आज स्थिति यह बन गई है कि जैन-शासन की फिकर तो किसी को विशेष नहीं रही, किन्तु अपने-अपने सम्प्रदाय के शासन की चिन्ता अवश्य कई एक महानुभावों को सता रही है।

मेरे लिखने का तात्पर्य यह है कि कुछ सम्प्रदायों के प्रमुख लोग यह चाहते हैं कि हमारे सम्प्रदाय का ही चिन्तन समूचे श्रमण-संघ में प्रमुख-पद पर आसीन होना चाहिये। इस संकीर्ण भावना से प्रेरित कुछ साम्प्रदायिक नेता सदैव श्रमण-संघ के नेतृत्व को जड़ क्रियावादी एवं रूढ़िवादी केन्द्र में ही स्थित करने में प्रयत्नशील रहे हैं और वे लोग अपने इस साम्प्रदायिक उद्देश्य में भी सफल हो ही गये हैं। एक दल बल पूर्वक नेतृत्व को घसीट कर अपने मन चाहे केन्द्र में ले गया है। यह नेतृत्व कोई विशेष योग्यता तथा उपलब्धि का फल नहीं माना जा सकता, बल्कि आचार्य श्री जी के मन पर एक साम्प्रदायिक दल के वर्चस्व के प्रभाव का ही यह एक परिणाम है। नेतृत्व ले लेना जितना सुगम है उतना किसी संगठन का नेतृत्व करना सरल नहीं होता। इसके लिये केवल लम्बी दीक्षा-पर्याय तथा अपने गुरु का बल ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि एक सफल नेतृत्व के लिये 'स्व' तथा पर' वाङ्मय का प्रगाढ़ अध्ययन, देश-देशान्तर का अनुभव, विविध भाषाओं पर आधिपत्य, भ्रमण करने की शक्ति, चतुर्विध संघ के विकास का पुनीत संकल्प, साहित्य एवं साहित्यिकों

के प्रति अनुराग भी चाहिये। विद्वान् वक्ता व्याख्याता तपस्वी गायक तथा कवि वर्ग के प्रति उदारता, शान्त, गम्भीर तथा सौम्य स्वभाव प्रत्येक छोटे-बड़े श्रमण का होना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा उस अध्ययन एवं चिन्तन के आधार पर उसे अनुकूल एवं योग्य वातावरण प्रदान करके उसे संयम में स्थिर करने की योग्यता, इस सब की तो आवश्यकता है ही, किन्तु सब से अधिक अपेक्षित है देश-काल के साथ समझौता करने की अपार क्षमता।

श्रमण-संघ के प्रथम आचार्य-सम्राट् परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के महान् व्यक्तित्व में उपर्युक्त समस्त गुण आकाश में तारों की तरह जगमगाते थे। वे एकान्त रूढ़िवाद के पक्ष में बिल्कुल नहीं थे। देश-काल के अनुसार उचित योग्य एवं समीचीन किसी भी नूतन चिन्तन का स्वागत करने के लिए वे अपने हृदय का द्वार सदैव खुला रखते थे। वे श्रमण-संघ को ऊंचा उठाना चाहते थे, किन्तु जड़ क्रियावादी दल उनके संघ-हित के सलोने सपनों को विफल करने में क्रियाशील बना ही रहा। यदि आचार्य भगवान् को श्रमण-संघ के समस्त वर्गों की श्रद्धा का पूरा बल मिला होता तो आज यह श्रमण-संघ अवश्य ही अभ्युदय के शिखरों पर होता, किन्तु खेद है कि जिस धरती से श्रमण-संघ जैसे महान् संगठन का उदय हुआ, उसी धरती ने आचार्य और उपाचार्य के अधिकारों का असामयिक प्रश्न उठा कर श्रमम-संघ जैसे भव्य संगठन को विखण्डित करने का एक विकृत प्रयास भी किया है।

एक विघटन के बाद फिर दूसरा विघटन हुआ। इस तरह कुछ मुख्य व्यक्तित्व अपने-अपने सम्प्रदायों के फिर आचार्य बन बैठे। इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने केवल ऊपर से ही पदों का त्याग किया था, अन्तरङ्ग से वे पदों का व्यामोह नहीं छोड़ सके। जिस प्रान्त में एक-एक गली का एक-एक उपाश्रय हो, एक-एक सम्प्रदाय बना हुआ हो वह प्रान्त श्रमण-संघ का नेतृत्व सम्भाल सकेगा? इसमें मनीषी वर्ग की आस्था समय आने पर ही बन सकेगी।

एक बात और भी अतीव नम्रता से अर्ज कर देना चाहता हूं, वह यह है कि श्रमण-संघ के विघटन का मूल विभिन्न दृष्टियों का पारस्परिक टकराव ही है। इस टकराव से ही संघ में बिखराव हो रहा है। आखिर एक संघ में अलग-अलग चिन्तन तो रहेंगे ही, यदि एक चिन्तन दूसरे चिन्तन का विरोध ही करता रहेगा तो फिर संगठन कैसे रह सकेगा ? सभी फूल तथा सभी मोती अलग-अलग तो होते ही हैं, किन्तु धागे की अखण्डता ही उनको एक बना कर रखती है। यदि धागा ही उनको एक-एक करके अलग फेंकने लगेगा तो फिर वह बस एक धागा ही रह जाएगा। फिर उसे फूलों तथा मोतियों की माला कोई नहीं कहेगा।

संघ में कोई चिन्तन प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि वह मूल व्रतों से सम्बद्ध होकर धर्म तथा संस्कृति का संरक्षक बन कर चलता है तो वह बुद्धिमानों द्वारा सदैव ग्राह्य ही होता है। ऐसी स्थिति में यदि फिर भी कोई कदाग्रह एवं हठवाद से प्रेरित होकर उसके विरोध में खड़ा रहे तो उस महापुरुष का वह विरोध संघ के संगठन को कमजोर बनाने में एक भूल भरा प्रयास ही समझा जायेगा।

विभिन्न विचारों के एकीकरण के लिये समन्वय ही एक प्रधान अभय द्वार है, वह हमेशा के लिये खुला ही रहना चाहिए, क्योंकि यदि हर चिन्तन अपने विरोधी चिन्तन को दुत्कार कर अपने से दूर करता रहे और अपने में अन्य को समाविष्ट करने की क्षमता खो बैठे तो फिर कोई भी संगठन क्यों न हो, वह कभी भी अक्षुण्ण नहीं रह सकता।

इस सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट कर देता हूं वह यह है कि कभी एकान्त रूढ़िवाद मूल से हट कर चलता है तो कभी प्रगतिवाद भी मूल व्रतों की उपेक्षा करके आगे बढ़ता है। पहला मार्ग प्रगतिवादी की दृष्टि में केवल "पोप-लीला" है और दूसरा मार्ग रूढ़िवादी की नजर में शिथिलाचार है। वस्तुतः साधक एवं मुमुक्षु पुरुष के लिये ये दोनों ही मार्ग गलत हैं। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को परिपुष्ट बनाने के लिये निश्छल आत्म-धर्म की आवश्यकता है और सामाजिक पक्ष

को आत्म-धर्म के अनुकूल रखने के लिए विवेक युक्त युग-धर्म की अपेक्षा रहती है। आत्म-धर्म तथा युग-धर्म जब दोनों एक दूसरे के सहयोगी बन कर चलते हैं तो तभी जीवन और जगत में निरन्तर शान्ति की प्रतिष्ठा होती है।

आत्म-द्रष्टा को युगद्रष्टा भी होना चाहिए, जो इस विवेक में कुशल एवं प्रवीण है वही अपना दायित्व सफलता पूर्वक निभा सकता है। संघ में किसी भी पद की उपलब्धि किसी की ओर से दिया जाने वाला उपहार नहीं होता, बल्कि वह तो संघ की सेवा करने का एक सुअवसर होता है। स्मरण रहे कि केवल कोई पदासीन व्यक्ति ही योग्य नहीं होता, बल्कि संघ में और भी अनेकों योग्य व्यक्ति होते हैं। संघ का नेतृत्व जब सभी योग्य व्यक्तियों को अपने साथ लेकर चलता है तो वह नेतृत्व अवश्य ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल होता है और उससे पद या शासन दोनों के गौरव की अभिवृद्धि होती है। ○

२४

आत्म-ज्ञान : एक दार्शनिक विश्लेषण



आत्म-सुख से बढ़ कर कोई और सुख नहीं है। यहां सुख शब्द से मेरा अभिप्राय केवल आत्मिक-सुख से है, भौतिक सुख से नहीं। आत्म-ज्ञान और भौतिकता का तो "सर्प-नकुल" सा शाश्वत वैर है, मैंने जो कहा है वह बिल्कुल सत्य है, यथार्थ है। किन्तु शंका यहां भी मुखर होकर प्रश्न उपस्थित कर सकती है कि क्या आत्म-ज्ञानी का अपने शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता ? क्या उसके मन में विचारों का जन्म, वाणी द्वारा भावाभिव्यक्ति, इन्द्रियों द्वारा विषयों में संचरण तथा काया-योग में क्रिया तथा कर्म के विविध व्यापारों का उद्भव नहीं होता ? क्या आत्म-ज्ञानी आहार-विहार नहीं करता ? क्या वह सदा इस नील गगन के नीचे मौन एवं निर्जन वनों की गिरि-गुहाओं में ही विश्राम करता है ? या कभी राज-भवनों में जाकर अपनी वाणी की माधुरी भी बिखेरता है ? क्या आत्म-ज्ञानी ऊंचे-ऊंचे सिंहासनों पर बैठ कर अहिंसा संयम और तप पर लम्बे व्याख्यान नहीं देता ?

यदि आत्म-ज्ञानी की दुनिया में यह सब कुछ है तो फिर यह बात कैसे कही जा सकती है कि आत्म-ज्ञान और भौतिकता का सर्प-नकुल सा नित्य वैर है। जैन-धर्म की दृष्टि में विचार, भाषा, नित्य क्रिया तथा कर्म—ये सब पौद्गलिक एवं भौतिक हैं। आहार तथा विहार ये सब भौतिक शरीर के व्यापार-मात्र हैं। आसन, सिंहासन अहिंसा तथा सत्य आदि पदों का प्रतिपादन भी तो सब भौतिक जगत की

सिद्धियां तथा चमत्कार मात्र ही तो हैं ? तो फिर यह कैसे कह दिया आपने कि आत्म-ज्ञान और भौतिकवाद का परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं ? और तो क्या ? क्या तीर्थंकर से बड़ा भी इस धरती पर कोई आत्म-ज्ञानी मिलेगा ? वह तो आपके विश्वास में इस संसार का सर्वाधिक आत्म-दर्शी और आत्म-ज्ञानी होता है न ? वह तीर्थंकर भी जब तक इस धरती पर रहता है वह सदैव भौतिकता से घिरा रहता है, क्योंकि अष्ट प्रातिहार्य—अशोक वृक्ष, स्वर्ण-सिंहासन श्वेत चामर, छत्रत्रय, देव-दुन्दुभि, पुष्प-वृष्टि, भा-मण्डल तथा भाषा-अतिशय क्या ये सब भौतिकता से दूर हैं। ये सब चमत्कार हैं ? क्या आध्यात्मिकता के साथ इनका कुछ सामंजस्य बैठता है ? तीर्थंकर देव की ये आठ विभूतियां भी सब भौतिक ही तो हैं न ? तो फिर यह कैसे लिख दिया आपने कि आत्म-ज्ञान और भौतिक जगत् का कोई सम्बन्ध ही नहीं होता ?

उपर्युक्त शंका अवश्य अपने में एक प्रकार का बल रखती है, पर शंका कोई भी हो, वह समाधान मांगती है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में ही शंका जन्म लेती है और ऐसा ही बुद्धिमान् व्यक्ति समाधान को सरल भाव से समझ कर स्वीकार करता है। उपर्युक्त शंका के समाधान के लिये मैं एक उदाहरण दे कर समझाना अधिक उपयुक्त मानता हूं।

ज्ञान की साधना करनेवाला साधक जिस शरीर में रह कर आत्म-ज्ञान की उपलब्धि करता है वह आत्म-ज्ञानी उसी शरीर को नश्वर समझ कर उसके प्रति अनासक्त भी हो जाता है। आत्म-ज्ञान की उपलब्धि से पूर्व वह शरीर के रूप-रंग में आबद्ध रहता है, आत्म-ज्ञानी बनने के उपरान्त वही साधक उसके मोहपाश से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

आत्म-ज्ञानी शरीर का मोह ही छोड़ता है, शरीर नहीं छोड़ देता और वह शरीर उस ज्ञानी को अपने बन्धन में नहीं बांध सकता, बल्कि वह स्वयं उसकी आज्ञा में बन्ध जाता है। वह उस

पुरुष का एक दास एवं किंकर बन कर उसकी आज्ञा का पालन करता है। उसकी इन्द्रियां उसकी दासी बन जाती हैं। उसकी वाणी, चिन्तन तथा विचार सब उसके दिव्य शासन में रहने के लिये विवश हो जाते हैं। आत्म-ज्ञानी का लोक-दिव्य तथा विराट् होता है, वह अवश्य ही दिव्य होता है, वह सत्यनिष्ठ एवं पूर्ण हो जाता है। जो पूर्ण है वह असीम एवं अनन्त होता है। जो अनन्त-चेतन है उसका अनन्त प्राणियों से आत्मीय भाव रहता है, उसमें क्षुद्रता की कहीं काली छाया दृष्टिगोचर नहीं होती। जहां रागद्वेष नहीं वहां अनन्त प्रेम एवं मैत्री की विमल गंगा सदैव प्रवाहशील रहती है। जहां प्रेम और मैत्री का सागर हिलोरें लेता हो उस आत्म-ज्ञानी के विचार, चिन्तन, निर्णय, सम्भाषण क्रिया तथा कर्म व जीवन के अन्य उपलब्ध साधनों से कभी भी किसी का अनिष्ट तथा अमंगल नहीं हो सकता। वह जगत की सब उपलब्धियों का स्वामी होकर भी सदैव अकिंचन तथा निस्पृह रहता है। वह शरीर से सर्वत्र रह कर भी मन से कहीं नहीं रहता। अपनी शाश्वत तथा आनन्द स्वरूप आत्मा ही उसका केन्द्र बनी रहती है। आत्म-भाव से वह कभी विचलित नहीं होता। आत्म-लक्षी साधक अनासक्त रह कर अपने मानसिक बौद्धिक, कायिक तथा अन्य जागतिक वैभव का उपभोग तो करता है, किन्तु वह प्रयोग तथा उपभोग क्षुद्र स्व-सुख के लिये नहीं होता, बल्कि वह सब प्राणियों के मंगल के लिये होता है, धर्म को हम इस धरती का सर्वश्रेष्ठ मंगल मानते हैं। धरती पर धर्म यदि उतरता है तो वह मानव के जीवन में प्रतिष्ठित होकर ही इस धरती पर प्रतिष्ठित होता है। जिस मानव का हृदय, बुद्धि, वाणी तथा कर्म मंगलमय हो जाते हैं, उसके किसी भी योग के द्वारा दुनिया के किसी भी प्राणी का अहित कदापि नहीं हो सकता।

आत्म-ज्ञानी के जीवन की मेरे ख्याल में पांच भूमिकाएं, सम्भव हो सकती हैं और यह मेरे अपने चिन्तन की फलश्रुति है किसी शास्त्र के आधार पर मैं नहीं लिख रहा, किन्तु कोई भी शास्त्र मेरे इस चिन्तन के विरोध में कुछ न कहेगा —

वे भूमिकाएं कुछ इस प्रकार हो सकती हैं—१. पवित्रता, २. एकाग्रता, ३. समता, ४. समाधि और ५. वीतरागता।

आत्म-ज्ञानी ज्ञान की उपलब्धि के बाद भी इसी धरती पर ही रहता है, वह कोई आकाश में नहीं उड़ने लगता। शरीर में रह कर एक सामाजिक प्राणी की तरह जीवन के समस्त आवश्यक व्यवहारों को वह निभाता भी है, किन्तु उसके समस्त व्यवहार एक साधारण मानव की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं। या यूं कह लीजिये कि वे साधारण व्यक्ति को एकदम असाधारण लगते हैं।

आत्म-ज्ञान का आधार सम्यक्-दृष्टि ही तो है, किन्तु सम्यक् दृष्टि स्वयं आत्म-ज्ञान नहीं होता, सम्यक् दृष्टि या सम्यक् दर्शन में विभेद-विज्ञान के द्वारा सत्यासत्य का केवल ज्ञान मात्र ही होता है, असत्य से निवृत्ति नहीं। निवृत्ति तो चारित्र का फल है। आत्म-ज्ञान में चारित्र प्रधान रहता है, केवल दृष्टि नहीं।

विष को जान लेने मात्र से उसके मारक प्रभाव से कोई नहीं बच सकता, उसके दुष्परिणाम से बचने के लिये उससे निवृत्ति अपेक्षित है।

पाप का ज्ञान हो जाने से ही व्यक्ति पाप से नहीं बच सकता, बल्कि उससे बचने के लिए चारित्र की आवश्यकता है। आत्म-ज्ञान और चारित्र का अविना-भाव सम्बन्ध है। ये दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते।

सम्यक्-मति और सम्यक्-श्रुति से आत्म-ज्ञान जागृत होता है, चारित्र की साधना से वह विकसित होता है, अवधि-ज्ञान एवं मनः-पर्यव ज्ञान के रूप में परिबद्ध एवं परिपुष्ट होता है और केवल-ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर जाकर वह परिपूर्ण होता है।

एक बात सदैव स्मरण रखने योग्य है कि आत्म-ज्ञान चाहे किसी भी स्तर का हो उस भूमिका पर भी प्रत्येक ज्ञानी को व्यवहार तो करना ही पड़ता है, किन्तु उसकी इन्द्रियां और शरीर व्यावहारिक लोक में रहते हैं, परन्तु उसका मन आत्मा के लोक में विहार करता रहता है। आत्मा की प्रकाश किरणें उसके व्यवहार में

सदैव प्रस्फुटित हो कर सारे लोक में व्याप्त होती रहती हैं।

आत्म-ज्ञान के पश्चात् व्यक्ति अपवित्र से पवित्र होने लगता है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये सब मन की अशुद्धियां हैं। शान्ति, नम्रता, सरलता तथा सन्तोष ये हृदय की शुद्धियां हैं। जिसके जीवन में जितनी पवित्रता होती है उसके जीवन में नैतिकता तथा उसके व्यवहार में प्रामाणिकता भी उतनी ही अधिक होती है। एकाग्रता तथा समता की साधना के लिए सबसे पहले व्यक्ति के लिए पवित्र होना अत्यावश्यक है।

जो साधक जीवन में पवित्र नहीं रह सकता वह अपने चित्त को कदापि एकाग्र नहीं कर सकता। चित्त के दोष चित्त को चंचल बना देते हैं। साधक की साधना में वे बाधक बनते हैं। वाणी में कटुता लाते हैं। दोष स्वभाव को उग्र बनाकर व्यवहार को भी कठोर बना देते हैं। ऐसा व्यक्ति किसी को भी प्रिय नहीं लगता। जो प्रेम नहीं देता उसे प्रेम नहीं मिलता। ऐसे व्यक्ति का जीवन-कोष प्रेम और मैत्री के गुण-रत्नों से एकदम रिक्त हो जाता है। वह चित्त की प्रफुल्लता खो बैठता है, वह स्वयं अपने भीतर किसी सार वस्तु का अभाव अनुभव करने लगता है। ऐसा साधक जब साधना के क्षेत्र में प्रवेश करता है तब उसके दोष उसको मन की हवा में तिनके की तरह उड़ा कर कहीं का कहीं ले जाते हैं। मनो-निग्रह के साधक के लिए सर्वप्रथम पवित्रता की शुभ भूमिका पर आरोहण करना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। इसके बाद ही आत्म-ज्ञान की दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है और वह है एकाग्रता।

चित्त का आत्मा के किसी भी विशुद्ध रूप में स्थिर होना एकाग्रता है। अहिंसा, सत्य, क्षमा तथा शान्ति आदि किसी भी आत्मिक भाव में मन स्थिर हो जाए उसे ही हम मन की एकाग्रता कह सकते हैं, क्योंकि इन सब भावों से कर्मावरण दूर होता है और आत्मा का विशुद्ध स्परूप प्रकट होता है। बहुलक्षी मन को एक लक्षी बनाना ही एकाग्रता है। जब यह साधना पूरी हो जाती है तब साधक सामायिक योग में प्रविष्ट होता है।

साधक जीवन के दो चार घण्टे मनोनिग्रह की साधना में व्यतीत कर सकता है, किन्तु वह जीवन भर तो ध्यान लगा ,कर नहीं बैठ सकता। आखिर उसे कर्म-क्षेत्र में आना ही पड़ता है। व्यवहार में एकाग्रता तो चाहिए ही, किन्तु उसमें समता अधिक अपेक्षित रहती है। व्यवहार में जितनी समता अधिक रहेगी जीवन में माधुर्य एवं आत्मिक सुख की उतनी प्रबल अनुभूति भी रहेगी, समता में चित्त आत्म-स्थित रह कर भी कार्य-रत रहता है, किन्तु एकाग्रता में मन स्वनिष्ठ होकर कार्यशील नहीं रहता। समता जीवन की विभिन्न प्रतिकूल एवं अनुकूल परिस्थितियों में चित्त की एकरूपता का नाम है, किन्तु एकाग्रता किसी एक विषय में मन का ध्रुवीकरण है। स्मरण रहे कि व्यवहार में मन का ध्रुवीकरण अधिक उपयोगी नहीं रहता, किन्तु चित्त की कार्यशीलता और उस कार्यशीलता में चित्त का साम्यभाव अधिक उपयोगी होता है।

इस दार्शनिक विचार-मन्थन का निष्कर्ष यह निकला कि आत्म-ज्ञानी प्रवृत्ति-मार्ग में सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान तथा संयोग-वियोग में समभाव रखता है और जब वह ध्यान-योग में बैठता है तब वह एकदम एकाग्र हो जाता है। ध्यान-योग जीवन का निवृत्ति पक्ष है। ध्यान-योग में एकाग्रता और समता दोनों का समावेश हो जाता है। कर्म जीवन का प्रवृत्ति पक्ष है, उसमें एकदम एकाग्र होना इतना लाभ-प्रद नहीं होता, बल्कि उससे कभी-कभी कार्य में व्यवधान एवं अव्य-वस्था हो जाती है। इसके लिए एकाध उदाहरण देना अधिक अच्छा रहेगा।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन एक बार किसी शोध - कार्य में अत्यन्त एकाग्र था। उसके सामने स्टोप पर रखी देगची में पानी उबल रहा था। पास ही एक टाइमपीस पड़ा था। उसका चित्त चिन्तन की दुनिया में इतना खो गया था कि उसे बाहर का कुछ भी ध्यान नहीं रहा, उसने अनायास ही हाथ लम्बा किया और टाइमपीस को उठा कर उबलते हुए पानी में डाल दिया। कुछ ही समय के बाद जब वह चिन्तन की गुफा से बाहर आया तो उसने देखा कि घड़ी पानी में उबल रही है।

न्यूटन को अपनी गलती मालूम हो गई कि उसने एकाग्रता की स्थिति में अण्डे की बजाय घड़ी पानी में डाल दी है। इस प्रकार के और भी कई उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु वस्तुतत्व के स्पष्टीकरण के लिये यह एक उदाहरण ही पर्याप्त समझता हूं।

आत्मा-ज्ञानी पवित्रता, एकाग्रता तथा समता की भूमिकाओं को पार करके समाधि के शिखर पर पहुंच जाता है। दूसरे शब्दों में समाधि आत्मा की स्वरूप-स्थिति है, जहां पहुंच कर आत्मा अपने अखण्डानन्द का आस्वादन करने लगता है। उस आनन्द का आधार "आत्मा" स्वयं ही रहता है। कोई भी बाह्य पदार्थ उसका अवलम्बन नहीं बनता। जिसे बाहर की आवश्यकता नहीं उसका कोई बाहरी व्यवहार नहीं होता। इसलिए समाधि व्यवहार की अवस्था नहीं. बल्कि आत्मा की एक सर्वोच्च अनुभूति है। आत्म-ज्ञानी इस भूमिका पर कर्म-रत नहीं होता। जैन-दृष्टि में समाधि कायोत्सर्ग नामक तप है, जिससे कर्म बनता नहीं, बल्कि कर्म-क्षय होता है।

समाधि के पश्चात् स्थान है वीतरागता का, समाधि से प्रदीप्त तपाग्नि में कर्म-ग्रन्थि जब नष्ट हो जाती है तब साधक को वीतरागता के रूप में एक महान् उपलब्धि होती है। वीतराग का उपयोग परम विशुद्ध रहता है। सयोगी होने से वह प्रत्येक उपयोगी एवं सार्थक व्यवहार में प्रवृत्ति करता है. किन्तु अन्तरङ्ग में कषाय का अभाव होने से उस व्यवहार से कर्म-बन्ध नहीं होता, राग-द्वेष को ही कर्म का स्रोत स्वीकार किया गया है। जब स्रोत ही नहीं तो कर्म के प्रवाह का उद्भव कहां से होगा? वीतराग का मन, वाणी और शरीर सम होता है, उसमें राग द्वेष का वैषम्य नहीं होता, इसलिए आत्मज्ञानी वीतराग पुरुष का प्रत्येक व्यवहार कर्म-बन्ध से मुक्त हो जाता है।

वीतराग विभूतियों के मध्य में रह कर भी अनासक्त रहता है। वह सारे संसार को सारहीन समझने लगता है। आत्म-ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी सार नहीं रहता है। जहां भी वह आत्मा को देखता है वहां वह स्वयं अपना स्वरूप देखने लगता है और

जहां आत्म-भाव है, वहां अहिंसा और सत्य के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं रहता।

इसी आधार पर मैंने ऊपर लिखा है कि आत्म-ज्ञान और भौतिक जगत् का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता। आत्म-सम्बन्ध तो उसका समस्त जगत से रहता है, वह जीवन का शाश्वत एवं मधुरतम सम्बन्ध है। जो इस तथ्य को समझता है वही आत्म-ज्ञानी है और जो आत्म-ज्ञानी है वह इस परम गूढ़ रहस्य को भी अवश्य समझता है। बस, मैं आत्म-ज्ञान का इतना मात्र विश्लेषण किसी भी जिज्ञासु के लिए पर्याप्त समझता हूं।



आत्म-साधना के तीन निशान शुद्धि–शान्ति-परिनिर्वाण



उत्तराध्ययन सूत्र में "**अप्पा मे नन्दणं वणं**" इस सूक्त का उल्लेख मिलता है। महाराज श्रेणिक को अनाथी मुनि नन्दन-वन जैसा सुख प्राप्त करने के लिए अपनी आत्मा में रमण करने की प्रेरणा दे रहे हैं। प्रश्न हो सकता है कि क्या आत्मा का सुख नन्दन-वन जैसा है ? इसका उत्तर केवल न में ही दिया जा सकता है, क्योंकि लोक का कोई भी सुख हो वह सदैव अनित्य क्षणिक तथा नश्वर ही होता है। भला आत्मा के नित्य अविनाशी तथा शाश्वत सुख के साथ उसकी तुलना कैसे हो सकती है ? बिल्कुल नहीं ?

आत्म-सुख के लिए अप्रमाद की सच्ची साधना आवश्यक है। यही साधना व्यक्ति को विशुद्ध स्वरूप में स्थित कर देती है। अप्रमाद की साधना से तात्पर्य है विषय, कषाय, निन्दा, विकथा तथा मद इन पांचों से सर्वथा निवृत्ति।

जीवन में जब विषयासक्ति नहीं रहती तब वैभाविक परिणति भी नहीं होती। वैभाविक परिणति का अभाव "स्वभाव-स्थिति" का ही परिचायक है। कषायहीन जीवन में समता का अखण्ड शासन रहता है। निद्रा का अभाव आत्म-जागृति का लक्षण है। विकथा में जिस साधक की रुचि नहीं उसके धर्म-जीवन में निरन्तर आत्म-चिन्तन

चलता रहता है। जीवन की प्रत्येक क्रिया तथा चेष्टा आत्म-चिन्तन के प्रकाश में ही सम्पन्न होती है। जीवन से जब मद निकल जाता है तब विश्व की प्रत्येक आत्मा के साथ उसका आत्मीय सम्बन्ध सहज रूप में स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जीवन में अप्रमाद की सच्ची साधना होने पर ऐसा कौन सा आनन्द है जो जीवन से दूर रह सकता है? कोई नहीं। प्रत्येक सुख उसकी गोद में आ जाता है, किन्तु याद रखिये आत्म-साधना का यह नन्दन-वन आन्तरिक शुद्धि पर निर्मित होता है। केवल बाहर की जड़ क्रिया पर नहीं।

साधक के आचार-धर्म के दो पक्ष हमारे सामने रहते हैं—एक है बाह्य और दूसरा है आभ्यन्तर। आचार का बाह्य रूप कुछ नियमों और मर्यादाओं का सामञ्जस्य मात्र होता है। वह जीवन का साध्य नहीं, केवल साधन है। वह लक्ष्य नहीं, केवल मार्ग है। साधना-पथ पर विवेक से चलने वाले के लिए वह "मार्ग" सुमार्ग बन जाता है और वह एक दिन उस पथिक को अपने गन्तव्य पर पहुंचा देता है। इस तथ्य को स्वीकार करने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं। किन्तु एक कठोर सत्य कहने में भी मुझे किञ्चित् मात्र भी हिचकिचाहट नहीं कि जब बाह्य आचार के प्रशस्त पथ पर चलते हुए साधक के जीवन में कपट और प्रदर्शन का आधिपत्य हो जाता है तो वह श्रेष्ठ मार्ग भी कुमार्ग बन कर रह जाता है और उस कुत्सित मार्ग का राही अपने साध्य एवं लक्ष्य से बहुत दूर चला जाता है।

जैन-धर्म के अनुसार साधक जीवन का लक्ष्य "स्व" की उपलब्धि है। स्व अपने आप में निर्विकार और शाश्वत है। जो शाश्वत और नित्य हैं वह सत्य है। जो सत्य है वह ही शिव है। जो शिव है वह ही सर्व-सुन्दर है। यह त्रिमूर्ति रूप 'स्व' की उपलब्धि जीवन की आन्तरिक शुद्धि पर ही आधारित है।

आत्मा की शुद्धि क्या है? इसे समझने के लिए पहले अशुद्धि को समझना होगा, तभी शुद्धि का स्वरूप समझ में आ सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार अशुद्धि न आत्मा में है और न कर्माणुओं में—अर्थात्

न प्रकृति में। वह तो केवल जीव और कर्माणुओं के संयोग से उत्पन्न जीव तथा कर्म से भिन्न एक वैभाविक परिणाम है। इस तथ्य को समझने के लिए एक मलिन वस्त्र का उदाहरण उपयुक्त रहेगा।

एक सफेद वस्त्र है, वह धीरे-धीरे रज-कणों के गहनावरण में आकर मलिन दिखाई देने लगता है। वस्त्र की श्वेतता मलावरण के कारण तिरोहित हो जाती है और मालिन्य का आविर्भाव हो जाता है।

कपड़े में जो मलिनता हम देख रहे हैं, वह वस्तुत: कपड़े में नहीं है, वस्त्र तो स्वभाव से श्वेत है। यह श्वेतता कपास के साथ जन्मी है, वह कृत्रिम नहीं है, बल्कि स्वाभाविक है। वह केवल प्रतीत नहीं होगी, बल्कि वस्त्र के तार-तार पर उसका जन्मजात अधिकार है। उस की सत्ता कपास के फूल के जन्म से लेकर वस्त्र के उत्पन्न होने तक बराबर बनी रही है और अब भी है।

अब हम थोड़ा दूसरी तरफ मुड़ कर झांक लेना चाहते हैं ? यदि मलिनत्व वस्त्र में नहीं तो क्या उन धूलि-कणों में है जो वस्त्र में आकर घुस गये हैं। व्यवहार में भले ही ऐसा कहा जाये, किन्तु निश्चय में यह कहना ठीक नहीं होगा। वस्तुत: देखा जाए तो कपड़े पर आवरण रूप में नजर आने वाले रजकण अपने विशिष्ट वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श को लिये हुए पुद्‌गल के अणु मात्र ही हैं। न वे स्वयं मलिन हैं, न मलिनता के उत्पादक ही हैं। केवल वस्त्र की श्वेतता के विरोधी स्वभाव के होने से ही हमें वस्त्र में मलिनता की प्रतीति होती है। वह विजातीय, वैभाविक तथा अस्वाभाविक है, इसीलिए वह परिहार्य है। जो परिहार्य है उसका साधन तथा उपाय भी होता है।

वस्त्र की अशुद्धि क्या है ? इसे समझ लेने के बाद आत्मा के अशुद्धि-पक्ष को बड़ी जल्दी समझा जा सकता है। अशुद्धि न आत्मा में है और न ही कर्माणुओं में है। वह वस्त्र और रजाणुओं के संयोग की तरह आत्मा और कर्माणुओं के सम्बन्ध से विकृति के रूप में होती है। जो विकार है उसका परिहार भी होता है। उस परिहार का कोई न

कोई उपाय भी अवश्य हुआ करता है। केवल उस उपाय के सम्यक् आचरण की आवश्यकता है।

वस्त्र का मलावरण साबुन पानी तथा पुरुषार्थ से दूर किया जा सकता है। ठीक इसी तरह आत्मा की शुद्धि ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से सम्भव हो सकती है। सम्भव शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि यदि चारित्र केवल बाह्य रूप में बना रहे और वह आन्तरिक विकारों को जड़-मूल से नष्ट न कर सके तो आत्म-शुद्धि बहुत जटिल रूप ले लेती है। कभी-कभी कपड़ा धोते-धोते फट जाता है, किन्तु उसमें निखार नहीं आता। कभी-कभी व्यक्ति संयम की साधना करता-करता कृशकाय हो जाता है, किन्तु आत्मा में कहीं दिव्यता नहीं आती। कभी-कभी साबुन, पानी तथा परिश्रम का कितना ही अपव्यय होता है, किन्तु कपड़ा अपने स्वरूप में नहीं आता, वह मैले का मैला ही बना रहता है। इसी प्रकार कभी-कभी बाहरी क्रियाओं का खूब प्रदर्शन होता है और खूब कठिनाई से बाह्य नियमों का पालन किया जाता है।

अपनी बाहरी मर्यादाओं के प्रति साधक को काफी आग्रह भी रहता है। पुरानी परम्पराओं की एक भारी गठरी सिर पर उठा कर वह जीवन भर साधना के पथ पर चलता रहता है, किन्तु उसका अन्तर्मन कषायों की भारी भरकम शिला के नीचे दबा रहता है। विकारों का एक भी कण मन के केन्द्र से हटता नहीं। विकारों की परतों के नीचे दबा हुआ मन कभी अन्धकार से बाहर नहीं निकलता। उसे आत्मा का दिव्यालोक कभी नसीब नहीं होता। शरीर बाहर की कोरी नियम-रेखाओं से घिरा रहता है। वह बाहर से कुछ मर्यादाओं के बन्धनों से अवश्य बन्धा रहता है, किन्तु मन तो कषायों से बन्धा रहता है। एक दिन जीवन के अन्त में मर्यादाओं और व्यवहारों के बन्धन भी दूर हो जाते हैं, किन्तु विकारों के बन्धन तो नहीं टूटते। वे तो जीवन के साथ ही चले जाते हैं।

जड़ क्रियाओं में विकारों के बन्धन खोलने की शक्ति नहीं होती।

वे बन्धन तो अन्तरंग चारित्र से ही खुल सकते हैं। बाह्य क्रिया-कलाप यदि शरीर हैं तो अन्तरंग चारित्र उसकी आत्मा है। यदि बाह्य और आभ्यन्तर संयम में आत्मा और शरीर जैसा सम्बन्ध हो जाए तो फिर कहीं भी जड़ता नहीं रह सकती। संयम का प्रदर्शन भी नहीं हो सकता और दम्भ के बल पर आत्म-वञ्चना भी नहीं हो सकती।

सारी दुनिया जानती है कि आत्मा के अभाव में शरीर मिट्टी के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसकी कुछ भी कीमत नहीं होती, किन्तु दुःख एवं आश्चर्य की बात तो यह है कि साधक के अन्तरंग से चारित्र की अन्तरात्मा तो निकल जाती है, किन्तु क्रिया-कलाप का एक आकर्षक एवं प्रभावक शरीर बना रहता है। उसका ठाठ-बाट दर्शकों को कभी-कभी मन्त्र-मुग्ध कर देता है। साधक के बाह्याचार को देखकर ही लोग उसे महा-संयमी की उपाधि से विभूषित करना शुरू कर देते हैं।

हालांकि इस दुनिया में बाहर एवं भीतर से एक सच्चा संयमी बनना कठिन होता है पर मैं यह अवश्य मानता हूं कि जीवन में सर्व प्रथम व्रतों की ही प्रतिष्ठा होती है। दीक्षा के समय साधक को व्रतों में प्रतिष्ठित किया जाता है, एक विशाल जन-समूह के समक्ष गुरु की चरण-छाया के मंगलमय सान्निध्य और सिद्ध प्रभु की साक्षी में। किन्तु मैं समझता हूं कि यह आचार-ग्रहण का केवल एक सामाजिक रूप है, एक पद्धति है, व्यवहार है और यह भी आवश्यक है। इसकी उपेक्षा कोई भी नहीं कर सकता, किन्तु एक बात अवश्य स्मरण रहनी चाहिए कि दीक्षा-पाठ पढ़ लेने और पढ़ा देने मात्र से जीवन में व्रत प्रतिष्ठित नहीं हो जाते और न ही जीवन व्रतों में प्रतिष्ठित हो पाता है।

इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रमाण खोजने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। कितने ही प्रमाण घर बैठे ही आप को मिल सकते हैं। आपने कितनी ही बार देखा है कि बड़े शौक से दीक्षा ग्रहण करने वाला साधक संयम से विचलित हो जाता है और एक दिन वेश छोड़

कर घर लौट जाता है। बात स्पष्ट है कि वहां व्रतों की प्रतिष्ठा तो क्या व्रतों के प्रति उस साधक के मन में आस्था और श्रद्धा तक भी नहीं होती। यह बात निश्चित है कि यदि अपने आधार (अन्तरंग तथा बाह्य) के प्रति श्रद्धा बनी रहे तो कभी न कभी जीवन में व्रत और व्रतों में जीवन प्रतिष्ठित हो जाता है। जब जीवन में व्रतों का आरोपण हो जाने पर भी जीवन में संयम एवं विशुद्ध आचार का प्रवेश नहीं होता तो समझ लेना चाहिए कि वहां श्रद्धा का नितान्त अभाव है।

जो वृक्ष जड़ों से उखड़ जाता है उसे रस्सा से भी बान्धा जाए तो भी वह खड़ा नहीं रह सकता, हवा का एक ही धक्का उसे धराशायी कर सकता है। जिस वृक्ष की जड़ें मजबूत हैं और धरती में गहरी गई हुई होती हैं, बड़े-बड़े तूफानों में भी वह एक चट्टान की तरह खड़ा रहता है। श्रद्धा जीवन की शक्ति है, आचार उसका प्राण है, संयम उसकी आत्मा है और साधना उसका मूल है। श्रद्धा जितनी गहरी और सच्ची होगी आचार उतना ही पुष्ट एवं समुन्नत होगा। यह बात उतनी ही सत्य है जितनी शरीर में आत्मा की सत्ता सत्य है। व्रतों की प्रतिष्ठा साधक को 'निश्चय' के लोक में पहुंचा देती है, 'निश्चय' कभी व्यवहार को अपने साथ रखता है और कभी वह अपने असीम बल पर अकेला ही खड़ा रहता है, क्योंकि निश्चय का आधार आत्मा की अनन्त शक्ति है। जिसे यह आश्रय मिल जाता है वह सदैव अविचल एवं निश्चल रहता है।

किन्तु यह कभी मत भूलिए कि जब व्यवहार निश्चय के साथ रहता है तो वह निश्चय का सहयोगी और सहचर होकर रहता है। व्यवहार का हर कदम निश्चय के साथ उठता है और निश्चय अर्थात् अन्तरंग आचार एवं संयम का प्रत्येक कदम आत्मा की ओर होता है। सत्य एवं अनन्त की ओर जाता है। अनन्त सत्य की ओर अग्रशील साधक का व्यवहार भी सम्यक् होता है। उसके बाह्याचार में कहीं दम्भ नहीं मिल सकेगा। उस आत्म-लक्ष्यी का बाह्याचार भी आत्म-दर्शन के लिए होता है, केवल प्रदर्शन के लिए नहीं। अपने जीवन के

प्रत्येक बन्धन, नियम, मर्यादा पर उस साधक की पूरी श्रद्धा रहती है। यह श्रद्धा उसके अन्तरंग आचार को परिपुष्ट करती है।

अन्तरंग पोषण एवं आचार के परिपोषण का तात्पर्य है—कषायों का उपशम, दमन तथा अन्ततः उन्मूलन, यही शान्ति है। कषायों के उन्मूलन का अर्थ है कर्म-ग्रन्थियों का भेदन तथा कर्म-बन्ध-विमुक्ति। कर्म-बन्ध-मुक्ति से साधक को आत्मा के अनन्त प्रकाश अर्थात् कैवल्य की शाश्वत उपलब्धि होती है। यही शुद्धि है, इसे ही इस धरती पर इस जीवन का मोक्ष कहते हैं—परिनिर्वाण कहते हैं।

मोक्ष तो मृत्यु के पश्चात् नश्वर शरीर के छूट जाने पर साधक को उपलब्ध होता है—परिनिर्वाण आत्म-साधना का सर्वोच्च शिखर है, किन्तु यह केवल बाह्याचार की मृग-मरीचिका में भटकने वाले साधक को कदापि मिल नहीं सकता। ●





सुख का सोपान आत्म-ज्ञान

○

जैन साधु का स्थान जैन-शासन में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा दायित्व पूर्ण है। उपाध्याय तथा आचार्य जैसे उच्च पदों से अलंकृत होने का श्रेय एवं सौभाग्य आखिर एक साधु को ही उपलब्ध होता है।

साधु क्या है ? जैन-धर्म की दृष्टि में वह ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का एक सजीव साधक है। मैंने साधक के साथ 'सजीव' विशेषण लगाया है। शायद इससे किसी पाठक का अन्तरङ्ग शंकाकुल हो जाये कि क्या साधक निर्जीव भी होता है ? जो साधक है वह तो सजीव ही होगा, किन्तु बात ऐसी नहीं है। इस सजीव विशेषण में अवश्य कुछ रहस्य है। इस रहस्य का अन्तस्तल कुछ आगे चल कर ज्ञात हो सकेगा। साधक अपनी साधना में निर्जीव कैसे होता है ? यह रहस्य भी लेख की अन्तिम पंक्तियों द्वारा खुल सकेगा।

जीवन में ज्ञान प्रकाशक होता है, इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि ज्ञान जीवन में सत्यासत्य का बोध कराता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिसे सत्यासत्य का ज्ञान हो जाता है वह असत्य को छोड़कर सत्य को अवश्य ग्रहण कर ही लेता है, क्योंकि ज्ञान केवल प्रकाशक है, निर्णायक तथा असत् का निवर्तक नहीं। स्मरण रहे कि हेयोपादेय में से उपादेय को चुनना यह विवेक का कौशल है। विवेक में ज्ञान के साथ उपयोग तथा श्रद्धा का भी मिलन रहता है। ज्ञान और श्रद्धा व्यक्ति को चारित्र में प्रतिष्ठित कर सकते हैं, किन्तु स्मरण रहे कि

जीवन में चारित्र का उदय मोहनीय-कर्म के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय पर अवलम्बित रहता है। मोहनीय-कर्म की मन्दता ही साधक को त्याग की ओर अग्रसर करती है। त्याग से साधक हिंसा आदि दोषों से निवृत्त हो जाता है। बाह्य भाव से निवृत्ति ही चारित्र है। इसीलिये मैंने चारित्र को निवर्त्तक विशेषण से अलकृत किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चारित्र की सच्ची साधना साधक को आत्म-लक्षी बना देती है, जीवन के किसी भी क्षेत्र में वह बाह्य-लक्षी नहीं रह जाता।

आत्म-लक्षी साधक के जीवन में आत्मा और उसके स्वरूप की उपलब्धि ही उसकी साधना का प्रधान लक्ष्य रहता है। वह लक्ष्य एक दिन कैवल्य, वीतरागता तथा अक्षय सुख के रूप में प्रकट होकर सामने आता है।

उपर्युक्त तीनों उपलब्धियों में कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध है। अक्षय-सुख का कारण कैवल्य है। कैवल्य केवल पूर्ण ज्ञान का ही द्योतक नहीं वह पूर्ण सुख का भी परिचायक है। जिस व्यक्ति को जितना अधिक ज्ञान होता है उसकी आंखों के सामने उतना आत्म-सुख का मार्ग भी खुलता जाता है, किन्तु शर्त यह है कि वह ज्ञान आत्म-ज्ञान होना चाहिए। केवल शुष्क श्रुत-ज्ञान नहीं। महान् से महान् बहुश्रुत भी केवल विद्वान् ही कहला सकता है, आत्म-ज्ञानी नहीं।

मेरा यह अभिप्राय बिलकुल नहीं कि बहुश्रुत होने से व्यक्ति आत्म-ज्ञानी नहीं हो सकता। बहुश्रुत को तो आत्म-ज्ञानी होना ही चाहिये, किन्तु कभी-कभी शास्त्रों का ज्ञाता केवल ज्ञाता ही बन कर रह जाता है, वह आत्म-ज्ञानी नहीं बन पाता। आत्मा के धरातल को उसका श्रुतज्ञान स्पर्श नहीं कर पाता। शायद इसी सन्दर्भ में किसी विद्वान् ने कभी ऐसा कहा हो—

पठन्ति वेद शास्त्राणि, धर्म-शास्त्र-मीमांसकाः।
आत्मतत्वं न जानन्ति, द्रव्यस्था दर्वी यथा॥

धर्म-शास्त्रों की मीमांसा करने वाले विद्वान् वेद आदि शास्त्रों को पढ़ कर भी आत्मा के सत्य को नहीं जान पाते, जैसे कि कड़छी

शाक के पतीले में रह कर भी उसके स्वाद को नहीं जान पाती। ऐसे ही कुछ विद्वान् श्रुत-पाठी होकर भी आत्म-स्वरूप की सत्यानुभूति से वंचित ही रह जाते हैं। कभी बहुत शास्त्र पढ़कर भी आत्मा की थाह नहीं मिल पाती और कभी अहिंसा, संयम और तप—धर्म के इन तीन पदों को सुन कर ही व्यक्ति आत्मा के लोक में पहुंच कर सदा के लिए आत्म-निष्ठ हो जाता है।

जीव को ज्ञान तो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से हो जाता है, किन्तु सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये मोहनीय कर्म की कुछ एक प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय करना आवश्यक होता है। मोहनीय कर्म को जीते बिना दुनिया में किसी को भी सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। मति-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव को मति-ज्ञान हो सकता है, किन्तु किसी को सन्मति नहीं आ सकती। श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से व्यक्ति को श्रुत की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु वह सम्यक्-श्रुत नहीं हो सकता। सम्यक्-मति और सम्यक्-श्रुत के लिये मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय सदैव अपेक्षित रहता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया तथा लोभ, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय कर्म—इन सात प्रकृतियों का जब जीवन में उपशम होता है तभी व्यक्ति को सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। स्मरण रहे कि औपशमिक सम्यक् दर्शन, सम्यक्दृष्टि, सम्यक्त्व तथा सम्यक्ज्ञान ये जैन धर्म के पारिभाषिक कोप के पर्यायवाची शब्द हैं। सम्यक्त्व शब्द सम्यक्ज्ञान का ही द्योतक है। सम्यक् ज्ञान ही वस्तुतः आत्म-ज्ञान है।

आत्म-ज्ञान यथार्थ तथा सत्य होता है, आत्म-ज्ञान की भूमिका से सत्य का दर्शन होने लगता है। इसीलिये जैन धर्म के सिद्धान्तानुसार साधक की साधना की भूमिका "सम्यक् दृष्टि गुण-स्थान" है। इस गुण-स्थान में व्यक्ति सत्य को समझने या देखने लगता है और फिर उस अनन्त, अखण्ड एवं शाश्वत सत्य को पाने के लिये व्रत तथा नियम रूप चारित्र को वैराग्यपूर्वक ग्रहण करके साधना के

महापथ पर गतिशील होता है। जीव में जब तक मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक सारी दुनिया के शास्त्रों का विविध-लक्षी ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी उसे सम्यक् ज्ञानी या आत्मज्ञानी की संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता है।

एक प्राणी-विज्ञान-वेत्ता प्राणी-जगत् के विषय में विपुल ज्ञान रखता है, प्राणियों के भेद-उपभेदों को वह जानता है, उनके जन्म मरण की प्रक्रियाओं को वह समझता है, उन प्राणियों की शारीरिक क्रियाओं तथा मानसिक संवेदनाओं के सम्बन्ध में भी उसे पूरा ज्ञान रहता है, किन्तु इतना सूक्ष्म ज्ञान होने पर भी यदि उसके हृदय में **"आत्मवत् सर्वभूतेषु"** की भावना जागृत नहीं होती और वह इतना बड़ा वेत्ता फिर भी अपने क्षुद्र इन्द्रिय-सुख के कारण प्राणियों का संहार करता रहे तो उसके इस ज्ञान को आत्म-ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। जिसे आत्म-ज्ञान हो जाता है उसका चिन्तन विराट् होकर कुछ इस प्रकार से प्रस्फुटित होता है कि वह सोचने लगता है—**सव्वे पाणा पियाउआ सुहसाहा दुक्ख-पडिकूला, अपियवहा पिय-जीविया जिविउं-कामा सव्वेसिं जीवियं पियं।** सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सब सुख चाहते हैं, दुख सबको प्रतिकूल है, अपना वध कोई नहीं चाहता, सब जीना चाहते हैं, सब दीर्घ जीवन के इच्छुक हैं। भगवान महावीर फरमाते हैं कि मैं अधिक क्या कहूं जीवन सबको प्यारा है।

भगवान महावीर का **"सव्वेसिं जीवियं पियं"** यह सूक्त जिओ और जीने दो Live and Let Live का बीज है। इस नारे Slogan का जन्म इसी सूक्त से हुआ है। जीवन का यह सिद्धान्त भूत में जितना सत्य था, आज भी उतना ही सत्य है और भविष्य में भी उतना ही सत्य रहेगा। देशकाल के अनुसार सत्य की परिभाषा तथा रूप बदल सकता है, किन्तु उसका नित्य तथा शाश्वत स्वरूप मूलतः अविछिन्न ही रहता है, वह कदापि बदलता नहीं, वह त्रिकाल सत्य है। जो इस सत्य को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आत्म-सात् करके चलता है, वस्तुतः वह ही आत्म-ज्ञानी है।

दुनिया के बड़े से बड़े भौतिक विज्ञानी को केवल भौतिक शोध के बल पर तथा परमाणु-जगत के सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान उपलब्ध होने पर भी आत्म-ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। भौतिक विज्ञान से आत्म-ज्ञान उतना ही दूर है, जितना कि आलोक से अन्धकार और मोक्ष से संसार दूर होता है, फिर भी यदि कोई भौतिक विज्ञानी परमाणु की शोध करता-करता आत्मा की सार्वभौम सत्ता को भी पहचान ले और उसकी हृत्तन्त्री पर भगवान महावीर की **"जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया"** यह सत्य सूक्ति झंकृत हो उठे तो वह अवश्य आत्मज्ञानी बन सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह स्वयं आत्मा ही है। यह चिन्तन जड़ विज्ञानी को चेतन जगत् में स्थिर कर देता है। ऐसी स्थिति में उसके लिये जड़ नगण्य बन जाता है और चेतन प्रधान बन जाता है। वैज्ञानिक समझने लगता है कि आत्मा के बिना भला विज्ञान कहां? सारे विज्ञान का विज्ञाता तो आत्मा ही है। परमाणु के गर्भ में झांकने वाला वैज्ञानिक जब कभी अपनी आत्मा के अन्तस्तल में उतर कर देखेगा तो उसे यह तथ्य अच्छी तरह परिज्ञात होगा कि उसकी समस्त उपलब्धियों का केन्द्र स्वयं उसकी अपनी आत्मा ही है और जैसी आत्मा उसमें है, वैसी आत्मा दूसरों में भी है। प्रत्येक आत्मा में सुख-दुख का संवेदन करने की समान क्षमता है, किन्तु अपनी-अपनी गति और जाति में, मन इन्द्रिय तथा शरीर के बल के न्यूनाधिक्य के कारण उस संवेदन में तारतम्य उत्पन्न हो जाता है। वनस्पति में सुख-दुख का जितना संवेदन होता है, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में उससे कहीं अधिक संवेदन होता है। कारण स्पष्ट है कि वनस्पति में केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही उस संवेदन में सचेष्ट होती है। जब कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में मन-सहित पांचों इन्द्रियां संवेदन में तत्पर हो जाती हैं और फिर उनकी ग्रहण-शक्ति भी प्रबल रहती है। कहा जाता है कि चींटी की घ्राण-शक्ति मनुष्य की घ्राण-शक्ति से कहीं अधिक होती है, निश्चित रूप से यह सत्य है। इसके लिये कुछ भी चींटी के लिये पक्षपात नहीं है। किन्तु एक बात कदापि नहीं

भूलनी चाहिये कि गन्ध-ग्रहण के पश्चात् जो प्रतिक्रिया मनुष्य के हृदय पर होती है वह प्रतिक्रिया बेचारी चींटी के जीवन में कहां परिलक्षित हो सकती है ? असंज्ञी के पास तो मन ही नहीं होता तो फिर इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय की प्रतिक्रिया टिके भी कहां ? प्राय: अध्यवसाय-जन्य ज्ञान विशेषत: जीवन-निर्वाह के लिये ही होता है।

एक कोमल तथा कमनीय फूल का वर्णन सुनकर और फिर उसे आंखों से देखकर व हाथ से उसे तोड़ कर तथा फिर नाक से सूंघ कर वासना का जो तूफान मनुष्य के हृदय में उठता है, भला वह तूफान फूल पर बैठने वाले भ्रमर के जीवन में कहां नज़र आ सकता है ?

संवेदना में तारतम्य होने पर भी **'एगे आया'** एक आत्मा के सिद्धांत के अनुसार सारे विश्व में एक ही आत्मा की सत्ता स्वीकार की गई है। विश्व का वैज्ञानिक अपनी आत्मा की तरह जब सबकी आत्मा को देखने लगता है तो उसी क्षण उसे ऐसी सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है कि जो मुझे प्रिय नहीं है, वह संसार के किसी भी प्राणी के लिए प्रिय नहीं हो सकता। स्मरण रहे कि यह बात मैं सुख-दुख के परिप्रेक्ष्य में लिख रहा हूं। वैसे तो सभी वस्तुएं यदि एक को प्रिय हैं तो अन्य को अप्रिय हो जाती हैं, किन्तु उस रुचि के पीछे अभीष्ट तो सुख ही रहता है। जीवन भी तभी प्रिय लगता है जब कि उस जीवन के बगीचे में सुख के कमनीय पुष्प खिले रहें और यदि अशुभ कर्म के उदय से उसमें दुख की ज्वालाएं जलने लगें तो वह जीवन भी एक श्मशान बन कर रह जाता है। "सब सुख ही चाहते हैं, दुख कोई नहीं चाहता", अहिंसा का यह सार्वभौम सिद्धांत इस चिन्तन की नींव पर ही खड़ा है। जो वैज्ञानिक अपनी आत्मा और जीवन के सुख-सिद्धान्त को शाश्वत तथा सार्वभौम रूप में स्वीकार कर लेता है वह वैज्ञानिक आत्म-ज्ञानी बन जाता है। वह वैज्ञानिक अणुबम तो क्या लड़ाई के लिये एक चाकू भी नहीं बना सकता, क्योंकि आत्म-ज्ञानी सदा शिव का स्रष्टा होता है, अशिव का नहीं।

मैं अपने लेख में ऊपर लिख चुका हूं कि कोई भी व्यक्ति इधर-उधर से ज्ञान का भण्डार एकत्रित करने से अपने तथा अन्यों के लिये

सुख के द्वार नहीं खोल सकता। उसके वाह्य ज्ञान के साथ आत्मा तथा सुख के सार्वभौम सिद्धान्त का योग भी रहना चाहिए। आत्म-ज्ञान जीव के प्रत्येक व्यवहार को मंगलमय बना देता है। लोक-जीवन का प्रत्येक साधक यदि सम्यक् दृष्टि बन कर रहे तो उसका प्रत्येक कर्म दिव्य बन सकता है, लोकोत्तर जीवन का आधारभूत सिद्धान्त तो सम्यक्त्व ही है। मोहनीय सप्तक के उपशम क्षयोपशम तथा क्षय के आधार से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को भी औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व कहा जाता है। शास्त्रों में सास्वादन, मिश्र तथा वेदक आदि अन्य प्रकार से भी सम्यक्त्व का वर्णन उपलब्ध होता है, विस्तारभय से मैं उसे विवेचन के धरातल पर उतारना नहीं चाहता और साधक की आत्म-साधना में इनका वैसे कोई स्थान भी नहीं है। वेदक सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका है, अन्त में वह क्षायिक में परिणत हो जाता है। औप-शमिक सम्यक्त्व अधिक से अधिक साधक को ग्यारहवें गुण-स्थान तक ले जा सकता है, उससे आगे नहीं। बस एक मात्र क्षायिक सम्यक्त्व ही साधक को शुद्ध वीतराग पद पर पहुंचा सकता है। मेरे शब्दों में क्षायिक सम्यक्त्व एक अविचल सत्य दृष्टि तथा एक निश्चल तथा ध्रुव आत्मज्ञान ही है जो साधक को अपना साध्य उपलब्ध कराने में अविचल सहयोगी के रूप में सदैव उसके अंग-संग ही रहता है।

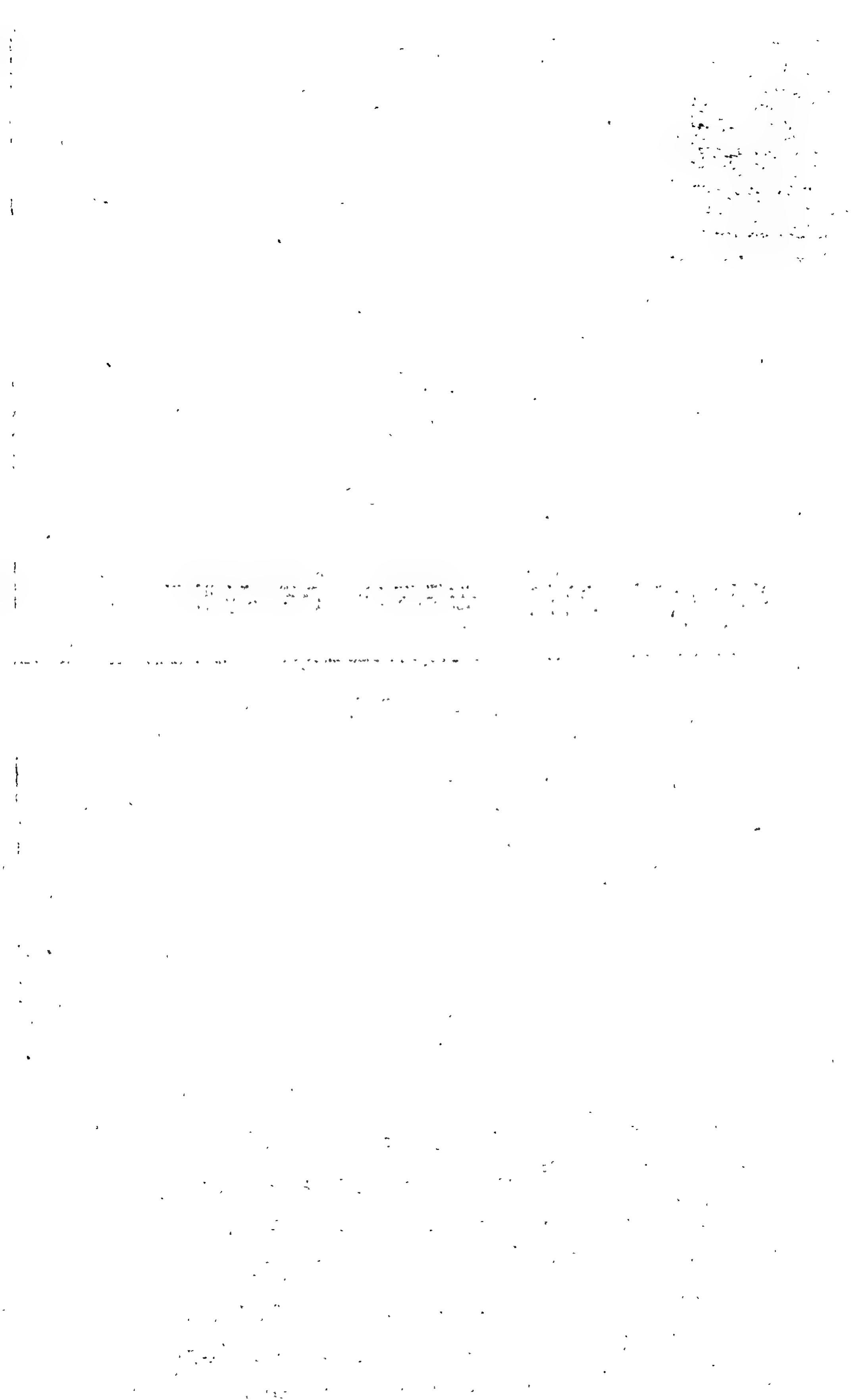
जो साधक आत्म-ज्ञान से शून्य केवल जड़ क्रियाओं के व्यामोह में ही फंसा रहता है, सदा वाह्याचार की मृग-मरीचिका में ही भटकता रहता है, वह एक तरह से निर्जीव साधक है और जो साधक आत्म-ज्ञान-पूर्वक क्रिया करता है, वह मेरी भाषा में सजीव साधक है, अर्थात् उसकी साधना सजीव कही जाती है और अपने जीवन में वह शुद्धि और शान्ति के रूप में अलौकिक अमृत उपलब्ध करता है। बस आत्म-ज्ञान ही सुख का सोपान है। साधक तो आज भी हमारे सामने हजारों की संख्या में हैं। देखना होगा कि वह सचमुच सम्यक्-चारित्र के उद्यान में विचर रहे हैं या वाह्याचार के शुष्क रेगिस्तान में आत्म-शान्ति के शीतल जल की आशा में केवल भटक ही रहे हैं। ●



अनुभूति और चिन्तन के स्वर

(७०७-३१६)

जो कुछ होता है इस संसार में ही होता है, इससे वाहर कुछ नहीं होता। यहीं जीवन के वन्धन वनते हैं और यहीं खुलते हैं। यहीं से होकर मार्ग नरक को जाता है और मोक्ष की सीढ़ी भी यहीं से उठती है। क्या कुछ इस जगत में नहीं है। जन्म-मरण, सुख-दुःख, ह्रास-विकास तथा उत्थान-पतन आदि सव कुछ तो इसी में है और वह सव विल्कुल मिथ्या नहीं है, किसी अपेक्षा से सव कुछ सत्य ही है।





भगवान महावीर की तस्वीर आत्मवाद के दर्पण में

○

अन्यवाद और महावीर

भगवान महावीर की यथार्थ छवि किस दर्पण में नजर आ सकती है ? आइये जरा सोचिये।

कृष्ण और महावीर

भगवान श्री कृष्ण का कर्म-योग विश्व-विख्यात है। कर्म-योगियों के जगत् का यदि कृष्ण को सम्राट् कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। गीता का समस्त ज्ञान भक्ति ज्ञान, तथा संन्यास-योग का उल्लेख एवं प्रतिपादन करके अन्त में कर्म-योग की ओर मुड़ जाता है।

गीता का सबसे बड़ा उद्देश्य संसार को कर्मयोग की विशिष्टता समझाना है। उसके लिए आत्मा की अविनाशिता का परिज्ञान, फलासक्ति का परित्याग तथा कर्तव्य के प्रति पूर्ण समर्पण का होना अत्यावश्यक है। गीता में ज्ञान-योग, संन्यास-योग तथा भक्ति-योग का उल्लेख मेरे ख्याल में केवल कर्मयोग के सन्दर्भ में ही किया गया है, नहीं तो रण-भूमि में विशेष तत्व-ज्ञान की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसी चिन्तन के आधार पर मैंने भगवान श्री कृष्ण को कर्म-योगियों का सम्राट् कहा है।

बुद्ध और महावीर

भगवान बुद्ध एक महान् अहिंसावादी होकर भी दार्शनिक जगत् में क्षणिकवादी के नाम से याद किये जाते हैं।

भगवान महावीर के सम्बन्ध में भी हमें सोचना होगा कि उनके लिए ऐसा युक्तियुक्त तथा अति समीचीन "वाद" कौन सा है जिससे उन्हें अलंकृत करके हम विश्व के समक्ष उनकी साधना तथा दर्शन का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं और उनकी ठीक छवि किस दर्पण से हम देख सकते हैं? भगवान महावीर को हम निष्काम कर्मयोगी तो नहीं कह सकते, क्योंकि कर्मयोग का आदर्श कर्मक्षेत्र में ही सिद्ध किया जा सकता है। जो साधक कर्म-क्षेत्र से बहुत दूर जाकर वनवासी बन गया हो और जो अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भी प्रकृतिस्थ बन कर रहता हो, उस साधक को कर्म-योगी तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसे आत्म-योगी अवश्य कहा जा सकता है।

राम और महावीर

भगवान महावीर को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के मर्यादा रूपी गज से मापना भी उपयुक्त नहीं होगा। भगवान श्री राम एक आदर्श गृहस्थाश्रमी थे, जब कि भगवान महावीर एक आदर्श त्यागी पुरुष थे। भगवान राम को वनवास मिला था, जब कि प्रभु महावीर ने स्वेच्छा से वन में वास किया था। भगवान राम ने अपने शत्रुओं से धर्म-युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त की, किन्तु भगवान महावीर तो एक दम अकिंचन थे। अकिंचन व्यक्ति किसी के भी स्वार्थ का कभी लक्ष्य-बिन्दु नहीं बनता। आशा का केन्द्र ही प्रायः संघर्ष का मूल बनता है। अकिंचन साधक किसी भी लौकिक आशा का किसी के लिए कभी भी निमित्त नहीं बन सकता। इसलिये वह किसी के लिए कभी राग तथा द्वेष का हेतु भी नहीं बन सकता, इसलिये उसके जीवन में संघर्ष के लिए कोई आवकाश नहीं रहता।

हां, यदि कोई दुष्ट अकारण ही वैर करने पर तुल जाये तो ऐसी

स्थिति में वीतराग पुरुष उस वैर का भी मैत्री से ही स्वागत करता है और अपने अन्तरङ्ग के अपार प्रेम-बल से उसके हृदय में अमृत भरने का प्रयत्न करता है। उसके पास मोह के रूप में ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसके छिन जाने का भय हो और जिसकी रक्षा के लिये उसे किसी के साथ संघर्ष में उतरना पड़े।

भगवान महावीर : परख की कसौटी पर

भगवान महावीर एक नितान्त अपरिग्रही निस्पृह तथा आत्म-तृप्त महापुरुष थे। किसी भी बाहरी शक्ति के साथ उलझने का कोई भी प्रसंग उनके जीवन में कभी उपस्थित नहीं हुआ। यदि कभी किसी दुष्ट शक्ति ने किसी दुष्ट उद्देश्य से उनके साथ टकराने का प्रयत्न भी किया तो महावीर ने उसका उत्तर सदैव मौन, संयम, क्षमा तथा समभाव से ही दिया है। वर्धमान महावीर ने अपनी मर्यादाओं का निर्माण अपने जीवन के अनुरूप किया था।

भगवान् राम एक महान् एवं आदर्श शासक थे, उनकी मर्यादाएँ उनके स्वरूपानुकूल परमोच्च, सत्य एवं यथार्थ थीं। एक शासक के सामने लोक-रंजन, प्रतिष्ठा तथा पक्ष-रक्षा का प्रश्न सदैव खड़ा रहता है, किन्तु आत्म-योगी महावीर के सामने ऐसा कोई प्रश्न-चिन्ह नहीं था। उनके जीवन की मर्यादायें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, मद तथा मत्सर आदि आत्म-शत्रुओं पर विजय पाने के लिए ही थीं, न कि किसी बाहरी शक्ति को जीतने के लिए। उनकी मर्यादाएं केवल आत्मानुशासन के लिये थीं, किन्तु लोक-शासक की मर्यादाएं शासन्-सूत्र की समस्त विधियों को ध्यान में रखकर ही बना करती हैं। जीवन में क्षेत्र एवं लक्ष्य-भेद होने से मर्यादा में भेद हो जाना स्वाभाविक ही है। भगवान राम अपने क्षेत्र एवं लक्ष्य की दृष्टि से ही मर्यादा-पुरुषोत्तम माने जाते हैं।

मेरा चिन्तन भगवान महावीर को उस झरोखे से देखने में सहमत नहीं है, क्योंकि आत्मा के अनन्त साम्राज्य के लोकोत्तर शासक के जीवन की मर्यादाएं भी लोकोत्तर ही होती हैं। लोक-व्यवहार से उनका कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता।

भगवान श्री महावीर भगवान बुद्ध की तरह क्षणिकवादी नहीं थे। भगवान महावीर के दर्शन में इस संसार में जड़ और चेतन रूप में दो ही पदार्थ हैं। जिन्हें जीव-राशि और अजीव-राशि इस शास्त्रीय संज्ञा से व्यवहार किया गया है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। महावीर ने अपने आत्म-ज्ञान से यह तथ्य उपलब्ध किया कि इस सृष्टि का प्रत्येक द्रव्य उत्पाद तथा व्यय की अवस्था से गुजर कर अपने मूल केन्द्र में ध्रुव रहता है। यही पदार्थ की शाश्वतता तथा नित्यता है। पदार्थ में अनित्यता का दर्शन आसक्ति के अहं से ऊपर उठ कर सत्य में अवस्थित होने के लिए केवल एक उद्बोधन मात्र है। वह कोई विशिष्ट प्रकार का वाद नहीं। इसलिये महावीर को क्षणिकवादी बुद्ध के समकक्ष भी नहीं रखा जा सकता।

तो फिर भगवान महावीर की छवि किस दर्पण में देखी जाए? यह प्रश्न तो बराबर प्रश्न बना ही रहा है। इस तथ्य की शोध के लिये चिन्तन के अन्तस्तल में उतरना आवश्यक है।

अहिंसा-अवतार महावीर

महावीर को प्रायः अहिंसा का अवतार कह कर उनके चरणों के प्रति अपनी भक्ति तथा श्रद्धा व्यक्त की जाती है। निस्सन्देह आप अहिंसा के एक महान् उन्नायक के रूप में हमारे सामने आते हैं, उन्होंने एक बार फिर जन-मानस में अहिंसा की प्रतिष्ठा करने का सत्प्रयास किया। वे अहिंसा के केवल प्रचारक ही नहीं थे, बल्कि वे अहिंसा के पूर्ण साधक ही थे।

प्रचारक और साधक में आकाश तथा पाताल जितना अन्तर रहा करता है। अहिंसा के प्रचारक तो आज भी कम नहीं हैं, किन्तु जो काम अकेले महावीर कर गये वह आज के लाखों प्रचारक अहिंसा के ऊंचे-ऊंचे नारे लगा कर भी नहीं कर पा रहे, ऐसा क्यों? तथ्य नितान्त स्पष्ट है कि महावीर उच्चार की अपेक्षा आचार पर अधिक निष्ठा रखते थे। उनके प्रचार का माध्यम केवल वाणी नहीं, बल्कि आचरण था। जो काम हमारी वाणी नहीं कर सकती वह उनके मौन ने

हो जाता था। उनका जीवन और अहिंसा उमा-शंकर की तरह अभिन्न हो गए थे। महावीर की अहिंसा साधना तथा उनके अहिंसा-प्रचार का मूलाधार क्या है? "अहिंसा परमो धर्मः"—अर्थात् अहिंसा ही परम धर्म है। महावीर के इस नारे की आखिर आधार-शिला क्या है? इस शोध के पश्चात् ही हम महावीर के लिए कोई उपयुक्त अलंकरण स्थिर कर सकते हैं।

कुछ लोग भगवान् महावीर को क्षमामूर्ति, कुछ अमृत योगी, कुछ घोर तपस्वी तथा कुछ आपको संयम की सजीव प्रतिमा आदि विशेषणों से विभूषित करके अपने अन्तरंग में सन्तोष की एक सुखद अनुभूति करते हैं, किन्तु इन समस्त श्रद्धा-वचनों पर भी एक चिन्तन की दृष्टि डाल लेनी चाहिए और अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि क्या ये सब अहिंसा भगवती के ही विभिन्न रूप हैं, या इनके अतिरिक्त कुछ और भी हैं? जहां तक मेरे चिन्तन का निर्णय है ये सब अहिंसा के भिन्न-भिन्न रूपान्तर ही हैं। जो साधक दूसरों के अशिष्ट चिन्तन सम्भाषण तथा व्यवहार को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है और मन में प्रतिकार का विचार तक नहीं लाता, वह ही साधक सच्चा क्षमावीर कहा जाता है, किन्तु अहिंसा की उत्कट साधना के विना यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता।

योग और अहिंसा

योग भी अहिंसक व्यक्ति का सिद्ध होता है। हिंसक कभी योगी नहीं हो सकता और पूर्ण योग तो दूसरे शब्दों में अहिंसा का सर्वोच्च शिखर ही है।

तप और अहिंसा

जहां तक तप का सम्बन्ध है, वह भी अहिंसा की साधना का एक प्रधान अंग है, क्योंकि शास्त्रकारों ने इच्छा-निरोध को तप कहा है। इच्छा-प्रशस्त हो चाहे अप्रशस्त, वह राग और द्वेष का कारण ही होती है। राग-द्वेष कषायों के केन्द्र हैं और जैन धर्म ने कषायों को ही वस्तुतः हिंसा कहा है। जो इच्छा का निरोध कर लेता है वह

साधक कषायजित हो जाता है। जो कषायजित बन जाता है वह पूर्ण अहिंसक हो जाता है, अतः महावीर को "घोर तपस्वी" कहने से भी उनके अहिंसक जीवन का ही यशोगान माना जायेगा।

संयम और अहिंसा

संयम तो अहिंसा का मूल ही है, क्योंकि मन, वचन तथा काया के निग्रह के विना कोई भी साधक अहिंसा की साधना नहीं कर सकता। महावीर को "संयम की साकार प्रतिमा" कहना प्रकारान्तर से उनकी उत्कृष्ट अहिंसा की ओर ही निर्देश करता है।

भगवान महावीर के वैराग्य, त्याग, तप, योग, ध्यान, मौन, सहिष्णुता समता तथा शान्तिमय जीवन का गहन अध्ययन करने के बाद प्रत्येक चिन्तक का अन्तःकरण इसी निर्णय पर पहुंचेगा कि वे अपने युग के एक महान अहिंसावादी महापुरुष थे। वैसे तो बुद्ध भी अहिंसावादी ही थे, किन्तु उनकी अहिंसा ने सदैव अति से बच कर चलने का प्रयत्न किया है और महावीर की अहिंसा ने अति को भी लांघकर चलने की साधना की है। भगवान बुद्ध की अहिंसा और भगवान् महावीर की अहिंसा को मैं छोटी-बड़ी दो सगी बहनें ही समझता हूं। महावीर की अहिंसा वह बड़ी बहन है जिसका अन्तरंग अत्यन्त संयत शान्त तथा कोमल है। संगम तथा शूलपाणि के भयंकर उपसर्ग भी उनकी संयम-नगरी में भूकम्प नहीं ला सके। वे उन के मन के शान्त-कानन में प्रतिशोध का दावानल भड़काने में नितान्त असफल रहे हैं। महावीर की अहिंसा का हृदय इतना मृदु था कि जगत् के सूक्ष्मतम जीव की संवेदना भी उनके हृदय की वेदज्ञता के दर्पण में प्रतिबिम्बित होती थी। चण्डकौशिक की गरल-गागर भी उनके अमृत-कुम्भ को प्रभावित न कर सकी। ग्वाले और गोशाले के अग्निबाण भी उनके हृदय-हिमालय को ज्वालामुखी नहीं बना सके। अनार्य देश "लाट" की अनार्य भूमि उनके चरण-रज का संस्पर्श पाकर आर्य बन गई थी। महावीर के विमल हृदय में उस अनार्य धरा की मलिन छाया एक भी दिन नजर नहीं आई। उनकी अहिंसा-शक्ति में हर अनार्य को आर्य, असुर को सुर, पतित को

पावन, नीच को उच्च, अवनत को उन्नत, अशुभ को शुभ, अमंगल को मंगल, अमित्र को मित्र, कठोर को मृदु तथा विष को अमृत बना देने की एक अलौकिक क्षमता थी।

वैसे तो सभी तीर्थंकर सदैव अहिंसा की ही मन्दाकिनी बहाते रहे हैं, सभी ने सर्वत्र अहिंसा का ही शंखनाद किया है और सभी तीर्थंकरों की धर्म-देशना की मधुर वीणा से अहिंसा के ही मधुर स्वर निकलते रहे हैं, क्योंकि तीर्थङ्करों का विचार तथा आचार-धर्म एक ही होता है, फिर भी महावीर की अहिंसा महासती सीता की तरह अग्नि-परीक्षा में से निकल कर अधिक तेजस्विनी एवं यशस्विनी होकर प्रकट हुई थी, क्योंकि भगवान महावीर के युग की परिस्थितियां विशेष एवं विकट रूप धारण कर चुकी थीं। वह महावीर की अहिंसा के लिये वस्तुतः एक बहुत बड़ी कसौटी थी। इतिहास साक्षी है कि महावीर इस कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरे हैं।

क्या भगवान महावीर को "अहिंसा की सजीव मूर्ति" के रूप में देखकर यह कह दिया जाये कि महावीर एक परम अहिंसावादी थे। मेरा ख्याल है कि यह निर्णय देने से पूर्व हमें और गहरे उतर कर सोचना होगा कि महावीर की अहिंसा का आधार क्या है? उनकी अहिंसा का दर्पण क्या है? यह तथ्य निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि जो व्यक्ति अहिंसक होता है वह मन, वचन तथा काया से किसी को कभी दुःख नहीं देता। उसके कर्म में निरवद्यता, सम्भाषण में सत्य एवं मधुरता तथा हृदय में सरलता होती है। शरीर तथा वाणी से तो क्या वह कभी किसी को दुखित करने का स्वप्न में चिन्तन तक भी नहीं करता। उसके अन्तर में सारे जगत के सभी प्राणियों के लिए प्रेम, मैत्री, करुणा ता अनुकम्पा का झरना सदैव वहता ही रहता है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जो अहिंसक है, वह सारे संसार के प्राणियों को अपनी ही आत्मा के समान समझता है। इस दृष्टि से यदि मन्थन किया जाए तो यह स्थिर हो जाता है कि एक अहिंसावादी सच्चा आत्मवादी होता है। भगवान् महावीर अपने युग के एक महान् आत्मवादी महापुरुष थे।

महावीर के दर्शन में जीव का जो विराट् विवेचन तथा अलौकिक

स्वरूप दर्शाया गया है, वह एक अलग विषय है उसकी चर्चा इस लेख में करना सर्वथा असंगत होगा, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि महावीर ने ईश्वर से ऊंचा स्थान 'आत्मा' को दिया है। उनके दर्शन में आत्मा ही परमात्मा है और जो दुनिया की प्रत्येक आत्मा को अपने समान समझ कर सुख देता है उसको परमात्मा अपने आप ही मिल जाता है। ईश्वर को न मानने वाला नास्तिक नहीं, बल्कि आत्मा को न मनाने वाला ही सबसे बड़ा नास्तिक होता है। ईश्वर मानव की कल्पना श्रद्धा तथा विश्वास के लोक में रहने वाली एक अदृष्ट शक्ति है, किन्तु 'आत्मा' इस धरती की शाश्वत सत्य तथा वह चेतन स्वरूप-सत्ता है जिसके बिना सारा प्रकृति-जगत् निर्जीव होकर बेकार हो जाता है। महावीर के दर्शन में जगत की धुरी जीव अर्थात् आत्मा है न कि ईश्वर। जीवन और जगत् में जो दुःख-सुख नजर आते हैं वे भी जीव-कृत हैं, ईश्वर-कृत नहीं। कर्म अपने आप में स्वतन्त्र शक्ति नहीं, उसका कर्ता और भोक्ता तो जीव ही है। जैन तीर्थङ्करों ने आत्मा को ही आस्तिकता का मूलाधार माना है, क्योंकि उनका विश्वास है कि जब मानव की आत्मा में आस्था बन जाती है तो उसके जीवन में सत्य तथा अहिंसा का स्वतः ही उदय हो जाता है। इसके लिये जैन जगत के राजा परदेसी का उदाहरण पर्याप्त होगा। इस राजा का वर्णन राज-प्रश्नीय सूत्र में उपलब्ध होता है। वह राजा आत्मा को नहीं मानता था। उसकी अज्ञान-दृष्टि में दूसरे के जीवन का कोई मूल्य ही नहीं था। दूसरों को उत्पीड़ित एवं दुखित करना उसके जीवन का एक शौक एवं मनोरंजन बन गया था। सौभाग्य से वह महामुनि केशी के सम्पर्क में आया। उस ज्ञानी मुनि ने उसे आत्मा के अस्तित्व का सच्चा बोध दिया और उस दिन से वह सब जीवों में अपनी ही आत्मा का दर्शन करने लगा। वह यह भी मानने लगा कि सब जीवों को मेरे ही समान सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। इस आत्म-ज्ञान के उदित होते ही उसके जीवन से हिंसादि पाप इस तरह भाग गये जिस तरह कि सूर्य के उदय होने से प्रकृति के प्राङ्गण से अन्धकार विदा हो जाता है।

संसार के सभी नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों तथा विधानों का यदि कोई केन्द्र हो सकता है तो वह आत्मा ही है। विश्व-लीला में आत्मा का सर्वोच्च स्थान है। इसके बिना तो विश्व का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

भगवान महावीर ने कहा है कि परमात्मा का दर्शन भी स्वयं अपनी आत्मा का ही एक परम विशुद्ध रूप है, यदि 'परमात्मा' से आत्मा को अलग कर दिया जाये तो शेष केवल 'परम' विशेषण ही रह जाएगा, अन्य कुछ नहीं रहेगा। महावीर को आत्मा में लीन करने वाला स्वयं उनका आत्म-विश्वास ही था। उस आत्मा के अनन्त अन्तस्तल से ही अहिंसा और सत्य की जो ज्योति उन्हें उपलब्ध हुई थी वही उनके धर्म-प्रचार का मूल सिद्धान्त बन गई।

महावीर ने 'सत्य' को ही इस धरती का भगवान कहा है और अहिंसा को इस विश्व की भगवती के रूप में स्वीकार किया है। अमर-पद को प्राप्त करने की यदि कोई पगडंडी है तो वह अहिंसा और सत्य की साधना ही है और यही इस दुनिया में शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने का राजमार्ग है। महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "जो व्यक्ति ईश्वर को तो मानता हो, जीवन में अहिंसा और सत्य की अवहेलना करता हो ऐसे व्यक्ति से इस जगत का कुछ भी हित नहीं हो सकता। कोरे ईश्वरवाद से इस दुनिया का कुछ भी भला होने वाला नहीं है। उसके साथ जीवन में अहिंसा और सत्य की प्रतिष्ठा भी तो होनी चाहिये। यदि जीवन में सत्य आ गया तो फिर ईश्वर जीवन से बाहर नहीं रह सकता। महावीर का विश्वास यह है कि केवल ईश्वर का विश्वास जीवन में सत्य नहीं ला सकता, किन्तु सत्य का विश्वास अवश्य ही ईश्वर को जीवन में उतार सकता है, अर्थात् सत्य-पथ का पथिक अवश्य ही परमात्मा तक पहुंच जाता है। महावीर की अहिंसा और उनके विराट् सत्य का आधार केवल परमात्मा नहीं, बल्कि इस पिण्ड में प्रतिष्ठित आत्मा है। भगवान महावीर का यह 'आत्म-वाद' जीवन के सार्वभौम सिद्धांतों पर आधारित है, उसे समझने के लिये कुछ निम्न सूत्रों पर चिन्तन करना होगा। महावीर ने फरमाया—

१. आत्मा है, वह प्रत्येक शरीर में अवस्थित है। उसका मूल स्वरूप है सत् चित् तथा आनन्द।
२. जैसी आत्मा मेरे में है, वैसी आत्मा दूसरे प्राणियों में भी है।
३. प्रत्येक आत्मा को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है।
४. जैसे मैं सुख चाहता हूं, ऐसे ही दूसरे भी सुख चाहते हैं।
५. जैसे मैं दुःख नहीं चाहता ऐसे ही कोई भी दुःख नहीं चाहता।
६. जैसे आप अपने सुख के लिए प्रयत्न करते हैं ऐसे ही दूसरों को सुख देने के लिए भी प्रयत्नशील रहो।
७. जैसे आप अपने दुःख दूर करने के लिए सचेष्ट होते हैं, उसी तरह सत्य में प्रतिष्ठित होकर दूसरों के दुःख भी दूर करो।

भगवान महावीर का आत्मवाद संक्षेप से इन सात सूत्रों में समाविष्ट हो जाता है और यही आत्मवाद महावीर के "अहिंसा परमो धर्मः" तथा उनके "जिओ और जीने दो" के उद्घोष का मूल-मन्त्र है।

भगवान श्री कृष्ण का निष्काम कर्म-योग भी महावीर के आत्म-वाद का ही एक अङ्ग है, क्योंकि गीता में अर्जुन को कर्मयोग का पाठ पढ़ाने से पूर्व शाश्वत एवं सार्वभौम आत्मा का स्वरूप अच्छी तरह समझाया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि सच्चा आत्मवादी ही कर्मभूमि में कर्मयोग की साधना कर सकता है। भगवान महावीर निवृत्ति-मार्ग के पथिक थे, इसलिए आत्मस्थ योगी को कर्म-योगी तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु कर्मयोग को आत्मवाद एवं अहिंसा से बिल्कुल अलग भी नहीं किया जा सकता। वह भी अहिंसा की ही एक व्यावहारिक साधना है।

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की जीवन-मर्यादाओं को भी अहिंसा तथा सत्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। भगवान राम भी अहिंसा और सत्य की मूर्ति थे। इसीलिये उनकी मर्यादाएं भी इतनी महान् थीं। भगवान महावीर और भगवान राम की मर्यादाएं पृथक् होने पर भी दोनों का केन्द्र-विन्दु तो आत्मा ही है, सत्य ही है। भगवान बुद्ध को

अनीश्वर वादी तो कहा गया है, किन्तु उन्हें अनात्मवादी नहीं कहा गया। यह सत्य है कि उन्होंने भगवान महावीर की तरह आत्मा को एक शाश्वत सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया, किन्तु अपने क्षणिक-वाद के आधार पर उन्होंने आत्मा का कुछ विवेचन तो किया ही है। आत्मा को माने बिना कोई भी व्यक्ति अहिंसा की बात नहीं कर सकता। भगवान बुद्ध की अहिंसा का माध्यम भी भगवान महावीर के सूक्ष्म अहिंसावाद का एक अवयव ही है।

इस प्रकार जीवन तथा जगत के अभ्युदय में हेतुभूत जितने भी "आस्तिक-वाद" हैं उन सबका समावेश एक मात्र भगवान महावीर के 'आत्मवाद' में हो जाता है।

भगवान महावीर के 'आत्मवाद' को विश्व के सभी आस्तिक-वादों का प्रतिनिधि वाद कहा जा सकता है।

मेरे चिन्तन-चक्षु भगवान महावीर को अति अहिंसावादी तथा अति आत्मवादी के रूप में ही देखते हैं और यही अलङ्करण भगवान महावीर के लिये अत्युपयुक्त है। उनका यह आत्मवाद संकीर्ण नहीं है, बल्कि अति विराट् है। महावीर की अहिंसा का विराट् रूप इसी सार्वभौम आत्मवाद के चित्र-पटल पर ही देखा जा सकता है। जो छवि उस पट पर नजर आए बस वह ही छवि महावीर की है। अहिंसा के दर्पण में यदि महावीर आत्मवादी हैं तो आत्मा के दर्पण में भी भगवान महावीर अहिंसावादी ही हैं तथा अहिंसा और आत्मवाद के विमल दर्पण में जो तस्वीर नजर आए बस वही 'महावीर' है—भगवान महावीर है, वही है त्रिशला-नन्दन वर्धमान महावीर।



अरिहन्त मार्ग के भूले राही

०

आज के इस भौतिक युग में वैसे तो सर्वत्र ही धर्म, संस्कृति तथा उसके शाश्वत सिद्धान्तों की न्यूनाधिक रूप में उपेक्षा की जा रही है, किन्तु यह स्थिति उस समय और भी अधिक विकट रूप ले लेती है, जब कि शाश्वत सत्य की खोज में घर-बार छोड़कर निकलने वाला त्यागी वर्ग मोहावरण से आवृत होकर अपने लिए पुनः सुविधावाद के द्वार खोलने के लिए प्रयत्न करने लगता है, ऐसी स्थिति में वह जीवन के चिरन्तन तत्वों की अवहेलना करता हुआ अपने जीवन-लक्ष्य से विमुख होकर अपने साधना-पथ पर भी लड़खड़ाने लग जाता है ।

जीव पर मोहनीय कर्म का प्रभाव जितना अधिक होता है उतना ही वह भौतिक सुखों की ओर आकर्षित होकर भौतिक जगत में जुड़ जाता है । सत-युग में भी प्राणी भौतिकता के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं होते ।

जैन-धर्म के अनुसार तृतीय तथा चतुर्थ युग का काल जिसे हम मोक्ष की उपलब्धि के अनुकूल एवं योग्य समझते हैं हम देखते हैं कि उस समय भी ऐसे विचारक थे जो श्रमण-धर्म की कठोर चर्या को छोड़ कर मन-माने ढंग से चलने लगे थे । यहां गोशालक का नाम इस सन्दर्भ में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

भगवान महावीर के साधना-काल में यह साधक उनके साथ रहा, किन्तु आत्म-बल द्वारा अर्जित आत्म-संयम के जिस शिखर पर महावीर आरोहण कर चुके थे, उस भूमिका पर वह न पहुंच सका । महावीर

जिन कष्टों दुःखों एवं परीषहों को हंस-हंस कर झेल लेते थे, गोशालक उनके आगे सदैव पराजित होता रहा, अतः एक दिन वह उनको छोड़ कर चला ही गया।

इसके पश्चात् उसने अपने खोखले सिद्धान्तों के आधार पर आजीवक मत के नाम से एक नये पन्थ की स्थापना की और अपने आपको 'जिन' घोषित कर दिया। आज उस स्वयंभू जिन का वह मत इस धरती से लुप्त हो चुका है। उसका कोई नामलेवा अनुयायी भी नजर नहीं आता। जिसका अन्तरंग सत्य, संयम और तप की अवहेलना करता है उस का आदर इस दुनिया में कोई समझदार व्यक्ति कभी नहीं करता। जब 'चतुर्थ आरक' जैसे सुकाल में धर्म, संस्कृति और दर्शन के धरातल पर मिथ्यावाद के विस्फोट होते रहते थे तो आज के इस पंचम काल में जिसे कलिकाल कहा जाता है उसमें यदि कोई मिथ्या तर्क दे-देकर मिथ्यात्व का पोषण करे तो कोई भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि भौतिकवाद का प्रभाव उस युग की अपेक्षा इस युग में कहीं अधिक है।

जैन दृष्टि के अनुसार वह प्राचीन युग प्रज्ञा और ऋजुता का माना जाता है और यह युग तो वक्रता और जड़ता का ही है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि पहले सभी लोग प्रज्ञावान् और सरल होते थे और आज सभी वक्र और जड़ एवं मूढ़ ही हैं। जैन शास्त्रों का यह कथन बहुलता की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। जहां अधिकांश लोग प्रज्ञाशील एवं भावुक मनवाले होते हैं, वहां कुछ लोग मूढ़ तथा कुटिल हृदय के भी रहते हैं और जिस युग में बहुसंख्यक लोग जड़त्व तथा वक्रता के दोष से ग्रसित होते हैं, वहां कुछ ऐसे भी जीवन मिलते हैं जो अत्यन्त मेधावी, विवेकशील तथा दूरदर्शिता के गुण से सम्पन्न होते हैं। उनके चिन्तन, व्यवहार तथा कर्म में सरलता का सौरभ ही सौरभ भरा रहता है, आध्यात्मिक जगत में कोरी प्रज्ञा का कुछ भी मूल्य नहीं, वहाँ यदि वैशिष्ट्य है तो वह साधक के मन के सारल्य का ही है, सरल व्यक्ति ही चारित्र को धारण करके उसका निर्दोष रूप से पालन कर सकता है। चारित्र का धारण कर लेना जितना सरल है उतना उसका शुद्ध मन से पालन करना सरल नहीं होता।

आज के इस भौतिक युग में जब कि चारों ओर वासना का ताण्डव नृत्य हो रहा है और सर्वत्र विषय-वर्धक साधनों का बाहुल्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चित्ताकर्षक एवं मनमोहक वातावरण की सृष्टि कर रहा है तो ऐसी स्थिति में आत्म-साधक पुरुषों के लिए अपने संयम की साधना करना तो और भी अधिक कठिन हो जाता है। सहायक वातावरण में संयम को पुष्टि मिलती है और संयम को क्षति पहुंचने एवं उसकी हानि होने की सम्भावना होती है बाधक तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में। आज यह भौतिकता प्रधान-कलियुग है जिसे जैन-धर्म में "पंचम आरक" कहा गया है इसमें संयम के लिए साधक तत्त्व कम हैं और बाधक तत्त्व अत्यधिक हैं। इसलिए इस दोषपूर्ण वातावरण में साधक के लिये अपने संयमी जीवन के मूल-भूत व्रतों की आराधना के लिए अपनी मर्यादाओं को कसने एवं कड़ा करने की आवश्यकता है न कि उसे और भी ढीला करने की।

यह प्रश्न उन साधकों के लिए अवश्य महत्वपूर्ण है जो आत्मार्थी हैं और जीवन-साधना के सर्वोच्च लक्ष्य आत्म-शान्ति एवं मोक्ष को दृष्टि में रख कर त्याग-मार्ग के पथिक बने हैं।

जो आत्म-तत्व को जानता है और उसके लिये ही समर्पित है उसे ही आत्मार्थी कहा जाता है। जो व्यक्ति आत्मा का ज्ञान रखते हुए भी बाह्य जगत् की लौकिक उपलब्धियों में आसक्त है और उस आसक्ति के कारण लोकैषणाओं के अर्जन में ही जीवन भर लगा रहता है, जो ऐश्वर्यमय वैभवपूर्ण की वाह-वाह पाकर अहं में चूर हो रहा है, वस्तुतः वह सुखार्थी अरिहन्त-मार्ग का एक भटका हुआ राही है।

इस पर भी एक अन्य आश्चर्य यह है कि वह व्यक्ति स्वयं पथ-भूल कर भी दूसरों को मार्ग दिखाता रहता है और अपने मार्ग के सम्यक् होने का आग्रह भी उसके अन्तरंग में सतत बना रहता है। हालांकि सत्य तथा यथार्थ तो यह है कि जैन साधना का लक्ष्य 'अरिहन्तत्व" के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मान-सम्मान तथा पूजा-प्रतिष्ठा आदि उपलब्धियां तो प्रत्येक छोटे-बड़े साधक को मिल जाती हैं

और साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होते ही वे उपलब्धियां जीवन में स्वतः आने लगती हैं जो सामाजिक जीवन में आवश्यक समझी जाती हैं, क्योंकि सामाजिक जीवन में व्यक्ति के व्यक्तित्व को नापने का यही एक मीटर है। कभी-कभी तो वे जीवन को चारों ओर से बुरी तरह से घेर लेती हैं और साधक महत्वाकांक्षाओं के इस बीहड़ वन में मार्ग भी भूल जाता है।

दूसरों को भूल बताना जितना सरल है उतना स्वयं अपनी भूल को समझना और समझ कर स्वीकार करना कोई सरल काम नहीं है, इसके लिए व्यक्ति का सम्यक्-दृष्टि होना तो आवश्यक है, ही इसके साथ-साथ हृदय से सरल होना भी आवश्यक है। शास्त्रों के अनुसार **"सो ही उज्जुय भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ"** अर्थात् धैर्य शुद्ध हृदय में ही ठहरता है और ऋजु-भूत व्यक्ति का हृदय ही शुद्ध कहा जाता है।

भगवान ऋषभदेव के समय का साधक ऋजु होने के कारण ही सत्य को सहज भाव से स्वीकार कर लेता था। आज का साधक शिक्षित एवं तर्कशील ही है, किन्तु अपनी वक्रताओं के कारण वह कदाग्रही भी है। वह सत्य को जल्दी से स्वीकार नहीं करता, वल्कि अपनी ही बात का झूठा आग्रह करता रहता है और कभी-कभी इस मिथ्या आग्रह के कारण वह साधना को मौलिकता को भी चुनौती देने की धृष्टता कर बैठता है। जिन मर्यादाओं में महाव्रतों का गुलाव विकसित होकर सुरक्षित रहता है, उन आवश्यक एवं उपयोगी सीमा-रेखाओं को तोड़ने का अर्थ है व्रतों के प्रति अनास्था और संयम के गुलाब की असुरक्षा। जिसने आत्मा के अभ्युदय के लिये ही संयम ग्रहण किया है वह आत्मार्थी अपने साधनामय जीवन के प्रति सदा आस्थावान् होकर रहता है, परन्तु जो वाह्य सुखासक्ति में पड़ कर कोरा सुखार्थी बन जाता है वह अपने संयम के प्रति अपनी निष्ठा खो बैठता है, क्योंकि संयम की कठिन मर्यादाओं में रह कर उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए वह संयम को शथिल्य देने के लिए नये-नये तर्क देता रहता है और नई-नई धारणायें बनाता रहता है और दुनिया में नारा लगाता है, क्रान्ति, परिवर्तन और प्रचार

का। वस्तुतः वह अपने आत्मिक दौर्बल्य पर आवरण डालने का एक चातुर्यपूर्ण प्रयास ही करता है, अन्य कुछ नहीं।

श्रमण-संस्कृति के अन्तरङ्ग में उतरने के बाद प्रत्येक चिन्तक इस तथ्य तक पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि जैन संस्कृति वह संस्कृति है जो जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य 'निर्वाण' के लिए सारे जगत को समान भाव से आत्म-साधना का मार्ग प्रदान करती है। जैन धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं, बल्कि वह आत्मा के सम्बन्ध में ठीक दिशा देने वाला एक सम्यक् चिन्तन है, एक उज्ज्वल दृष्टि रूप है। सत्यासत्य के विवेक को ही जैनधर्म में दर्शन कहा गया है। सम्यक्त्व या समकित इसी के पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। मोहनीय कर्म के उदय से वह ज्ञान असत् रूप में परिणत होकर भी सत् रूप में प्रतीत होता है और यही ज्ञान सम्यक्-दर्शन होने पर सम्यक् रूप में आ कर सम्यक् ज्ञान बन जाता है। स्मरण रहे कि श्रद्धा कभी भी सम्यक् दर्शन से अलग नहीं होती, क्योंकि सत्य के विश्वास को ही सम्यक् दर्शन कहा जाता है और इसी का दूसरा नाम श्रद्धा या श्रद्धान है। यह श्रद्धा साधक को चारित्र की ओर मोड़कर उसमें उनके मन को स्थिर करती है।

जैनधर्म में चरित्र शुभाशुभ का निवर्तक माना गया है. इसलिए वह आश्रव का निरोधक तथा संवर का जनक कहा जाता है। साधक के जीवन का प्रथम चारित्र सामायिक चारित्र कहा जाता है। इस सामायिक की आजीवन साधना साधक को रागद्वेष की ग्रन्थियों से परिमुक्त कर के उसे परिपूर्ण तत्त्व तक ले जाती है। पांच महाव्रतों का ग्रहण जीवन में इस सामायिक चारित्र के लिये ही किया जाता है। महाव्रती साधक ही बाह्य जगत के ममत्व से अलग रह कर धीरे-धीरे जीवन के द्वन्द्वों पर विजय पाने में सक्षम होता है। जैनधर्म में मोक्ष-मार्ग का पूर्ण साधक यदि कोई है तो वह केवल साधु है, महाव्रत ही उसके जीवन का सर्वस्व हैं और साधु ही इस साधना-धन को सुरक्षित रख सकता है। केवल मर्यादाओं के सुदृढ़ कोट में और नियमों की मजबूत मंजूषा में।

मैं यह नहीं कहता कि प्रत्येक साधक अपनी मर्यादाओं का सोलह आने पालन करता है या जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा हर एक परिस्थिति में अपने नियमों में पूरा उतर सकता है। यह तो अपनी-अपनी आस्था-श्रद्धा एवं अपने-अपने निश्चय पर अवलम्बित करता है कि कौन किस समय कितना पक्का या दृढ़ रहता है, किन्तु एक बात अवश्य है कि वातावरण, संस्कार तथा संग-दोष के कारण व्यक्ति के साधना जगत में एक भूकम्प सा आ जाता है और फलस्वरूप वह अपनी मर्यादाओं को ढीला करने लगता है और कभी-कभी तो वह शैथिल्य नियमों की पूर्णतया अवहेलना करता हुआ इतना उग्र रूप ले लेता है कि वह मूलव्रतों के लिये भी एक खतरा बन जाता है। जब साधक पूजा और प्रतिष्ठा के लिए ही अपने आपको समर्पित कर देता है और आराम सुख और चैन से जीवन व्यतीत करना ही जब उसके जीवन का मुख्य लक्ष्य बन जाता है ऐसी स्थिति में वह महाव्रतों के प्रति उदासीन होकर अपने बाहरी नियमों की भी अपेक्षा करने लगता है। भले ही ऐसे साधक को आप किसी भी मार्ग का साधक कहें, किन्तु उस मानवात्मा को अर्हत्-मार्ग का साधक तो कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्हत्-जगत का साधक निश्चय और व्यवहार रूपी साधना के दोनों पक्षों के सहारे साधना के आकाश में उन्मुक्त विहार करता हुआ अपने ध्येय तक पहुचने का प्रयत्न करता। जीवन का कोई भी लौकिक लक्ष्य उसकी आंखों के सामने नहीं रहता। सामाजिक जीवन में उसे जो विभिन्न पदों और उपाधियों से विभूषित किया जाता है, आत्मा का सच्चा साधक उसे अपने पुण्योदय का फल मान कर उसके प्रति अनासक्त रहता हुआ अपने आत्म-विकास के पथ पर अहिंसा संयम और तप की साधना करता हुआ निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर गतिशील रहता है। यदि कभी समाज की ओर से उसे योग्य समझ कर उस के कन्धे पर कोई दायित्व डाला भी जाता है तो वह निस्वार्थ भाव से सर्वत्र आत्मस्थित रह कर अपनी उस जिम्मेदारी को निभाता है। उसे शासक होने का न अहं ही सताता है और न शासित के प्रति उसकी हीन भावना ही होती है। आत्म-विजय का लक्ष्य रखने वाला

कोई भी साधक अपनी आत्मा के अतिरिक्त किसी पर भी शासन नहीं करता ।

वैसे छद्मस्थ अवस्था में कोई भी साधक सर्वथा राग-द्वेष से मुक्त तो नहीं हो सकता, किन्तु फिर भी उसके अन्तरङ्ग में कषायों का इतना तीव्र एवं प्रबल उदय नहीं होता जिससे उसका साम्यभाव क्षतिग्रस्त होकर ध्वस्त हो जाये। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समदृष्टि रह कर समभाव की साधना करता हुआ सिद्धत्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस प्रकार अरिहन्त मार्ग के महाव्रती साधक के लौकिक कर्त्तव्य एवं दायित्व भी उसकी तप-साधना के अभिन्न अंग ही बन जाते हैं जो लौकिक होकर भी लोकोत्तर ही माने जाते हैं।

इसीलिए मैंने ऊपर लिखा है कि अर्हत्-मार्ग के प्रत्येक पथिक के जीवन का प्रत्येक लक्ष्य लोकोत्तर ही हुआ करता है, ऐहिक एवं लौकिक नहीं।

इसके साथ-साथ इस तथ्य को भी कभी भूलना नहीं चाहिए कि अलौकिक ध्येय की उपलब्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों की रक्षा से ही हो सकती है। शुद्ध व्यवहार निश्चित रूप से निश्चय को पुष्ट करता है और निश्चय बाह्य व्यवहार को प्रभावक बनाता है। इस तरह द्रव्य तथा भाव ये दोनों ही एक दूसरे के सहायक एवं पोषक बन कर साधक की साधना को निर्दोष रख कर उसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए सक्षम बना देते हैं। इन दोनों में कोई भी पक्ष हेय नहीं है।

मैंने जो ऊपर निवेदन किया है इसके सम्बन्ध में कुछ ऐसा भी कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि साधक महाव्रतों की धरती पर तो डावांडोल रहता है, किन्तु बाहरी क्रियाओं को वह बहुत कड़ा करके रखता है, उसके अन्तरङ्ग में दम्भ और माया का साम्राज्य रहता है और बाहर से मर्यादाओं के पालने का केवल एक दिखावा किया जाता है। इससे साधक को समाज में चारित्र-चूड़ामणि, संयम-मूर्ति तथा महान् क्रिया-पात्र आदि उपाधियों से भी अलंकृत कर दिया जाता है, क्या यह समाज के लिए शोचनीय नहीं

है? क्या आप इसे जैनधर्म के मोक्ष-मार्ग की सम्यक् साधना कहेंगे?

इसका उत्तर केवल इतना ही है—मैं तो क्या कोई भी बुद्धिमान् इसे सम्यक् नहीं कह सकता। सम्यक्त्व तो वहां रहता है जहां सारल्य हो, जीवन में स्पष्टता हो। मायावी की प्रत्येक चर्या तो मिथ्या ही होती है। उससे न उसका अपना कुछ भला होता है और न ही उसके दम्भाचरण से समाज का ही कुछ हित हो पाता है। हां, स्व-पर की हानि अवश्य होती है। उसका संयम केवल उसके स्वार्थ का ही एक मोहक साधन होता है न कि परमार्थ का, जो स्वयं कर्म-बन्ध दुर्गति तथा अपनी आत्मा के पतन से नहीं डरता, वह ऊंचे-ऊंचे उपदेश देकर तथा अच्छे-अच्छे सूक्त बोल कर भी जन-मानस को मुक्ति सद्गति तथा आत्मोदय के सन्मार्ग की प्रेरणा कैसे दे सकता है? कपटशील तथा दम्भी साधक की उत्तम लेख-पंक्तियां भी किसी का उद्धार व सुधार नहीं कर सकतीं, क्योंकि जिस जीवन-स्थली में माया का विकार अन्तःकरण का प्रबल संस्कार बन चुका हो, वहां उद्धार एवं सुधार का तो प्रश्न हीनहीं उठता, वह सदा ही आलोचना का पात्र बना रहता है। वह अपने जीवन का गलत उदाहरण प्रस्तुत करके समाज को नुकसान पहुंचाता है, क्योंकि बन्द घड़ी की अपेक्षा गलत टाइम देने वाली घड़ी अधिक गड़बड़ करती है।

इसी प्रसंग के अन्तर्गत शायद कोई उग्रवादी ऐसा भी कहने लगे कि दम्भयुक्त जीवन से क्या वह साधक श्रेष्ठ नहीं जो बाहरी क्रियाओं के चक्र में न पड़ कर सदा अपनी आत्मा में स्थित रह कर योग-साधना में रत रहता है? इस तरह वह अपनी आत्मा का विकास भी करता है और बन्धन-मुक्त हो स्वतन्त्र विचरण करता हुआ दुनिया का अधिक से अधिक भला भी करता है? मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इसका उत्तर इतना ही है कि जो साधक आत्मस्थित हो गया है भला उसे मर्यादा में रहने में क्या कठिनाई हो सकती है? उसके लिये तो कठोर से कठोर विधान का पालन करना भी मुश्किल नहीं होता।

वास्तव में सच्चाई तो यह है कि मर्यादा की कंटीली वाड़ को

वही तोड़ता है जो आत्मा में स्थित नहीं होता। फिर इसके साथ दूसरी बात यह भी है कि हमारे पास इसका प्रमाण ही क्या है कि वह आत्मा में स्थित है या कहीं दूसरे केन्द्र में स्थित है? निश्चय का प्रमाण व्यवहार ही होता है। इस तरह मर्यादा व्यावहारिक जगत् की सैद्धान्तिक आवश्यकता है जो किसी भी दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है।

इसमें तर्क उठाया जा सकता है कि क्या छलपूर्ण व्यवहार शुद्धाचार का प्रमाण बन सकता है? उत्तर स्पष्ट है कि बिल्कुल नहीं, किन्तु इस सम्बन्ध में यह कभी भी भूलना नहीं चाहिये कि छल भरा व्यवहार करने में कोई कितना भी चतुर क्यों न हो, उसका अन्तरङ्ग एक न एक दिन बाहर आ ही जाता है। जो अन्दर से खोखला होता है, उसके मर्यादा-सूत्र भी ढीले होने लगते हैं और एक दिन वह छलांग लगाकर अपने नियमों के कोट से बाहर आ जाता है।

नग्न सत्य तो यह है कि अध्यात्म - साधना के दो ही आधार-स्तम्भ हैं—अनासक्ति और श्रद्धा। जब ये दोनों गिर जाते हैं तो साधक के जीवन में न कोई व्रत रह जाता है और न ही रहता है कोई नियम, फिर भी बाह्य मर्यादाओं में टिके रहने से साधक धीरे-धीरे अपनी निर्बलताओं पर विजय पा कर अपने व्रतों में पुनः खड़ा होने में सफल हो जाता है। मोहनीय कर्म का जोर कम होने पर वह साधक एक सच्चा साधु बन कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो कर जीवन के उच्चतम लक्ष्य को भी पा लेता है।

दुनिया में जितने भी सम्प्रदाय हैं उनके अपने-अपने सिद्धांत तो हैं ही, उनके अपने कुछ बाहरी नियम भी होते हैं। उस सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी को उन नियमों का पालन करना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह उस सम्प्रदाय का सदस्य नहीं रह सकता। एक छोटे से घर को चलाने के लिये भी उसकी मर्यादा का सन्मान करना पड़ता है और कभी-कभी कठोर अनुशासन भी रखना पड़ता है। ऐसा न करने पर घर की व्यवस्था बिगड़ जाती है और उस परिवार की उन्नति के द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं।

जब कोई सभा-सोसायटी या संस्था जीवन के उत्तम लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को लेकर खड़ी होती है तो उसके लिये एक नियमावली भी रहती है। यदि कोई कहे आपके उत्तम लक्ष्य और ध्येय तो ठीक हैं, किन्तु यह नियमावली किस लिये है? भला इसको क्या जरूरत है? उनको समझना चाहिए कि जीवन के पुनीत उद्देश्यों के लिये जीवन में पुनीत नियमों के भी पालन की आवश्यकता होती है। यह सारी सृष्टि ही नियम-बद्ध होकर चल रही है। उसके नियमों की अवहेलना का अर्थ है अपने लिये प्रलय का निमन्त्रण। प्रत्येक आत्म-साधक के लिये तथ्य उसके मर्यादित जीवन के लिये एक अत्युत्तम उद्‌बोधन हैं।

मैं यहां एक और बात को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं वह यह कि यदि कोई मर्यादाओं से ऊपर उठकर आत्म-ध्यान में स्थित होकर अपने आप को सर्व प्रकार से निर्दोष भी मान रहा है तो फिर भी यह एक अपवाद ही कहा जायेगा। अपवाद सदैव वैयक्तिक होता है। वह जीवन का उत्सर्ग-मार्ग अर्थात् सब प्रकार के छोटे-बड़े साधकों के लिये अनुकरणीय नहीं बन सकता। जो साधक सम्प्रदाय विशेष की बाह्य मर्यादाओं तथा उसके ऊपर के व्यवहारों की महत्ता को नहीं मानता, भला वह उस सम्प्रदाय के विशिष्ट प्रकार के वेश से इतना अनुराग क्यों रख रहा है? वह भी तो आखिर बाहर का एक व्यवहार ही है। स्थिति स्पष्ट है कि वह अन्दर से जानता है कि वेश को छोड़ देने से तो सारा खेल ही समाप्त हो जायेगा और फिर यह वाह-वाह और रोम-रोम पुलका देने वाली प्रशस्तियां उसे नहीं मिल पायेंगी।

साधक के जीवन में उसके आचार को सुरक्षित रखने वाली मर्यादाएं प्रचार में सहायक ही होती हैं, बाधक नहीं।

प्रचारक और उपदेशक—

श्रमण-संस्कृति का निर्ग्रन्थ साधक क्या आत्मा का साधक है? या कि यह कोरा प्रचारक ही है? इस सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व हम सब से पहले प्रचारक तथा उपदेशक के विषय पर थोड़ा चिन्तन कर लें तो अधिक अच्छा रहेगा।

प्रचारक शब्द विशेष कठिन तो नहीं है, इस साधारण से शब्द का साधारण सा अर्थ एक साधारण व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकता है। मैं प्रत्येक उस व्यक्ति को प्रचारक समझता हूं जो अपने विचारों को अत्यन्त कुशलता से अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचाने का प्रयत्न करता है, प्रचारक जिन विचारों को दूसरों तक पहुंचाता है उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं भी उन विचारों से सहमत हो या स्वयं उन विचारों का आचार के रूप में पालन भी करता हो। वह वैतनिक भी हो सकता है और स्वयं-सेवक के रूप में अवैतनिक भी हो सकता है। काम और अर्थ के क्षेत्रों में जितने भी प्रचारक हैं वे सब लौकिक प्रचारक आप के सम्पर्क में समय-समय पर आते ही रहते हैं।

विविध संस्थाओं एवं सभाओं के प्रचारक उनके विचारों का प्रचार करने के लिए प्रायः सभी क्षेत्रों में जाते हैं और अक्षेत्रों में पहुंचने का भी प्रयत्न करते हैं। अपने आचार-विचार पर स्वयं नियन्त्रण रख कर अपने जीवन को स्वच्छ रखना है या अपने को मलिन बनाना है? यह स्वयं उनको सोचना होता है? किन्तु उनके लिए संस्था की ओर से कोई विधि-निषेध परक विशिष्ट आचार-संहिता नहीं रहती। संस्था उन प्रचारकों से इतनी अपेक्षा अवश्य रखती है कि वे अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति जागरूक और संस्था के प्रति वफादार और ईमानदार बन कर रहें। वे ऐसा कोई काम न करें जिससे संस्था के गौरव को धक्का लगे और उसे हानि का सामना करना पड़े। उसके हित तथा लाभ का ध्यान रख कर वे अपने कर्त्तव्य का पालन करें। हर सभा तथा हर एक संस्थान अपने मिशन के प्रचारकों से इतनी आशा अवश्य रखता है। जीवन के अन्यान्य कार्य-क्षेत्रों में वे प्रचारक अपने भले-बुरे के स्वयं जिम्मेदार होते हैं।

यह तो बात हुई अर्थ और काम एवं अर्थ-मूलक मिशन के प्रचारकों की, किन्तु एक बात कभी भूलनी नहीं चाहिए कि अर्थ और काम धर्म के बिना केवल अनर्थ का ही कारण बन जाते हैं। इसलिए जीवन और जगत के लौकिक कर्म-क्षेत्रों में धर्म-प्रचार की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। काम और अर्थ आखिर हृदय के संस्कारों से ही प्रेरित

होते हैं, यदि मनुष्य की भावनाओं में पवित्रता न हो तो मनुष्य के व्यवहार कभी भी सात्विक नहीं रह सकते। पवित्र भावनाओं के बिना जीवन अन्याय तथा शोषण की क्रीड़ा-स्थली बन जाता है।

मनुष्य जीवन भर व्यर्थ के संघर्षों में उलझा रहता है। न वह स्वयं सुख से रहता है और न दूसरों को सुख से रहने देता है। फलस्वरूप उसका जीवन एक नरक का रूप ले लेता है। इस नरक को स्वर्ग में बदलने वाला यदि कोई शाश्वत तत्त्व है तो धर्म ही है। धर्म मानव को अर्थ और काम की क्षणिकता एवं नश्वरता समझा कर उसके जीवन में शाश्वत आत्म-सत्य तथा सच्ची आत्म-शान्ति के महत्त्व की प्रतिष्ठा करता है। आत्मा, सत्य और आत्मिक सुख का महत्त्व समझ में आ जाने के बाद व्यक्ति क्षणिक सुखों के पीछे पागल बनकर दौड़ना बन्द कर देता है। वह अपने अन्तरङ्ग में सीमित होने लगता है। यह सीमा उसके जीवन के अर्थ और काम की मर्यादा बनकर उसे सन्तोष की ओर मोड़ती है। सन्तोष व्यक्ति को अन्याय और शोषण से निवृत्त कर देता है। इस तरह उसका अन्तरङ्ग मैत्री, करुणा, उपकार तथा सहयोग का अमृत-कलश बन जाता है। ऐसे मंगलमय सर्व-हितकारी अहिंसा, संयम और तपमय धर्म की त्रिवेणी प्रवाहित करने के लिए धर्म-प्रचारकों की बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है। मैं इस तथ्य को शत-प्रतिशत स्वीकार करता हूं।

इस तथ्य से आगे बढ़ कर एक और सच्चाई को भी स्वीकार करना होगा कि धर्म-प्रचारकों की अपेक्षा जीवन में धर्म के संस्कारों की प्रतिष्ठा करने से सदाचारी धर्मोपदेशकों के धार्मिक उपदेश अधिक उपयोगी होते हैं और इससे आगे जाकर यदि हम सोचें तो इस से अधिक प्रभावक संयमशील, आचार-निष्ठ एवं तपस्वी महात्माओं के—निवृत्ति-मार्ग के महापथिक साधुओं के धर्म-सम्बन्धी उद्बोधन हुआ करते हैं।

इस धर्म के प्रचार और उपदेश के संदर्भ में धर्मावतारों, धर्म-तीर्थङ्करो का उल्लेख करना अप्रसांगिक न होगा? क्योंकि आज इस

पंचम युग में उन धर्म-संस्थापकों एवं धर्म-प्रवर्द्धकों की जीती-जागती मूर्तियां हमारी भाग्य-हीन आंखों के लिए दुर्लभ बन चुकी हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में इतना तो अवश्य कहना पड़ेगा कि अपनी विराट् धर्म-सभाओं में जिन्हें शास्त्रीय भाषा में "समवसरण" कहा जाता है, दिए हुए धर्मोपदेश सर्वाधिक प्रभाव-सम्पन्न होते हैं। उसकी वे धर्म-देशनाएं लोक-मानस में धर्म की स्थापना करने में अत्यन्त शक्ति-शालिनी हैं। कोई व्यक्ति अपने मोहनीय कर्म के उदय से भले ही मिथ्यात्व तथा अश्रद्धा से ग्रसित होने के कारण उनके पीयूष-वचनों से वञ्चित रह जाये, किन्तु जो सदा चरण से युक्त होकर श्रद्धामय हृदय लेकर उनके चरण-सरोजों में बैठता है, वह अपनी योग्यता के अनुसार निस्सन्देह सत्य के प्रति निष्ठावान् बन कर ही वहां से उठता है। तीर्थङ्करों की धर्म-वाणी चिरन्तन ध्रुव, शाश्वत और अखण्ड सत्य का उद्घाटन करने में अचूक होती है।

ऐसे तीर्थङ्कर अब इस धरती पर नहीं हैं, किन्तु प्रचारक, उपदेशक तथा धर्माचार के प्रेरक आचारवान् साधु तो हमारे सामने अवश्य हैं, जो कि अलग-अलग भूमिकाओं के साधक हैं। इन्हें एक ही श्रेणि के साधक नहीं समझना चाहिए। इन तीनों में मौलिक अन्तर क्या है? जरा इस पर थोड़ा संक्षेप से विचार कर लें, फिर विस्तार में उतर कर इस पर चिन्तन करेंगे।

बात यह है कि प्रचारक तो केवल धर्म का प्रचार करता है, अपने विचारों को अधिक से अधिक जन-समुदाय तक पहुंचाने के प्रयत्न करता है, किन्तु दूसरों को उपदेश देने के लिए केवल शिक्षा, प्रतिभा तथा वाक्चातुर्य ही पर्याप्त नहीं होता, उसके लिए श्रेष्ठ आचार तथा निष्काम कर्मयोग की आवश्यकता भी रहती है।

दूसरे उपदेष्टा होते हैं संन्यासी लोग। वे गृहस्थ-जीवन से विरक्ति लेकर "सर्व-जनहिताय, सर्वजन-सुखाय" की भावना से बोलते हैं। स्वयं तप और त्याग की कठोर मर्यादाओं में सुरक्षित रहकर ही अपनी वाणी से उपदेश के अमृत-कण बिखेरते हैं। वे केवल प्रचार ही

नहीं करते. बल्कि उपदेश भी देते हैं। वे केवल उपदेश ही नहीं देते, बल्कि आचारनिष्ठ होकर सबको आचार-निष्ठ रहने की प्रेरणा भी देते हैं। उनका सन्देश अनुभूति के शिखरों से बहने वाला वह झरना होता है जो युग-युगान्तरों तक भी कभी सूखता नहीं। वह किसी न किसी रूप में इस धरातल पर प्रवाहित ही रहता है और किसी अन्य महापुरुष के उपदेश-प्रवाह में मिलकर आगे बढ़ता है। इस तरह वह सतत प्रवाहमान ही रहता है।

इसीलिए मैंने कहा था कि महात्माओं को सिर्फ प्रचारक और उपदेशक समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। वे तो संसार के तमसावृत हृदयों के लिए सर्वोच्च ज्योति-स्तम्भ के रूप में कोटि-कोटि लोगों के लिए श्रद्धा के केन्द्र माने जाते हैं, यदि हम इस विषय पर खुलकर चिन्तन कर लें तो अधिक लाभकारी रहेगा।

हमारे इस धर्म-प्रधान भारत देश में कितने ही मत तथा सम्प्रदाय हैं, वैसे धर्म एक होकर भी मत-मतान्तरों के घेरों में आकर वह अनेकविध हो गया है। हम देखते हैं कि हर सम्प्रदाय के अपने-अपने धर्म-प्रचारक हैं। केवल उन सम्प्रदायों के धर्म-सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए ही प्रचारक नहीं होते, बल्कि उन सम्प्रदायों द्वारा संचालित संस्थाओं के भी अलग-अलग प्रचारक होते हैं। समय-समय पर पाठशालाओं और गौशालाओं के प्रचारकों से आपको भेंट होती ही रहती है। देवालयों, औषधालयों, पुस्तकालयों और अनाथालयों के प्रचारकों से भी आप अनभिज्ञ नहीं हैं। इनके अतिरिक्त दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक प्रकाशनों के प्रचारकों से भी आप खूब परिचित हैं, ये सब महानुभाव हाथ में थैला लिए साधु-साध्वियों के माध्यम से प्राय: आप लोगों तक पहुंचते ही रहते हैं।

मैं समझता हूं कि प्रचारक प्रत्येक धर्म-संस्था की एक मौलिक आवश्यकता है। एक अच्छा प्रचारक अपने धर्म-प्रचार के महत्वपूर्ण दायित्व को कुशलता से निभाकर समाजिक जीवन के ऊंचे और पवित्र पक्ष की पूर्ति करके अपने जीवन के भी प्रेय एवं श्रेय इन उभयात्मक

लक्ष्यों की उपलब्धि करने में सफल होता है।

ये प्रचारक भी वैतनिक तथा अवैतनिक दोनों ही प्रकार के होते हैं। जिनके पीछे घर-गृहस्थी लगी हुई है वे यदि कुछ ले कर भी काम करें तो कोई अनुचित नहीं है। अनुचित तो केवल यह है कि अपने परिश्रम से अधिक लेना और फिर भी ठीक काम न करना। अपने कर्त्तव्य को भूल कर केवल धन के पीछे पागल हो कर भागने वाला प्रचारक जरूर कहीं दुराचार के कीचड़ में फंस जाता है और अपने मन पर भरोसा करने वाले समाज तथा संस्था के साथ विश्वास-घात करने का पाप भी अर्जित कर लेता है। कुछ ऐसे भी सज्जन होते हैं जो समाज से बहुत कम लेते हैं और उसे देते हैं बहुत अधिक। सेवा ही उनके जीवन का व्रत होता है। उनका खान-पान तथा रहन-सहन भी अत्यन्त सादा होता है।

इस से आगे जाकर यदि देखा जाए तो कुछ ऐसे त्यागी प्रचारक भी होते हैं जो स्वयंसेवक के रूप में धर्म-प्रचार का कार्य करते हैं, उन्हें न कुछ कमाने की चिन्ता होती है और न कुछ संग्रह करने की लालसा ही रहती है। अपने जीवन तथा परिवार को चलाने के लिए जितना अपेक्षित रहता है उतना वे अपने आञ्चल में देख कर और उसी से संतुष्ट होकर संतोष वृक्ष की शीतल छांह तले निश्चिन्त होकर बैठते हैं, केवल हाथ पर हाथ धर कर वे बैठे ही नहीं रहते, बल्कि समाज के लिए कुछ करते भी हैं। वे समाज को अपना जीवन अर्पित कर देते हैं। जगह-जगह घूम कर धर्म का उद्योत करते हैं, स्वयं आलोक के लोक में जीते हैं। दुनियां के पथ पर प्रकाश की किरणें बिखेरते हैं।

कुछ प्रचारक ऐसे भी त्यागी देखे गये हैं कि वे यात्रा - खर्च एवं अन्य खर्च का भार भी स्वयं वहन करते हैं। इतना मात्र बोझ भी वह समाज पर नहीं डालते, कभी-कभी तो धर्म के विशेष प्रसंगों पर समाज की दान-राशि में अपने पास से भी कुछ सिक्के डाल कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अपने सुख का उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं होता, धर्म-प्रचार को वे अपने जीवन का परम सुख, परम धर्म तथा परम

साधना समझ कर चलते हैं। सुबह हो या शाम, दिन हो या कि रात, ये हर समय धर्म-प्रचार के लिए तत्पर मिलेंगे। ऐसे आदर्श धर्म-प्रचारकों की निष्काम धर्म-साधना से समाज को तो अनुपम लाभ पहुंचता ही है, साथ में उनका अपना जीवन भी निर्मल एवं स्वच्छ रहता है और जीवन के अनमोल क्षणों का भी वे सदुपयोग कर लेते हैं।

मैं यह बात निश्चय से कहता हूं कि यदि **समाज के शिक्षित अवकाश प्राप्त और निवृत्त-जीवन जीने वाले लोग जैन-धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों में अच्छी तरह प्रवीण एवं कुशल होकर धर्म-प्रचार का बीड़ा उठाकर मैदान में आ जाएं तो वे साधुओं को अवश्य समझा सकते हैं कि आप को अपने महाव्रतों की होली जला कर तप और त्याग के उच्च आदर्शों से गिर कर प्रचार के क्षेत्र में कूदने की कोई आवश्यकता नहीं है, इस कार्य के लिए तो सद्गृहस्थ ही काफी हैं।**

जिन प्रचारकों के सम्बन्ध में मैं लिख रहा हूं वे धर्म का प्रचार तो करते ही हैं उसके साथ वे मानव-हृदयों में संस्कारों का बीजारोपण भी करते हैं। जिन प्रचारकों का जीवन प्रभावमय नहीं होता, उनका प्रचार भी प्रभावहीन ही होता है। वे दूसरे के मन के एक कण को भी प्रभावित नहीं कर सकते। यदि कहीं उनके मधुर कण्ठ तथा वाक्-पटुता का क्षणिक प्रभाव पड़ भी जाये तो फिर व्यवहार तथा आचार के सामने आने पर वह प्रभाव नष्ट हो जाता है। प्रचारक विचारों, सिद्धान्तों तथा अपने धार्मिक विश्वासों का केवल फैलाव ही करता है। हृदय की अपेक्षा वह मनुष्य की बुद्धि को अधिक स्पर्श करता है। उपदेश बौद्धिक ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए नहीं, बल्कि वह मनुष्य को सत्य की ओर मोड़ने के लिए दिया जाता है। इसलिए उपदेश देने का अधिकार सब को नहीं होता। उपदेश तो कोई त्यागी ही दे सकता है, एक प्रचारक तथा उपदेशक में भी जब अन्तर है तो फिर एक वीतराग-पथ के राही के समकक्ष किसी उपदेशक को कैसे रखा जा सकता है? कदापि नहीं।

●



धर्म-प्रचार का उद्देश्य और सच्चा स्वरूप



प्रचार से ही धर्मोद्योत होता है यह तथ्य है, इसमें कुछ भी असत्य नहीं है। प्रचार के सम्बन्ध में कुछ महानुभाव यह कहते हुए सुने जाते हैं कि "संयम की रक्षा के लिए उसके अनुकूल वातावरण बनाने की भी सदैव आवश्यकता रहती है। जो लोग धर्म-कर्म को ही नहीं मानते, वे संयमी पुरुषों के संयम में भी सहायक कैसे बन सकते हैं? आज जब कि चारों ओर वासना मुंह बाये खड़ी है, पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार जोर पकड़ रहा है, स्कूलों और कालेजों में जो पाठ्यक्रम आज पढ़ाये जा रहे हैं, उनमें मांस मछली और अण्डे आदि खाने की प्रेरणा दी जा रही है, आमिषाहार की श्रेष्ठता तथा उसके गुणों का बखान किया जा रहा है। इस प्रचार के कारण शाकाहार का महत्व छात्र-छात्राओं की दृष्टि में दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है, अतः उनके मन का झुकाव आमिषाहार की ओर बढ़ता जा रहा है।

वैसे तो यह समस्त धर्मशील भारतीय संस्कृतियों के लिए ही एक चिन्ता का विषय है, किन्तु अहिंसा-प्रधान जैन धर्म के लिए तो यह इस भौतिक युग की बहुत बड़ी चुनौती है। यदि अब भी हम धर्म-प्रचार के लिए नहीं चेतेंगे तो फिर कब चेतेंगे?

आज के इस भौतिकतावादी युग का मुकाबला करने के लिये

धर्म-प्रचार के एक व्यापक योजना-बद्ध अभियान की आवश्यकता क्या आप अनुभव नहीं कर रहे ? इधर हम त्याग के ऊंचे आदर्शों की बात करते नहीं थकते और दूसरी तरफ तो मूल ही हाथ से निकलता जा रहा है। समय की मांग है कि सिद्धान्तों की गहराई में न जा कर आने वाली नयी पीढ़ी के संस्कारों को सम्भाला जाये और उसे धर्म-परायण बनाने की दिशा में रचनात्मक काम किया जाये।

धर्म-प्रचार की वर्तमान आवश्यकता पर जो चिन्तन दिया जा रहा है, वह बिल्कुल संगत है और सराहनीय है। नयी पीढ़ी को धर्म-प्रिय बनाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। केवल त्याग के आदर्शों की बातें बनाकर नहीं, यह सत्य है। किन्तु देखना यह है कि धर्म-प्रचार के लिए कोई ठोस काम हो रहा है या केवल ख्यालों की दुनिया में ही हम घूमते रहते हैं। स्मरण रहे कि यह महत्वपूर्ण काम भी आचारवान् लोग ही कर सकते हैं। अपने मूल को गंवा कर दूसरों के मूल को कोई भी बचा नहीं सकता, अपने घर के दीप को बुझा कर दूसरे के घर में कोई भी रोशनी नहीं कर सकता, अपनी आंखों पर पट्टी बांध कर दूसरों को रास्ता कौन दिखा सकता है ? जो स्वयं लड़खड़ा रहा हो वह दूसरे की लाठी नहीं थाम सकता। प्रचार का महत्व अवश्य है, किन्तु आचार का महत्त्व तो जीवन में सर्वाधिक है। संसार की कोई भी मेधा तथा मनीषा इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकती।

पिछले एक-दो दशकों में कुछ महानुभाव आचार के शिखरों से उतर कर प्रचार के क्षेत्र में उतर आए हैं। धर्म-प्रचार के पावन लक्ष्यों को लेकर समय-समय पर बड़े-बड़े धर्म-सम्मेलनों का आयोजन भी होते रहे हैं, उन धर्म-सम्मेलनों में समाज की शक्ति, समय तथा धन का खुल कर प्रयोग भी हुआ है, किन्तु मैं पूछना चाहूंगा कि देश का कितना बड़ा भाग धार्मिक बन गया है ? देश में मांस का प्रचार घटा है या बढ़ा है ? नैतिकता के आदर्श गिरे हैं या कि ऊपर को उठे हैं ? देखने में आया है कि प्रायः इन सम्मेलनों का प्रभाव क्षणिक ही होता है। चार दिन की चर्चा अवश्य रहती है। उसके बाद लोग अपने लक्ष्य को भी भूल जाते हैं और अपने कर्त्तव्य को भी। हां, एक लाभ तो

होता है कि इन सम्मेलनों के प्रेरकों तथा आयोजकों का व्यक्तित्व अवश्य उभरता है।

मेरा यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं है कि ऐसे स्तर के आयोजन एकान्त निराशा के ही जनक होते हैं, ऐसी बात तो नहीं कही जा सकती, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जितने बोझिल ये आयोजन होते हैं, धर्म - प्रचार तथा प्रसार की दिशा में उतने मनोरम तथा मधुर फल इनके उपलब्ध नहीं होते। यदि लक्ष्यों के लिए समर्पण अधिक और व्यक्तित्व के प्रति आसक्ति कम हो तो इनके परिणाम समाज के लिए अवश्य हितकर हो सकते हैं।

समाज को संस्कारित करने का काम कोई सरल नहीं है। अपने समाज में कथनी के धनी बहुत हैं और भाषण-पटु तथा आयोजन-वीर भी कम नहीं हैं। कमी यदि है तो वह सच्चे धर्म-वीरों एवं कर्म-वीरों की है। बड़ी-बड़ी सभाओं में दो चार भाषण झाड़ कर हम सन्त लोगों को यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बस अपना कर्त्तव्य पूरा हो गया है। इसके आगे और कुछ करने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। मेरा ख्याल है कि उत्तम से उत्तम भाषणों की स्वर-लहरियां कभी-कभी आकाश को तो स्पर्श कर लेती हैं, किन्तु किसी के हृदय तक नहीं पहुंच पातीं। इसीलिए तो समाज के इस उद्यान के एक-एक पौधे को धर्म-संस्कारों की ओर खींचने की आवश्यकता है। आकाश में उड़ने की अपेक्षा यह काम धरती पर चल कर ज्यादा सुन्दर एवं उत्तम ढंग से किया जा सकता है। पद-यात्रा साधक को महल से लेकर झोंपड़ी तक ले जाती है। इससे वह अमीरों तथा गरीबों के केवल घरों के द्वार पर ही नहीं पहुंचता, बल्कि यदि वह उनके हित-कल्याण तथा उद्धार की भावना लेकर उनके पास जाये तो वह उनके हृदय द्वार तक भी पहुंच सकता है। आत्मीयता के मधुर क्षणों में लोग आपकी बात अधिक आदर से सुनेंगे। वात्सल्य के सलिल से सींच कर ही सन्त जनता की ऊसर हृदय-धरती को उर्वर बना कर उसमें धर्म-संस्कारों का बीजा-रोपण कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में यदि मैं दो महान् सन्तों का नामोल्लेख करूं तो कोई अनुचित नहीं होगा। वैसे तो हमारे देश में कितने ही महान् पुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने तप और त्यागमय जीवन से जन-मानस को धार्मिक-प्रेरणा तथा उद्बोधन देकर उनके धार्मिक संस्कारों को दीप-शिखा को सदा प्रदीप्त रखा है। जैन-जगत में भी ऐसे कितने ही संयमी तथा तपस्वी मुनि हो गए हैं जिन्होंने साधना करते हुए प्रचार के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण काम किये हैं। उनका वह प्रचार केवल ख्याति पाने के लिए नहीं था, वह तो उनके आचार की ही एक ज्योति-शिखा होती थी जो जन-मानस में आकर उनके जीवन का आलोक बन जाती थी। जीवन की कभी न बुझने वाली बोध-ज्योति ही आगे बढ़ कर लाखों भव्य जनों के जीवन के लिये अमिट प्रकाश-रेखा बन जाती है, जो उन्हें कर्त्तव्यशील बना कर समाज को एक परिपुष्ट धर्म का अंग भी बना देती है। जैसे एक जलता हुआ दीपक कितने ही बुझे हुए दीपकों को ज्योतिर्मय बना देता है, ऐसे ही सत्य-शील के लोक में सदैव जागृत रहने वाले संस्कारी जीवन दूसरों को भी बोध दे-दे कर जागृत कर देते हैं।

संयम-ज्योति रूप दो महापुरुष

इस सन्दर्भ में मैं दो महा-पुरुषों की चर्चा किये विना नहीं रह सकता। एक तो थे उपाध्याय तथा प्रवर्तक स्वर्गीय श्री फूलचन्द्र जी महाराज के गुरुदेव परम-श्रद्धेय श्री खजान चन्द जी महाराज और दूसरे साधक सन्त थे पूज्य श्री राम स्वरूप जी महाराज के सुशिष्य कवि श्री अमर मुनि जी महाराज (पञ्जाबी)।

श्री खजानचन्द जी महाराज

परम-श्रद्धेय पूज्य श्री खजानचन्द जी महाराज अपने समय के बड़े हो आचार-निष्ठ सन्त थे। वे बड़े ही स्पष्ट वक्ता तथा निर्भीक महात्मा थे। पंजाब में स्थानकों के प्रचार का वीड़ा सबसे पहले उन्होंने ही उठाया था। उनका यह स्थानकों के निर्माण का अभियान साध्वा-चार के पोषण के लिए हो था। क्रियावाद के अत्यन्त सूक्ष्म जगत् में

जा कर भले ही कुछ महानुभावों को यह आचार के दोष के रूप में नजर आता हो, किन्तु वास्तव में यह प्रचार साध्वाचार के हित में था और आज यह तथ्य बिल्कुल सत्य सिद्ध हुआ है। उनकी दूर-दृष्टि ने यह अनुभव किया कि धर्म-स्थानकों के अभाव में साधुओं को चारित्राराधन में कठिनाई आती है। उनको इसके लिए तथा ध्यान-साधना के लिए शान्त-एकान्त स्थान उपलब्ध नहीं होता। समाज में संगठन, तप तथा स्वधर्मी-वात्सल्य का भाव तभी जागृत हो सकता है यदि मिल बैठने के लिए अपना कोई स्वतन्त्र स्थान हो। धर्म-ध्यान करने के लिए तथा साधुओं के चातुर्मास का पुनीत लाभ लेने का अवसर भी तभी मिल सकता है जब कि वर्षावास के अनुकूल स्थान प्राप्त हो। युग की आवाज को सुन कर उन्होंने धर्म-स्थानों के पक्ष में जोरदार प्रचार किया, किन्तु अपने आचार-धर्म से दूर हट कर नहीं, बल्कि अपनी आचार-धरती पर मजबूती से डट कर और खड़े रह कर।

कोई भी चिन्तन पुराना हो या नया, देखना केवल इतना ही होता है कि उसमें मूलाधार को सींचने की शक्ति तथा उपयोगिता कितनी है? जो दृष्टि आज पुरानी है वह किसी समय नयी ही थी और आज जो चिन्तन नया है वह कालान्तर में पुराना होने वाला है। यदि ऐसा सिद्धान्त बन जाये कि हर पुराना सर्वदा हेय ही होता है तो आज का नवीन चिन्तन भी कल पुराना होकर हेय बन जायेगा। इसलिए प्रश्न नये तथा पुराने चिन्तन का नहीं है, प्रश्न तो केवल है उसकी उपादेयता का? और है उसके प्राणभूत उपयोगी सत्व का।

इसके साथ ही एक बात का और भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह उपयोगिता मौलिक साध्वाचार के लिए हो न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए और न ही देश-काल तथा परिस्थितियों के साथ क्षणिक रूप में सामायिक समझौता करने के लिये। कभी-कभी अपने मन, इन्द्रियों तथा शारीरिक शक्तियों को देख कर तथा समय की पुकार को सुनकर उसके अनुसार किये हुए समझौते देखने में बड़े ही सुखद तथा युगानुकूल प्रतीत होते हैं, किन्तु वे ही आगे चल कर संयम तथा त्याग के ऊंचे आदर्शों के प्रतिकूल बन जाते हैं और वे संयम का घुण

बन कर उसे अन्दर से खोखला करने लगते हैं।

महापुरुष समय-समय पर ऐसे नूतन चिन्तन समाज को देते रहे हैं जो उनकी सुप्त शक्तियों को सचेतन बना कर उन्हें जीवन के उच्चतम आदर्शों की ओर मोड़ते हैं। उनकी जीवन-धरा पर सदाचार, सत्य और सादगी के कमनोय फल उगाकर उन्हें गुलिस्तान बना देते हैं। वे देव-पुरुष कभी ऐसी घटिया दृष्टियां लोक-मानस को नहीं देते जिनसे उनके जीवन की रही-सही हरियाली भी समाप्त हो जाये और वे निरा रेगिस्तान ही बन कर रह जायें। सन्त पुरुष तो मरुभूमि को भी एक हरे भरे बाग में बदल देते हैं।

पूज्य श्री खजान चन्द जी महाराज ने सारे पञ्जाब को आचार-मूलक एक नया चिन्तन देकर रेगिस्तान को गुलिस्तान तो बनाया ही साथ में अपने धर्म-प्रचार के बल पर अनेक मरुस्थलों को धर्म-स्थल भी बना दिया। वसे तो पंजाब में कहीं भी मरुस्थल नहीं है, यह बात तो मैंने किसी अपेक्षा से ही कही है। पंजाब में जिला भठिण्डा के गांव "खेयोवाली" में अहिंसा की धर्म-नहर जाने से पहले वह एक मरुस्थल ही था, किन्तु श्री खजान चन्द जी महाराज ने वहां धर्म-प्रचार की वह गंगा बहाई कि समूचा गांव ही जैन धर्म में दीक्षित हो गया और वह आज जैनों की अग्रिमपंक्ति में समझा जाता है। प्रश्न केवल एक गांव का नहीं, एक गांव की धर्म-ज्योति सैंकड़ों गांवों में जाती है और वह उन्हें भी प्रभावित एवं संस्कारित करने का महत्वपूर्ण काम करती है। इसको कहते हैं 'प्रचार' और यह धरती पर चल कर ही हो सकता है, आकाश में उड़ कर नहीं।

जो महानुभाव आज "आकाश की ओर चलो" का नारा बुलन्द कर रहे हैं वे शायद आज भूल गये हैं कि उनको भी अरिहन्त-मार्ग पर लाने वाली वे तप और त्याग की विभूतियां ही थीं जो जीवन भर इस धरती पर चल कर इस भारत-भूमि को पवित्र करती रही हैं।

इसके उत्तर में शायद किसी की तर्क-शक्ति बोल उठे कि "अब युग-बदल गया है। वह समय और था यह समय और है।" मेरा

अपना खयाल है कि समय तो इतना नहीं बदला जितना अपने चिन्तन का केन्द्र बदल गया है। उतार-चढ़ाव इस प्रकृति का नैसर्गिक गुण है। ऐसे ही अपने शाश्वत स्वभाव में अवस्थित रहना इस आत्मा का चिरन्तन गुण है, एक अनादि स्वभाव है।

इस लेख में अन्य चर्चा न छेड़ कर मैं अपने केन्द्रीय विचार पर आना उचित समझूंगा, यह यह कि आत्मा के शाश्वत स्वरूप सत्य में अवस्थित रह कर ही यदि लोक-हृदय को धर्म के संस्कारों से आप्लावित किया जाये तो ही साधक और समाज दोनों पक्षों के लिए श्रेयस्कर हो सकता है।

श्री अमर मुनि जी महाराज

पूज्य कवि श्री अमर मुनि जी (पंजाबी) भी अपने समय के एक आचारवान् साधक सन्त थे। उनके प्रचार का ढंग सबसे निराला ही था। वे आहार आदि से निवृत्त होकर उपाश्रय से निकल पड़ते थे। अपना आराम और सुख छोड़ कर लोक-हित की तड़प में वे अपने कष्टों और दुःखों को भी भूल जाते थे। मार्ग में मिलने वाले और सड़क के किनारे चलते राहियों को रोक कर वे उपदेश देने लगते थे। सबको नहीं जहां उनका हृदय आवाज़ देता कि इस जीवन को आवश्यकता है तुम्हारे उद्बोधन और मार्ग-दर्शन की और इसे बोध-वचन कहने से कुछ लाभ अवश्य होगा, उसी बन्धु को रोक कर वह खड़ा कर लेते और कहने लगतें—"फकीर आप से कुछ मांगता है।" कोई गरीब और असमर्थ होता तो वह यह कह कर टालने की कोशिश करता—"क्या दें, कुछ देने को नहीं है, क्षमा करो बाबा।" कोई समर्थ होता तो अपनी जेब टटोलने लगता और झट से दो चार सिक्के निकाल कर देने का प्रयत्न करता। यह सब देखकर वे हंसने लगते और मुस्कराते हुए सहजभाव से कहते—'ये धातु के और कागज के टुकड़े हम को क्या करने हैं? इन सबको छोड़ कर ही हम साधु बने हैं। ये तो आप को ही मुबारिक हों।"

"तो फिर क्या मांगते हैं आप?"

वे झट अपना आञ्चल पसार कर कहते—"यदि आप मांस खाते हैं या शराब पीते हैं तो उसे मेहरबानी करके छोड़ दीजिये। यदि कोई दुराचार की लत है तो कृपया उसे भी तिलाञ्जलि देने की आज प्रतिज्ञा कर लीजिये। बस यही वचन मांगता हूं।"

यदि सामने वाला व्यक्ति इन कुव्यसनों का शिकार होता तो वह कुछ सकुचा कर गर्दन नीची कर लेता, या कोई और चिन्ह चेहरे पर छाया बन कर अंकित होता तो वे तत्काल समझ जाते कि इस दाल में कुछ काला अवश्य है।

"तो क्या सोच रहे हैं? छोड़ दीजिये न इस जीवन के दोषों को। प्रकृति के प्राङ्गण में मनुष्य के खाने के लिए सर्वत्र भण्डार भरे पड़े हैं। इस मनुष्य को पेट भरने के लिए चाहिये भी कितना? केवल दो रोटियां? ज़बान के स्वाद में पड़ कर इस जीवन को नरक न बनाओ। वासना ही मनुष्य को नरक के द्वार पर ले जाती है, वास्तव में देखा जाये तो आमिषाहार मानवता, धर्म तथा भारतीय संस्कृति के नितान्त विरुद्ध है। इसलिए मनुष्यता, धर्म तथा भारतीय होने के नाते से आप को इसे छोड़ना ही चाहिये और फिर उस पर यह शराब? यह तो जीवन के गुलाब को तेजाब से सींचने के समान है। जो भूल कर चुके हो उस पर दो आंसू बहा कर उस परम शक्ति से अपने अपकृत्य के लिए क्षमा मांग लो, यदि आप हिन्दू हैं तो राम और कृष्ण के आगे नत-मस्तक होकर, यदि आप मुस्लिम हैं तो अपने अल्लाह के सामने तोबा करके, यदि आप ईसाई हैं तो ईसा के आगे पश्चाताप करके, यदि आप सिख हैं तो वाहे गुरु को साक्षी मान कर, यदि आप जैन हैं तो अरिहन्त देव को हृदय में धारण करके और यदि आप बौद्ध हैं तो बुद्ध की करुणा को याद करके और "धम्मं सरणं गच्छामि" कह कर। बस, आपकी प्रतिज्ञा हो जायेगी और मेरी झोली खैरात से भर जायेगी।"

फिर सन्त-चरणों में खड़ा वह व्यक्ति जल्दी में होने पर भी पांच मिनट अवश्य रुक जाता। उसे ऐसा अनुभव होने लगता जैसे कि

कोई उसे प्रेम और करुणा के धागों से बांध रहा है। वह सोचने लगता है कि यह साधु गरम तवे जैसी धरती पर नंगे पाओं खड़ा रहकर तपती दोपहरी में हमें बोध देने आया है। इसे अपना कोई स्वार्थ तो नहीं है। यह जो कुछ भी कह रहा है, वह सब हमारे कल्याण, हित तथा मंगल के लिए ही है। उस हितैषी तथा स्नेहमय जीवन के समक्ष कठोर से कठोर हृदय भी द्रवित हो जाता था और किसी-किसी को आंखों में श्रद्धा के आंसू तक छलक पड़ते थे। अपने जीवन के निर्माता के रूप में ही उसके नयन उन्हें निहारने लगते, उसे अनुभव होने लगता कि आज उसे जीवन का ऐसा सच्चा पथ-प्रदर्शक मिला है जिसने प्रकाश को किरणें बिखेर कर उसे जीवन का सच्चा लक्ष्य समझाया है। मुनि श्री जी के सीधे-सादे वचन उसके हृदय में बैठ जाते। वह अपने दोषों तथा अवगुणों को छोड़ कर अपना परम सौभाग्य मानने लगता था।

इस तरह उस महामुनीश्वर ने अपने प्रचार के इस अद्भुत तरीके से हजारों लोगों को धर्म-संस्कार देकर उन्हें परम नैतिक एवं धार्मिक बना दिया। इस प्रकार के आदर्श धर्म-प्रचार के सामने मेरे या आपके कोरे भाषण क्या काम कर सकेंगे? जरा इस तथ्य पर ठण्डे हृदय से विचार कीजिये।

पूज्य श्री हरिश्चन्द्र जी महाराज ने इस धर्म-प्रचार से सम्बन्धित मुझे कभी एक प्रसंग सुनाया था कि वे एक समय विहार में थे। उन्हें मार्ग में एक व्यक्ति मिला। उसने उन्हें देख कर सन्मान-पूर्वक वन्दन किया और फिर पूछने लगा—"महात्मा जी! आजकल श्री अमर मुनि जी महाराज कहां हैं?"

केसरी-शिष्य जी ने उत्तर दिया—"उनका तो स्वर्गवास हो चुका है।"

इतना सुनते ही वह व्यक्ति फूट-फूट कर रोने लगा और उनका नाम ले-ले कर धरती पर सिर रख कर उन्हें प्रणाम करने लगा।

श्री हरिश्चन्द्र जी महाराज ने फिर उससे पूछा—"क्या आप उनको जानते हैं?"

क्यों नहीं ? उन्होंने ही तो मुझे जीवन का सच्चा मार्ग दिखाया था। उन्होंने मुझे ऐसे ही सड़क पर चलते-चलते उपदेशामृत पिलाया था। उनके वचन मान कर ही मैंने जीवन भर के लिए मांस और शराब का सेवन करना छोड़ा था और आज मैं सब तरह से आनन्द में हूं।

यह सब लिखने का मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि इस धरती पर चलने वाले तपस्वी-चरण यदि धर्म-प्रचार की सच्ची लगन लेकर आगे बढ़ें तो वे देश की काया पलट सकते हैं।

●



साधना और प्रचार में मौलिक अन्तर



धर्म का प्रचार तो कोई भी कर सकता है, किन्तु उपदेश हर कोई नहीं दे सकता। धर्म का उद्गम-स्थान तो केवल त्याग ही है, बहिर्मुखी साधक उपदेश आखिर देगा ही क्या ?

उपदेश के अमृत-कण तो कोई अमृत - योगी ही बिखेर सकता है और इस अमृत-आत्मा का दर्शन त्याग के निर्मल एवं स्वच्छ दर्पण में ही सम्भव है। त्याग सन्त-जीवन का भूषण तो है ही कुछ गृहस्थ भी ऊंचे स्तर के त्यागी होते हैं। यदि वे कमर कस कर भारतीय संस्कृति के प्रचार में निकल पड़ें तो वे इस सारी दुनिया में अहिंसा-धर्म की दुन्दुभी बजा सकते हैं और इस वैज्ञानिक युग में निर्मित होने वाले भौतिकवाद के विश्वासों के किलों को ध्वस्त कर सकते हैं।

इस संदर्भ में अवश्य पूछा जा सकता है कि क्या साधु प्रचार नहीं कर सकता ? क्यों नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है, किन्तु अपने व्रतों तथा मर्यादाओं में रह कर। अपने जीवन के मूलभूत आचार की उपेक्षा करके उसे प्रचार करने का कोई हक नहीं है, न ही यह अधिकार उसे संघ द्वारा दिया ही गया है। किसी भी आगम-वेत्ता से पूछिये वह आपको एक ही बात कहेगा कि साधु सब से पहले एक साधक है, और उपदेशक या प्रचारक वह बाद में है। यदि वह कहीं प्रचारक के रूप में नजर आता भी है तो वह प्रचार भी उसकी साधना का एक अंग बन कर रहता है। वह यदि विचरता भी है तो वह विचरना

भी उसके जीवन का एक प्रकार का तप माना जाता है। उस का भ्रमण और विचरण उसे स्थानासक्ति, सामाजिक द्वन्द्वों तथा प्रियजनों के मोह से अनासक्त रह कर आचार-पालन में सशक्त एवं समर्थ बनाने के लिए होता है।

दरिया का लक्ष्य समुद्र में जाकर समुद्राकार होना ही होता है, किन्तु वे नदियां और दरिया जहां से गुजरते हैं वहां की धरती का सिञ्चन करते हुए जाते हैं। बिल्कुल इसी तरह साधु तो अपने आचार को अक्षुण्ण रखने के लिए क्षेत्रानुक्षेत्र में विहार करता है, किन्तु भव्य प्राणियों को अनायास ही धर्म-श्रुति का लाभ मिल जाता है। कहीं-कहीं वह अपनी शक्ति के अनुसार धर्मोद्योत के लिए तथा जन-मानस को धर्म के संस्कारों से आप्लावित करने के लिए बड़े-बड़े समारोहों तथा धर्म-सम्मेलनों का आयोजन भी करवाता है, या स्वयं समाज द्वारा आयोजित धर्म-सम्मेलनों में भाग भी लेता है, किन्तु बाहर से देखने में हमें ऐसा लगता है कि यह सब प्रचार एवं उपदेश के मंच हैं, किन्तु इन मंचों पर भी साधु के मूर्तिमन्त त्याग और तप ही आसीन होते हैं, धर्म की इन विराट् सभाओं में लोग मीठे-मीठे दोहे गीत या चातुर्यपूर्ण उक्तियां ही सुनने के लिए एकत्रित नहीं होते, वे तो आते हैं अपने श्रद्धेय तथा उपास्य गुरुओं के चरण-सरोजों में श्रमणोपासक बन कर उनके साधनामय जीवन की अनुभूतियों की मंगल-ध्वनियां सुनने के लिए, उन से मार्ग-दर्शन लेने के लिए और उनके आचार-निष्ठ जीवन से प्रेरणा पाने के लिये।

मैं यह अवश्य मानता हूं कि जैनाचार की दृष्टि से निवृत्तिमार्ग के पथिकों के लिये इन समारोहों में जो सामाजिक उद्देश्यों के लिए आयोजित होते हैं मोटे-मोटे आरम्भ-समारम्भ-जनक दोषों की सम्भावना भी होती है, किन्तु ये सब अपवाद विवशता तथा एक आवश्यकता के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। छद्मस्थ साधनामय जीवन में ये दोष स्वयं कृशकाय एवं निर्बल होने से साधना के मूल को निर्बल बनाने में असमर्थ हो रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे दोष महाव्रतों के लिए कोई खतरा बन कर जीवन में नहीं उभरते और फिर एक सजग

साधक इन अनिवार्य स्थितियों में विवेकशील औ ागरूक बन कर चलता है और आत्म-शुद्धि के लिए सरल हृदय से आलोचना प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित्त का उपक्रम भी करता रहता है

मकान में खिड़की इसलिए रखी जात है कि उसमें उजाला रहे और हवा खुल कर आ सके, उद्देश्य तो पावन ही है, किन्तु उसी खिड़की से बाहर से कुछ गर्द व धूल भी कमरे में आ जाती है जो अभीष्ट तो नहीं है, किन्तु आने से उसे रोका भी नहीं जा सकता। केवल उस धूल को बाहर निकालने का उपाय अवश्य किया जा सकता है। वह यही हो सकता है कि उस कमरे की दीवारों और उसमें पड़ी हुई चीजों को किसी कपड़े से झाड़ दिया जाय और झाड़ू लगा कर कूड़े कचरे को बाहर निकाल दिया जाये। बस, इतना तो हो सकता है। इसी तरह सामाजिक जीवन में धर्म-प्रभावना धर्मोद्योत तथा धर्मोपदेश के पुनीत उद्देश्यों से जो किंचित् आस्रव से कर्म-रज जीवन में प्रविष्ट होती है उसे आलोचना आदि से दूर भी किया जा सकता है और फिर सम्यक्-दृष्टि साधक उन क्रियाओं से इन्कार भी कहां करता है? उसे स्पष्ट हृदय से स्वीकार करता है और अपने संयमाराधन को साफ-सुथरा रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है।

इस सम्बन्ध में अपने मूल व्रतों की उपेक्षा करके चलने वाले सुविधावादी यह अवश्य कहने लगेंगे कि जब प्रचार के लिए छोटे दोषों को स्वीकार किया जा सकता है तो फिर बड़े-बड़े दोषों को क्यों सहन नहीं किया जा सकता? सच्ची बात तो यह है कि यह तर्क सम्यक् नहीं है, यह केवल कुतर्क है, दूसरे के मुंह पर ताला लगाने या लेखक की लेखनी को रोकने का एक कुप्रयास मात्र है और अपने आपसे और समाज से सरासर एक धोखा है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि धर्म-प्रभावना और कोरे धर्म-प्रचार में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर रहता है। समाज का हित-चिन्तक-समुदाय अपनी संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा के लिए अपने सिद्धान्तों के अनुकूल ही धर्म-संगमों का आयोजन करता है और वे सब महामिलन धार्मिक जनों के मौलिक सिद्धान्तों के पोषण के लिए ही होते हैं।

ऐसे आयोजनों में पुनीत लक्ष्यों के साथ पुनीत साधनों का भी ध्यान रखा जाता है, किन्तु सस्ते प्रचार में जोवन का चित्र कुछ दूसरे रङ्ग में होता है। प्रचार के उस क्षेत्र में महत्वाकांक्षा ही हृदय-गगन पर नक्षत्र बन कर चमकती है। धर्म के उद्योत एवं प्रभावना का वहां कोई ध्यान नहीं होता, किसी के सुधार तथा उद्धार की तरफ किसो का कुछ खयाल भी नहीं होता। वहां तो अपने व्यक्तित्व को उभारने और झूठी प्रसिद्धि पाने की लालसा ही बनी ही रहती है। जीवन के उत्तर गुणों की तो बात ही क्या है, महाव्रतों के परिधान को भी उतार कर एक ओर खूंटी पर लटका दिया जाता है।

मैं बड़ो नम्रता से सुधारवादी बन्धुओं से पूछना चाहूंगा कि यदि कोई छोटे दोष से बच सके तो क्या उसे बड़े दोष भी धड़ाधड़ लगाने शुरू कर देने चाहिये? यदि कोई श्रावक गृहस्थी होने के कारण आरम्भजा हिंसा नहीं छोड़ सकता तो क्या इसका मतलब यह है कि वह स्थल हिंसा भी करने लग जाये। ऐसा कहना तो बुद्धि का केवल दिवालियापन ही होगा।

ऐसा प्रश्न सामने आने पर समीचोन उत्तर तो यही मिलेगा कि यदि कोई सूक्ष्म हिंसा न छोड़ सके तो कम से कम वह स्थूल हिंसा तो कदापि न करे और सूक्ष्म हिंसा के प्रसंगों पर भी विवेक यतना और मर्यादा से काम ले और फिर भी कहीं दोष समझे तो उसकी शुद्धि के लिये तत्पर रहे। यह मत केवल मेरा ही नहीं, वलिक सभी धर्मज्ञ मनीषियों का यही मत रहेगा। मैंने वैसे अपनो ओर से अपनी तुच्छ वुद्धि के अनुसार विषय को काफी स्पष्ट कर दिया है, किन्तु फिर भी कोई अहंमन्य ज्ञानी बीच में आ कूदे और कहने लगे कि यदि छोटे दोषों की शुद्धि हो सकती है तो फिर बड़े दोषों की भी हो जायेगी? क्या ऐसा नहीं हो सकता?

क्यों नहीं हो सकता, हो तो सब कुछ सकता है, किन्तु इसके लिये पहले अपनी नीयत भी तो साफ होनी चाहिये। यदि अपनी भावना में गड़बड़ हो तो फिर उसके लिए वाहर कभी भी अनुकूल

वातावरण की सृष्टि नहीं हो सकती। अहंवादी तो सर्वत्र जोड़-तोड़ कर अपने पक्ष को पुष्ट करने का ही प्रयत्न करता है। इससे समाज में अवाञ्छनीय संघर्षों का जन्म तो होता ही है, व्यक्ति और समाज की शक्ति क अपव्यय भी होता है और स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

वास्तव में देखा जाय तो साधक अन्तरंग से उखड़ कर ही बाहर की तरफ भागता है। जिसे अपने व्रतों के प्रति अश्रद्धा तथा अनास्था हो गई हो वह शुद्धि क्या करेगा? मैंने ऊपर भी अर्ज किया है कि जब संयम के महल में प्रमाद, विवशता तथा किसी भूल वश कोई अशुभ कर्म-रज की धूल आ जाये तो झाड़ू लगाकर उसकी सफाई हो सकती है, किन्तु जहां संयम का महल ढह कर स्वयं ही धूल में मिल कर धूल बन गया हो वहां शुद्धि का झाड़ू क्या करेगा? वास्तविकता तो यह है कि सुधारवादी तत्व दूसरों के छोटे-छोटे छिद्रों का अन्वेषण करने में लगे रहते हैं और उन छोटे-मोटे दोषों की आड़ लेकर अपने मार्ग को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह अपने पक्ष की पुष्टि में उनकी बुद्धि के कौशल का केवल दुरुपयोग ही कहा जायेगा।

सच्चे धर्म-प्रचार का कौन समर्थन नहीं करेगा? आखिर दुनिया में धर्म-प्रचार की आवश्यकता सदा ही रही है और इस भौतिक युग में इसकी और भी अधिक ज़रूरत है, किन्तु वह केवल प्रदर्शन के रूप में ही न हो, सही अर्थों और रूपों में जब प्रचार किया जाता है तो उसको सबका समर्थन प्राप्त होता है। सही चीज का कोई भी बुद्धिमान् कभी विरोध नहीं करता। यदि कोई कहे कि भारत में तो धर्म का प्रचार सदा मुनिजन एवं ऋषि-गण ही करते रहे हैं, यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि वे हमेशा साधुत्व एवं मुनित्व की भूमिका से ही प्रचार करते रहे हैं न कि प्रचारक की भूमिका पर उतर कर। भारत के गगनांगन में जब—"असत् से सत्य की ओर बढ़ो अन्धकार से हट कर ज्योति की ओर बढ़ो, मृत्यु से मुक्त हो कर अमृत की तरफ चलो!" ये ध्वनियां बिखरती रहीं हैं तो वे आत्म-ज्ञानी योगियों के अन्तस्तल से ही निकल कर

लोक को स्पर्श करती रही हैं। कोई भी परिग्रही पुरुष आत्मा के ऐसे अनमोल और दिव्य सूक्त नहीं कह सकता। मैं सन्तों तथा मुनियों को धर्म के किसान समझता हूं। जैसे किसान धरता म बीज डालने से पहले कठिन परिश्रम करते हैं और फिर बीज - वपन भी काफी मेहनत मांगता है और इसके बाद खेत लहलहाने लगते हैं तो फिर उस की हर तरह से रक्षा करने के लिये उसे सतर्क रहना पड़ता है, बिल्कुल ठीक इसी तरह ऋषि-मुनि भी लोक-मानस में धर्म-संस्कारों का बीजारोपण करने के लिए सर्व प्रथम उसे विनय आदि गुणों के योग्य बनाते हैं, फिर वे उसमें आचार का बीज डालते हैं। जब जीवन के खेत अहिंसा, संयम और तप से समृद्ध बन जाते हैं, तब वे नियमों की बाड़ के समीप खड़े होकर उसकी रक्षा का पूरा ध्यान भी रखते हैं। हमारे देश में सन्त पुरुष धर्म तथा संस्कृति के अग्रदूत माने जाते हैं, उन्होंने अपने जीवन के कण-कण को त्याग और तप से तपा-तपा कर ही देश के गौरव की रक्षा की है और इसके उन्नत भाल को यशस्वी बनाया है।

केवल लच्छेदार प्रवचन तथा भाषण दे देने से ही सब कुछ नहीं हो जाता। मैं प्रवचन तथा भाषण को जीवन की एक बड़ी उपलब्धि तो मानता हूं, किन्तु इस का जो प्राणभूत तत्त्व है उस त्याग को भी तो इससे अलग नहीं किया जा सकता। जीवन की बड़ी-बड़ी सिद्धियां तप और त्याग के ही आधीन रहती हैं। हमारे देश के ऋषि लोग धर्म और संस्कृति के अभ्युदय और प्रचार के लिए उन सिद्धियों को भी प्राप्त करते थे। अपने समय के बड़े-बड़े नरेशों को अपने अनुयायी बनाकर उन्होंने धर्म-संघ के पावन उद्देश्यों में उनके सक्रिय सहयोग भी उपलब्ध किये। ये महापुरुष धर्म के लिए अपने सुखों को न्योछावर कर देते थे, परन्तु कहां वे लोग हैं जो धर्म-प्रचार के नाम पर अपने जीवन को अधिक से अधिक सुखशील बनाने में लगे हुए हैं? आपवादिक स्थिति में एक व्यक्ति वैयक्तिक साधना में महान् भी हो सकता है, उसका अन्तरंग समस्त प्रवृत्तियों में रहकर भी सरोवर में कमलवत् भी रह सकता है, इसे मैं चिन्तन तथा साधना की किसी उच्चतम भूमि

पर स्वीकार कर सकता हूं, किन्तु एक बात उन्हें भी माननी होगी कि उनके आस-पास के सभी साधक उनकी प्रतिमूर्ति नहीं बन सकते। उन कच्चे साधकों के लिए हितकारी मार्ग क्या है? उन्हें इस सम्बन्ध में ठीक निर्देशन देने की क्या आवश्यकता नहीं है?

जैन-शासन की मनीषा यदि यथासम्भव मर्यादा तथा चारित्र-रेखाओं के साथ गमन करे और प्रत्येक स्थिति में उसके साथ समन्वय करके आगे बढ़े तो अवश्य ही उनके सक्रिय मिशन से जैन जगत् का ही नहीं बल्कि सारी दुनिया का कल्याण हो सकता है।

३०

जीवन में सुख-दुःख के नाटक का नायक कौन ?
भाग्य या पुरुषार्थ !



भाग्य और पुरुषार्थ इन दोनों में कौन बलवान् है ? यह मनुष्य क्या भाग्य के आधीन है, या भाग्य का वह स्वयं निर्माता है ? क्या जीव पुरुषार्थ करने में स्वतन्त्र है, या भाग्य के वशवर्ती होकर ही वह कुछ करता है ? जीवन में सुख-दु ख का जो नाटक चल रहा है उसका नायक कौन है ? भाग्य या पुरुषार्थ ? मानव-मन का यह प्रश्न उतना ही पुराना है जितना कि इस जीव का भव-भ्रमण तथा उसके जीवन में सुख-दुख का संवेदन। जब प्रश्न पुराना है तो उत्तर भी इसका कोई नया नहीं हो सकता। वस्तुतः देखा जाए तो इस सृष्टि में कुछ भी नया नहीं है। सब कुछ पुराना ही है, केवल नयी-नयी पर्यायों के परिधान में ही सब कुछ नया-नया लगता है।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में हजारों नहीं, लाखों भी नहीं, वल्कि असंख्य विद्वानों ने चिन्तन एवं मन्थन किया है और अपने-अपने निर्णय, समाधान तथा उत्तर नवनीत-पिण्ड के रूप में जन-मानस के समक्ष प्रस्तुत किये हैं। जैसे अनन्त काल के प्रश्न अनन्त आत्माओं के अन्त-स्तल में पड़े रहते हैं, ऐसे ही उन के उत्तर भी आत्मा के ज्ञान-कोप में संस्कार रूप में पड़े रहते हैं। वे वाणी तथा लेखनी के रूप में सर्व मानव-जगत् को सदैव सर्वत्र उपलब्ध नहीं हो पाते। हर काल हर युग तथा हर समय में मानव के हृदय में प्रश्न का रूप कुछ अलग रहता है

और उसके सन्तोष के लिए उत्तर भी उसके अनुरूप ही खोजना पड़ता है।

एक बात प्रसंगवश स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं, वह यह है कि प्रश्न के अन्तरङ्ग में जो जिज्ञासा है और उस जिज्ञासा का जो लक्ष्य है वह तथा समाधान और उत्तर के पीछे जो चिन्तन है और उस चिन्तन का जो ध्येय है वे दोनों सत्य रूप होने से अनादि ही रहते हैं। केवल प्रश्न तथा उत्तर का आकार ही नवीन प्रतीत होता है और वह इस संसार में प्रत्येक चिन्तक की अपेक्षा भिन्न ही होता है।

पुरुषार्थ तथा भाग्य इन दोनों में से प्रधान कौन है? अनादि काल के इस प्रश्न के समाधान में अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए मेरी लेखनी कुछ प्रयास कर रही है।

इस प्रश्न का उत्तर खोजने से पहले हमें भाग्य के विविध पहलुओं पर चिन्तन करना होगा। सर्व प्रथम भाग्य के विभिन्न नामों पर विचार कर लेना चाहिये? क्योंकि प्रायः नाम-भेद से वस्तु-भेद और वस्तु-भेद से नाम-भेद हो जाता है। जैसे रत्नाकर तथा पयोधि ये दोनों नाम समुद्र के वाचक हैं, किन्तु जैन-धर्म के सप्त नयों में से शब्द-नय की दृष्टि से दोनों में थोड़ा सा अन्तर रहता है, वह यह है कि रत्नों का भण्डार होने से ही सागर को रत्नाकर कहा जाता है और जल का भण्डार होने से "पयोधि" संज्ञा से वह व्यवहृत होता है। इसी प्रकार भवितव्यता, अदृष्ट तथा नियति ये सब भाग्य के पर्यायवाची शब्द ही समझे जाते हैं, किन्तु शब्द-भेद से इनमें थोड़ा अर्थ-भेद भी हो जाता है।

जो जीवन में अवश्य ही घटित होने वाला है वह ही भवितव्यता है और नियति इसका पर्यायवाची शब्द है, किन्तु वह भवितव्यता से कुछ अधिक व्यापक है। जैन-धर्म के स्वभाव, काल, नियति पुरुषार्थ तथा भाग्य इस पञ्च समवाय में नियति का अन्य ही अर्थ लिया गया है। वह यह है कि गेहूं से गेहूं का ही उत्पन्न होना नियत है। उससे बाजरा या ज्वार तथा अन्य कुछ भी पैदा नहीं हो सकता। कारण और कार्य का सादृश्य ही नियति है, अर्थात् कारण कुछ हो और उससे कार्य

कुछ और ही प्रकट हो जाए, ऐसा नहीं होता। तो कारण के अनुरूप ही कार्य होता है यही नियति का सिद्धान्त है। जैन-धर्म के पांच समवायों में "नियति" शब्द उपर्युक्त अर्थ को लेकर ही प्रयुक्त हुआ है।

जैन शास्त्रों में आजीवक मत के आचार्य मंखली-पुत्र गोशालक का उल्लेख मिलता है। वह एकान्त नियतिवादी था। उसका मत था कि जो होने वाला है वह प्रत्येक स्थिति में होकर ही रहता है। उसे टाला नहीं जा सकता। जीव का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता। होनहार सदा बलवान् रहती है। इस होनहार को ही व्यवहार में भाग्य कहा जाता है, क्योंकि लोक-व्यवहार में प्रायः स्थूलार्थ का ही ग्रहण होता है, उसका सूक्ष्मार्थ तो प्रायः मनीषी - वर्ग के चिन्तन-लोक में ही रहता है।

अदृष्ट भी भाग्य का ही वाचक है। अदृष्ट वह गुप्त शक्ति है जो परोक्ष रूप में सुख और दुख के निमित्त उत्पन्न करके व्यक्ति को सुख-दुःख का अनुभव कराती है। वस्तुतः पूर्व कर्म का ही दूसरा नाम भाग्य है। जैन-धर्म में प्रगाढ़ कर्म-बन्ध को निकाचित कर्म कहा गया है, जिसका फल जीव को भोगना ही पड़ता है। विशेष पुरुषार्थ से भले ही इसमें कुछ अन्तर पड़ जाए. किन्तु इस का भोग तो अवश्यम्भावी है। वास्तव में लोक-भाषा में इसे ही भवितव्यता या होनहार कहते हैं।

सामान्य कर्म की जैन-धर्म में 'निधत्त' संज्ञा है। यह शुभाशुभ भेद से दो प्रकार का है। इसका बन्ध कुछ शिथिल रहता है। इसके उदय से जीवन में कभी सुख तो कभी दुख का चक्र चलता रहता है। एक कर्म का भोग होने पर फिर दूसरे कर्म का उदय होता है और फिर उसके अनुसार जीवन में सुख-दुख का क्रम चलने लगता है।

संसारी जीव कर्म से कभी मुक्त नहीं होता। जब तक कर्म है तब तक जीवन में सुख-दुख भी रहेंगे ही और शुभाशुभ कर्मों का फल ही संसार में जीव का अच्छा-बुरा भाग्य बन जाता है।

भारत के ऋषियों तथा मुनिया ने 'कर्मगति टारी नाहीं टरे',

"विधि के अंक बलवाना रे" तथा "कर्मन की रेखा न्यारी" आदि अनेक बोध-वाक्यों से एक मात्र कर्म-फल को भाग्य मान कर उसकी अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है। अंग्रेजी में जिसे हम फेट (Fate) कहते हैं वह कर्म का ही फल है। उर्दू में इसे ही तकदीर, किस्मत तथा मुकद्दर कह दिया जाता है। नाम-भेद से तत्व-भेद नहीं हो जाता। तत्व तो वही रहता है। ज्योतिष-शास्त्र में भी भाग्य को स्वीकार किया गया है। जन्म-कुण्डली में भाग्य का नौवां स्थान रहता है। जिससे जातक के शुभाशुभ भाग्य का पता लगता है।

ज्योतिष-विद्या से भाग्य का ज्ञान कैसे होता है ? इसे भी जरा समझ लेना चाहिए। जीव को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही शुभाशुभ ग्रहों का योग मिलता है और उन ग्रहों का सम्पर्क भी कुण्डली में कुछ ऐसा ही बन जाता है जिससे कि जातक के पूर्व कर्मों का ज्ञान हो जाए।

ग्रह किसी को न दुख देते हैं और न सुख ही। वे तो केवल जीव के कर्म-फल की सूचना मात्र देते हैं।

सामुद्रिक शास्त्र में भी भाग्य को माना गया है। जातक के हाथ में हृदय, मस्तिष्क तथा जीवन-रेखाओं के अतिरिक्त एक भाग्य-रेखा भी रहती है। यह रेखा प्राय: मणिबन्ध से आरम्भ हो कर शनि-स्थान की ओर जाती है। हस्त-रेखा से भी व्यक्ति के अच्छे-बुरे का ज्ञान हो जाता है। इससे पता लगता है कि प्रत्येक जीव अपना भाग्य अपने साथ ही लेकर आता है, नहीं तो हाथ में जन्म से ही कोई रेखा नहीं बन सकती। आखिर इन रेखाओं का कोई अज्ञात कारण तो मानना ही पड़ेगा। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भाग्य-रेखा का निर्माण भी जीव के पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप ही होता है। ये हाथ की लकीरें किसी को सुख-दुख देने में समर्थ नहीं हैं। ये तो अपने ही कर्मों के लेख हैं। कर्म ही जीव को सुख-दुख देने वाले होते हैं। जो प्रकृति की इस विद्या को जानता है और इन लेखों को पढ़ सकता है वह अपने भाग्य को अवश्य जान सकता है।

दुनिया का हर व्यक्ति अपने जीवन में ऐसा अनुभव करता है कि कभी उसके भाग्य का सितारा अस्त होने लगता है और कभी चमकने लगता है। यह भाग्य का उदयास्त पूर्व-कृत कर्मों की अवधि पर ही आधारित रहता है। इस अवधि को जैन दर्शन में "स्थिति-बन्ध" कहा गया है। यह स्थिति-बन्ध कर्त्ता के तत्कालीन भावों के अनुसार कर्म-बन्ध के समय ही निश्चित हो जाता है। एक कर्म उदय में आकर अपनी स्थिति तक अपना फल देता रहता है। उसके बाद यह क्षीण होकर समाप्त हो जाता है। फिर कोई दूसरा कर्म उदय में आकर अपना प्रभाव दिखाने लगता है।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का जीवन सुख-दुख का एक विचित्र नाटक है। शुभाशुभ कर्म जीवन-मंच आकर अपना-अपना अभिनय दिखा कर चले जाते हैं। कभी जीवन में सुख के बाद दुख तो कभी दुख के बाद सुख आ जाता है।

कभी-कभी दुख के बाद और अधिक दुख पैदा हो जाता है और कभी वह बढ़ता-बढ़ता अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाता है।

कभी सुख जीवन में साधारण रूप में रहता है तो कभी मध्यम स्थिति में आ जाता है और कभी वह अपने उत्कृष्ट रूप में पहुंच जाता है। यह सब जीवन में कैसे घटित होता है? इसके अन्तरंग में जरा झांक कर देख लेना चाहिये।

आप यह बात अच्छी तरह समझ चुके हैं कि मनुष्य का भाग्य पूर्व कर्मों की केवल एक छाया है। जब कर्म बदलता है उसकी छाया भी बदल जाती है। सुख शुभ कर्म की छाया है और दुख छाया है अशुभ कर्म की। जीवन में जब शुभ कर्म का उदय होता है तो जीवन में साधारण सा सुख रहता है। जब शुभतर कर्म-फल देता है तो सुख और बढ़ जाता है और जब शुभतम कर्म व्यक्ति पर सुख की वर्षा करने लगता है तो जीवन सुख की चोटियों पर पहुंच जाता है। ऐसे व्यक्ति को लोग भाग्यशाली कहने लगते हैं और मनुष्य स्वयं भी अपने विषय में यह समझने लगता है कि उसके भाग्य का सितारा चमक रहा है।

सुख पर सुख कैसे आने लगता है, इसे तो आपने समझ ही लिया है, तो अब ऐसे शुभ कर्म का बन्ध कैसे हो जाता है ? जरा इसे भी समझ लेना चाहिए।

एक व्यक्ति जब पुण्य-पथ पर अग्रसर होता है तो कभी उसे उसमें विशेष रस आने लगता है। उसका भाव उपकार तथा सेवा आदि कार्यों में उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है और वह धीरे-धीरे भावों की शुभतम अवस्था में पहुंच जाता है। इस तरह व्यक्ति जीवन में उच्चकोटि का पुण्य उपार्जित कर लेता है। शुभ कर्म का परिपाक हो जाने पर जब वह शुभ कर्म प्रकट होता है तब वह व्यक्ति के जीवन-पथ पर सुखों के फूल ही फूल बिखेर देता है, ऐसी दशा में मनुष्य जिधर भी जाता है उधर ही सुख उसका स्वागत करने के लिए खड़ा रहता है।

कभी-कभी मनुष्य अहंकार और क्रोध के वशीभूत हो जाता है, अहंकारी तथा क्रोधी के पास दुनिया का सारा वैभव भी हो सकता है, किन्तु उसके पास सत्य तथा विवेक कभी नहीं हो सकते, क्योंकि अहंकार के साथ सत्य का एवं क्रोध के साथ विवेक का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अहंकारी व्यक्ति दूसरे को दबाने लगता है, क्रोधी दूसरे को डराने लगता है, लोभी दूसरे को फुसलाने में प्रवीण होता है और मायावी-कपटी व्यक्ति दूसरे को बहकाने में कुशल होता है।

इस तरह कषायान्ध होकर मनुष्य घोर पाप-कर्म का बन्ध कर लेता है। समय आने पर वही कर्म मनुष्य को घोर दुख के गर्त में धकेल देता है। दुख के निमित्त बनते चले जाते हैं और इन्सान का दुख बढ़ता चला जाता है।

ऐसी स्थिति में दुख की स्थिति भी दीर्घ होती है और उसमें तीव्रता भी अधिक रहती है, क्योंकि कषायों के कारण विवेक-भ्रष्ट होकर जो दुख दूसरों को दिया जाता है वह भी दीर्घकालीन एवं अति तीव्र होता है।

जीवन में अति सुख तथा अति दुख कैसे होता है, यह तो उसके सम्बन्ध में समाधान दिया गया है। अब जीवन में कौन सा कर्म पहले

उदय में आता है और कौन सा बाद में ? इस विषय पर थोड़ा चिन्तन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्राय: लोग समझते हैं कि जो कर्म पहले होता है वह पहले उदित होता है और पश्चात् किया हुआ कर्म बाद में फल देता है, किन्तु सिद्धान्त यह नहीं है। तो फिर क्या सिद्धान्त है ? जरा इसे हृदयंगत कर लेना चाहिए।

जीव के साथ अनन्तानन्त कर्मों का सम्बन्ध रहता है, जिस कर्म का परिपाक पहले हो जाता है वह कर्म प्रधान बन जाता है और दूसरा कर्म उपसर्जन रूप में पड़ा रहता है। इस न्याय के अनुसार कभी पहले किया हुआ कर्म बाद में उदय में आता है और बाद का कर्म पहले प्रकट हो जाता है, अर्थात् फल देने के लिए तत्पर हो जाता है।

यह लेख मुख्य रूप से भाग्य के सम्बन्ध में है न कि कर्म के सम्बन्ध में, किन्तु फिर भी कर्म-सिद्धान्त को स्पष्ट किये बिना भाग्य का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, इसलिये कर्म के नियमों को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है।

यह बात निश्चित है कि कर्म के बाद ही भाग्य बनता है, उससे पहले भाग्य की कोई सत्ता नहीं होती। कर्म तो करने से ही होता है और "करना" जीव के पुरुषार्थ के बिना कभी सम्भव नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि भाग्य को जन्म देने वाला तो मनुष्य का अपना पुरुषार्थ ही है।

जैन-धर्म की भाषा में पुरुषार्थ को "वीर्य" कहा गया है। जैन-धर्म ने आत्मा में अनन्त वीर्य अर्थात् अनन्त पराक्रम एवं अपरिमित शक्ति स्वीकार की है। वीर्यान्तराय कर्म के आधार पर यह शक्ति संसार के प्रत्येक प्राणी में न्यूनाधिक रूप में पाई जाती है। जब यह शक्ति आत्म-ज्ञान से प्रेरित होकर आत्मा के कर्म-बन्धन तोड़ने में प्रवृत्त होती है, तब इसे "पण्डित-पुरुषार्थ" कहा जाता है, जो पराक्रम निवृत्ति तथा प्रवृत्ति - मार्ग में किया जाता है उसे "बाल-पण्डित-पुरुषार्थ" कहते हैं। जो जीव मिथ्यात्व के कारण कषायों से प्रेरित

होकर पुरुषार्थ करता है, वह "बाल-पुरुषार्थ" होता है। मन वाणी, बुद्धि और इन्द्रियां तथा शरीर ये सब जीव को वीर्य-शक्ति से ही क्रियाशील होते हैं।

मनुष्य जब ज्ञान-पूर्वक अहिंसा रूप महाव्रतों में पुरुषार्थ करता है तो उसे जीव का चारित्र कहा जाता है। उस चारित्र से कर्मों को निर्जरा होती है और उस कर्म-क्षय से जीव अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। इसलिए "पण्डित-पुरुषार्थ" में किसी भी शुभाशुभकर्म का बन्ध नहीं होता। जब बन्ध ही नहीं तो जीव का कोई भी भाग्य नहीं बन पाता। आत्म-शुद्धि के क्षणों में जिस अलौकिक सुख की अनुभूति होती है वह जीव के किसी शुभ भाग्य का फल नहीं होता, बल्कि वह तो आत्मा द्वारा अपने स्वरूप का रसास्वादन है। भाग्य अनित्य होता है जब कि आनन्द शाश्वत तथा नित्य माना जाता है।

सुप्रवृत्ति में पुरुषार्थ करने से जीव अपने सौभाग्य का निर्माण करता है और कुप्रवृत्ति में संलग्न जीव अपने जीवन-पथ पर दुर्भाग्य के कांटे ही कांटे बिखेर लेता है। मनुष्य अपने जीवन में जैसा पुरुषार्थ करता है वैसा ही उसका भाग्य बन जाता है। भाग्य का निर्माण उदय तथा भोग यह सब पुरुषार्थ से ही होता है। भाग्य की तिजौरी में क्या है? यह जानने के लिए भी पुरुषार्थ की चाबी लगानी पड़ती है। केवल भाग्य के भरोसे जीने वाले लोग आलसी नपुंसक तथा कायर होते हैं। ऐसे लोग अपने जीवन में प्रगति तो कर ही नहीं सकते, किन्तु उन्हें जो थोड़े-बहुत सुख के साधन मिलते भी हैं वे उन्हें भी खो बैठते हैं। ऐसे वीर्यहीन लोग या तो भगवान को कोसते हैं, या सारी उम्र भाग्य का रोना रोते रहते हैं। उनके जीवन-गगन पर निरुत्साह, निराशा तथा शोक के काले बादल मण्डराते रहते हैं। यदि ऐसे लोग आत्मा की अनन्त शक्ति को पहचान लें तो उनके भीतर का सोया हुआ वीर्य जाग सकता है। पुरुषार्थ के बल पर वे अपने दुर्भाग्य को सद्भाग्य में परिणत करने में अवश्य सफल हो सकते हैं।

आज के इस वैज्ञानिक युग में हमें जितने भी आविष्कार उपलब्ध हुए हैं वे सब मनुष्य के पुरुषार्थ के ही चमत्कार हैं। बहुत दूर की

आवाजें और बहुत दूर के नजारे मनुष्य आज घर बैठे ही सुन देख लेता है, आज वह पक्षी की तरह आकाश में उड़ कर कुछ ही घण्टों में कहीं का कहीं पहुंच जाता है, समुद्र की छाती पर हजारों टन का यान दूर तक एक तिनके की तरह सुरक्षा के साथ तैरता चला जाता है, हजारों मील दूर बैठे हुए आप अपने प्रिय बन्धु से घर बैठे ही दुख-सुख की बातें कर लेते हैं, क्या यह कोई छोटी उपलब्धि है ? लोग प्राय: कहा करते हैं कि माखन तो दूध से ही निकलता है, क्या कभी पानी से भी माखन निकला है, अर्थात् उनके विचार में माखन एक बहुत बड़ी दुर्लभ वस्तु है, किन्तु क्या वे नहीं जानते कि आज मानव ने अनथक परिश्रम एवं पुरुषार्थ करके पानी के आलोडन से वह दुर्लभ अनुपम तथा आश्चर्य-जनक उपलब्धि प्राप्त की है जिसे विद्युत अर्थात् बिजली कहते हैं। मैं तो इसे भौतिक विज्ञान की आत्मा ही कहता हूं। जैसे आत्मा के बिना शरीर निर्जीव हो जाता है इसी तरह विद्युत के बिना विज्ञान का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता, आखिर मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही पानी में से विज्ञान की इस आत्मा की खोज कर सका है ? यदि वह आलसी बन कर हाथ पर हाथ धर कर बैठा रहता तो जीवन में अन्य सुख-साधनों की बात तो दूर रही शायद वह अपने आवास, वस्त्र तथा मानवोचित आहार की प्राप्ति भी न कर पाता।

वास्तव में मानव-जगत के विकास एवं समुन्नति की यदि कोई आधार-शिला है तो वह उसका पुरुषार्थ ही है। पुरुषार्थ गरीब की झोंपड़ी को महल बना देता है, कभी मरुभूमि में पानी की नहरें बहने लगती हैं, यह इन्सान की मेहनत का ही नतीजा है। समुद्रों को भर-भर कर मनुष्य उनके वक्षस्थल पर गगन-चुम्बी भवन खड़े कर देता है। मानव ने दिन-रात परिश्रम करके भूमि पर सड़कों और रेलों का जाल बिछा दिया है। इस धरती की हरी-भरी खेतियां उसी के अनवरत श्रम का सुफल हैं। बड़े-बड़े पुलों तथा बड़े-बड़े डैमों को देख कर मानव की महान शक्ति का सहसा ही परिचय मिल जाता है। सामूहिक पुरुषार्थ करने से परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का भाग्य बदल जाता है। भाग्य कोई पहले से तैयार होकर नहीं पड़ा

रहता। इधर से पुरुषार्थ का चक्र घूमता है और उधर भाग्य का घड़ा तैयार होता जाता है। पूर्व क्षण में पुरुषार्थ और उत्तर क्षण में भाग्य का निर्माण होता है।

जीवन में वैसे तो हिम्मत का ही बोलबाला रहता है, किन्तु फिर भी कभी-कभी भाग्य भी पुरुषार्थ की छाती पर चढ़ कर बैठ जाता है। उस समय अच्छे-बुरे भाग्य का फल व्यक्ति को भोगना ही पड़ता है।

जब किसी अनिष्ट को कोई रोक न सके तो समझना चाहिये कि कोई निकाचित कर्म उदय में आ रहा है, किन्तु ऐसे विकट समय में भी यदि मनुष्य पुरुषार्थ का आञ्चल न छोड़ तो वह दुर्भाग्य के प्रहारों से पर्याप्त सीमा तक आत्म-रक्षा में सफल हो जाता है। शास्त्र ने यह बात स्वीकार की है कि निकाचित कर्म का रस यदि तीव्र हो तो वह सम्यक् पराक्रम से मन्द हो जाता है और यदि कर्म की स्थिति दीर्घ हो तो वह अल्प हो जाती है। पुरुषार्थ से व्यक्ति प्रगाढ़ कर्म-बन्धनों को भी ढीला कर देता है। यदि किसी अशुभ निधत्त कर्म का बन्ध पड़ चुका हो तो सम्यक् परक्रम से उस बन्धन को नितान्त रूप से नष्ट किया जा सकता है।

माना कि कर्म बलवान् होता है, किन्तु स्मरण रहे कि आत्मा कर्म से भी अधिक बलवान् है, ऐसा यदि न माना जाये तो मनुष्य न तो विकास करके ऊंची गति कर सकता है और न ही वह कर्मों पर विजय पा कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

पुरुषार्थ के प्रसंग में जरा शक्ति तथा पुरुषार्थ का अन्तर भी समझ लेना चाहिये। जड़ में शक्ति है, किन्तु पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ वहीं होता है जहां चेतनत्व रहता है। जहां चेतनता नहीं वहां पुरुषार्थ भी नहीं। जीवन में ही चेतनता है, इसलिए पुरुषार्थ जीव ही कर सकता है। जीव अपनी शक्ति को अपने चिन्तन द्वारा जब क्रियान्वित करता है, तभी यह शक्ति पुरुषार्थ बनती है। पुरुषार्थ से जीव कर्म बान्धता है और पुरुषार्थ से ही भोगता है और

यदि किसी अशुभ कर्म का उदय होने वाला हो और व्यक्ति उसके लिए सम्यक् पुरुषार्थ करे तो वह उसके अनिष्ट फल से अपने आपको बचा भी सकता है। आत्म-निन्दा, आत्मगर्हा, आलोचना, प्रायश्चित्त तथा पश्चात्ताप के करने से व्यक्ति दुष्कर्मों से मुक्त हो जाता है। जैनधर्म में ये पांच आत्म-शुद्धि के अचूक उपाय माने गये हैं। इनसे आत्म-शुद्धि कैसे हो जाती है, यह भी समझने की बात है।

साधक जब भावपूर्वक आत्म-निन्दा आदि करने के लिए तत्पर होता है तो उस समय आत्मा में एक विशेष शक्ति का उदय होता है जिसे आत्म-शक्ति कहते हैं। आत्म-शक्ति का तथा कषाय-जन्य कर्म-शक्ति का अन्तरङ्ग में एक संघर्ष होता है। कर्म-शक्ति यदि कमज़ोर हो तो आत्म-शक्ति के एक ही झटके से वह कर्म का बन्धन टूट जाता है और यदि कर्म बलवान् हो तो धीरे-धीरे वह खुल जाता है। पाठ-जप तथा मन्त्राराधन इस दिशा में व्यक्ति की काफी सहायता करते हैं। जीवन में इनकी उपयोगिता इसी दृष्टि से मानी गई है।

मैं पहले लिख चुका हूं कि ज्योतिष-शास्त्र तथा सामुद्रिक शास्त्र के द्वारा भाग्य का पहले से पता लग सकता है। किसी भी अनिष्ट की सूचना मिलने पर व्यक्ति यदि सावधान एवं सजग हो जाए तो वह प्रकृति के उस प्रकोप को शान्त भी कर सकता है। ज्योतिष-शास्त्र इस तथ्य के साथ पूरी तरह सहमत है। इस सत्य की पुष्टि में सामुद्रिक शास्त्रियों का मन्तव्य क्या है? इसके लिए एक पुस्तक का उदाहरण अधिक उपयोगी होगा, नीचे एक अंग्रेजी पुस्तक का उदाहरण दे रहा हूं।

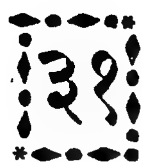
Lines in your hand do not change your actions, your actions chang lines in your pelm. Lines shows the teach of the train of your life But the train can change its teach by your Work and will your can achive that Was not andicated in your hands.

Book—How to read your hand.

by Jagat S. Bright

"आपके हाथ की रेखाएं आपके पुरुषार्थ को नहीं बदल सकतीं, किन्तु आपका पुरुषार्थ आपकी रेखाओं को अवश्य बदल सकता है। रेखाएं आपकी जीवन रूपी गाड़ी के लिए मार्ग दिखाती हैं, किन्तु गाड़ी अपना मार्ग बदल सकती है। कोई भी व्यक्ति अपनी मेहनत तथा विश्वास के बल पर वह उपलब्धि भी प्राप्त कर सकता है, जिसकी सूचना आपका हाथ नहीं देता।

पुरुषार्थ की बलवत्ता को यह उद्धरण पर्याप्त पुष्ट करता है। जैनधर्म का भी यही विश्वास है कि भाग्य से पुरुषार्थ बलवान् होता है। मनुष्य भाग्य के आधीन नहीं, बल्कि पुरुषार्थ सदैव स्वाधीन है। पुरुषार्थ की ढाल से वह दुर्भाग्य के प्रहारों से बच सकता है और पुरुषार्थ की तूलिका से वह अपने भाग्य का एक भव्य चित्र भी तैयार कर सकता है। जीवन में भाग्य की नहीं पुरुषार्थ की ही जय होती है।



विश्व के समस्त झगड़ों का मूल

व्यक्ति का क्षुद्र एवं संकीर्ण दृष्टिकोण

०

आप किसी भी जैन भाई या जैन बहिन से यदि पूछें कि जैन धर्म की साधना का मूल क्या है ? तो शायद आपको सामान्य रूप में प्राय: इस प्रकार के उत्तर मिल सकते हैं कि जैन-धर्म का मूल अहिंसा है, कोई कह देगा कि जैन-धर्म का मूल दया है। इस तरह कोई विनय को, कोई तप को जैन साधना का सर्वस्व कहेगा, किन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी आचार जैनधर्म का मूलाधार नहीं बन सकता। विद्वान् लोग तो इस तथ्य को अवश्य समझते हैं, किन्तु समाज का साधारण वर्ग यही समझता है कि यह अहिंसा, दया, विनय तथा तप आदि साधना का मल नहीं हैं, बल्कि ये तो स्वयं ही साधना के स्वरूप हैं। जैन-धर्म की साधना का मूल तो कुछ और ही होना चाहिये।

जैनधर्म का गहन अध्ययन करने के पश्चात् आपको ज्ञात होगा कि आचार्यों ने सम्यक्-ज्ञान अथवा सम्यक्त्व को ही जैन-धर्म का मूल कहा है।—"मूलम् नास्ति कुतो शाखा" इस सिद्धान्त के अनुसार सम्यक्त्व के अभाव में आचार के रूप में व्रतों तथा नियमों के वृक्ष का विस्तार जीवन की भूमि पर कदापि सम्भव नहीं हो सकता। जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, अर्थात् ज्ञान उसका गुण है, किन्तु साथ ही जैन धर्म ने उससे कर्म का प्रभाव रूप से अनादि सम्बन्ध भी स्वीकार किया है। उस कर्म के कारण परिणामी जीव

में समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार की परिणतियां होती रहती हैं। संसार के समस्त जीवों में उसने मुख्य रूप से आठ प्रकार के परिणाम देखकर उसके कारण-भूत आठ कर्मों की व्यवस्था की है। जैन-दर्शन में यह वर्णन काल्पनिक नहीं बल्कि यथार्थ है। ईश्वर को उसने अकर्ता माना है, इसलिए वह जीवन और जगत् के वैचित्र्य का ईश्वर को हेतु मानने के लिए तैयार नहीं। ऐसा मानना वह ईश्वर या भगवान की परिपूर्णता में दोष समझता है। वैसे तो यह एक पूरे ग्रन्थ का विषय है यह दो पंक्तियां तो केवल इसलिए मैंने लिख दी हैं ताकि पाठकों को यह ज्ञात हो सके कि जैन धर्म कर्म को क्यों इतनी प्रमुखता दे रहा है। जीव में जो अज्ञान है वह भी सब कर्म-दोष से ही है। उस कारण को दूर कर देने से जीवन म सम्यक्-ज्ञान अर्थात् सम्यक्त्व का उदय हो जाता है।

जैन दर्शन जीव को स्वभाव से शुद्ध तथा निर्विकार मानता है, किन्तु संसार के रंग-मंच पर जितने भी प्राणी अपना-अपना खेल खेल रहे हैं वे सब अशुद्ध हैं, विकार-युक्त हैं, इसका कारण भी शास्त्रों में कर्म को ही माना गया है। वैसे कर्म-योग से जीव के परिणाम असंख्य हो सकते हैं, किन्तु वे मुख्यतया आठ ही माने गये हैं। जैसा कि—

१. अज्ञान, २. अन्ध श्रद्धा, ३. मोह एवं मोह-ज़नित क्रोध, अहंकार, लोभ तथा कपट आदि विकार, ४. जीवन के सुखों में विघ्न तथा बाधाएं, ५. संसार में उच्च व नीच समझा जाना, ६. जीवन में सुख-दुख का होना, ७. शरीर की सुरूप अथवा कुरूप रचना और ८. आयुष्य की व्यवस्था।

जैसे ज्योतिर्विद बारह कोष्ठकों में कुण्डली बनाकर जीवन का चित्र-पट तैयार करते हैं, ऐसे ही जैन आचार्यों ने संसारी जीवनों के इन आठ भावों को देख कर संक्षेप में आठ कर्मों की व्यवस्था की है। मेरा यह लेख कर्म के विषय पर तो नहीं, किन्तु कर्म को समझे बिना सम्यक्त्व के स्वरूप को समझना भी कठिन है। जीव में जो मिथ्यात्व है वह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय का ही परिणाम है और वह दर्शन-मोहनीय कर्म का ही कार्य है। समस्त संसारी जीवों के आठ

संसारी भावों के प्रतीक रूप में कर्म भी आठ ही माने गये हैं जैसे कि—

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र तथा आयुष्य। मोहनीय कर्म दो रूपों में वर्णित हुआ है, जैसे कि चारित्र - मोहनीय तथा दर्शन-मोहनीय। जीव के सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक्त्व का विघात करके उसे मिथ्यात्व के अन्धकार में पटकने वाला वास्तव में यही दर्शन-मोहनीय कर्म है।

अब सम्यक्त्व क्या है? इसे भी समझ लें। दर्शन-मोहनीय कम के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से होने वाले जीव के विशुद्ध परिणमन को सम्यक्त्व कहते हैं। जितने-जितने अंशों में सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उपशम-क्षयोपशम तथा क्षय होता है उतने-उतने अंशों में आत्मा का निज स्वरूप प्रकट होता जाता है तथा उस सम्यक्त्व का नाम-करण भी उसी आधार पर किया जाता है। जैसे कि जहां अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ का तथा मिथ्यात्व - मोहनीय मिश्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय का उपशम होगा उसे "औपशमिक सम्यक्त्व" कहा जायेगा।

जिस समय दर्शन-सप्तक का क्षयोपशम किया जाएगा, अर्थात् उदय में आने वाली प्रकृतियों का क्षय तथा अनुदित कर्म-प्रकृतियों का उपशम होगा, उस समय जीव में 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' माना जाएगा।

जब सातों ही उपर्युक्त प्रकृतियों का सर्वथा क्षय हो जाता उस समय का सम्यक्त्व "क्षायिक सम्यक्त्व" कहलाता है।

ऊपर जो सम्यक्त्व के प्रकारों का उल्लेख किया गया है वह वास्तव में निश्चय सम्यक्त्व है। सम्यक्-दृष्टि तथा सम्यक्-दर्शन इसी के पर्यायवाची शब्द हैं। सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-ज्ञान का अभेद माना गया है। इन दोनों को जुड़वां भाई कह लीजिये या एक ही भाई के दो नाम समझ लीजिये।

आप भी देखते हैं और मैं भी देखता हूं कि क्या दिगम्बर क्या श्वेताम्बर सभी अपने आपको सम्यक्त्वी तथा शेष सारी दुनिया को

मिथ्यात्वी कहते रहते हैं। उनका आशय यह है कि जो उनके विश्वासों तथा धारणाओं से सहमत नहीं और जो जैन नहीं है वह मिथ्यात्वी है। वे यह समझते हैं कि सम्यक्त्व कहीं मन्दिरों तथा स्थानकों की दीवारों में बन्द है, या कहीं दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व की परिधियों में आबद्ध हैं। उन सबको समझना होगा कि सम्यक्त्व पूजा तथा सामायिक के बाह्य रूपों में निहित नहीं है और न ही वह चौड़ी तथा लम्बी मुख-वस्त्रिका की सीमाओं में सीमित है, ये तो साधना के सब बाहरी रूप हैं। सम्यक्त्व-प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। वह तो आत्मा का विशुद्ध परिणाम है और उस का वास्तविक केन्द्र आत्मा ही है।

आप किसी भी जैन से पूछें कि सम्यक्-ज्ञान क्या है? और सम्यक्-दृष्टि किसे कहते हैं? सम्यक्त्व का सच्चा स्वरूप क्या है? क्या यह जानते हैं आप? उत्तर मिलेगा क्यों नहीं, हम सब जानते हैं। सच्चे देव, सच्चे गुरु तथा सच्चे धर्म को जान कर उस पर विश्वास करना ही सम्यक्त्व है। इसके सम्बन्ध में सम्यक्त्व-सूत्र भी तो है—

अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण - पण्णत्तं तत्तं, इअ समत्तं मए गहियं।

इस सम्यक्त्व सूत्र में तीन ही तो प्रतिज्ञायें हैं—

(१) अरिहन्त मेरे देव हैं।
(२) सच्चा साधु मेरा गुरु है।
(३) जिन भगवान का कहा हुआ तत्व ही मेरा धर्म है।

प्रायः दिगम्बर तथा श्वेताम्बर के सम्यक्त्व का स्वरूप एक जैसा ही है, किन्तु उन दोनों को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि देव गुरु तथा धर्म का श्रद्धान तो केवल व्यवहार-सम्यक्त्व है, निश्चय-सम्यक्त्व नहीं, क्योंकि निश्चय सम्यक्त्व तो परिणामों की शुद्धि के तारतम्य भाव पर आधारित है, न कि बाहर को कोरी श्रद्धा पर।

फिर इसमें दूसरी बात और भी है। जहां तक देव के स्वरूप का प्रश्न है वह प्रायः जैनों के सभी सम्प्रदायों में एक सा ही है। कहीं-कहीं थोड़ा-सा अन्तर हो जाता है, किन्तु वह भी साम्प्रदायिक लोगों

के संकीर्ण चिन्तन का ही परिणाम है, अन्य कुछ नहीं। इसके सम्बन्ध में फिर कभी विस्तार से लिखूंगा।

धर्म भी सबका मूलतः एक ही है। सभी जैन अहिंसा तथा तप को धर्म मानते हैं और धर्म के क्षमा निर्लोभता, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम तप, त्याग तथा ब्रह्मचर्य इन दस लक्षणों को जैनों के सभी मतों ने धर्म के स्वरूप में स्वीकार किया है।

जहां तक देव और धर्म की बात है वहां तक कोई विशेष गड़बड़ नहीं होती, किन्तु साधु अर्थात् गुरु के स्वरूप को लेकर हम सम्यक्त्व को काफी क्षति पहुंचाते रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक साधु अपने सम्प्रदाय में तो गुरु माना जाता है और दूसरों की दृष्टि में वह गुरु तो क्या साधु भी नहीं समझा जाता। अपने घर का पीतल भी सोना और दूसरे के घर का सोना भी पीतल क्या यह सम्यक्-दृष्टि है? या कि द्वेष-दृष्टि? जहां द्वेष है वहां सम्यक्त्व कैसे टिक सकता है? सम्यक्त्व का अर्थ है—सत्य को देखना, समझना तथा उसे मानना। किन्तु द्वेष सत्य को नहीं मानता वह तो अभीष्ट पक्ष को ही मान कर उसके आगे झुकता है। इस तथ्य को समझाने के लिए एक उदाहरण देना अधिक उपयुक्त रहेगा।

एक स्थानकवासी साधु किसी भी कारण से चौड़ी मुख-पत्ती छोड़ कर तेरहपन्थ में जा कर दीक्षा ले ले और लम्बी मुख वस्त्रिका लगा ले तो वह तेरहपंथियों का गुरु बन जाएगा और वे सब बड़ी श्रद्धा से उसके आगे नमन करने लगेंगे। यदि कोई तेरहपन्थी साधु उधर से वैमनस्य होने पर इधर स्थानकवासी सम्प्रदाय में आ जाए तो स्थानकवासी उसे अपना गुरु मानकर उसका चरण-स्पर्श करके अपने को धन्य मानने लगेंगे और यदि इसमें कोई दण्ड-कमण्डल गोच्छक तथा कर-वस्त्रिका स्वीकार कर श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय में जाकर दीक्षित हो जाए तो वे लोग उसके आगे अपना मस्तक झुका देंगे और उसके जयकारों से आकाश के प्रत्येक छोर को गुंजा देंगे, क्योंकि अब वह उनका गुरु हो गया है। जब वह किसी अन्य सम्प्रदाय में था तब वह उनका कुछ

नहीं लगता था, उस समय चरण-स्पर्श तो क्या वे उसका दर्शन करना भी पसन्द नहीं करते थे।

यदि इनमें से कभी कोई महानुभाव सब कुछ छोड़-छाड़ कर दिगम्बर-चर्या को धारण करके दिगम्बर मुनि बन जाए तो दिगम्बर समाज उसे अपना ही गुरु मानने लगेगा और बड़ी श्रद्धा से उसकी चरण-रज मस्तक पर चढ़ा कर अपने आप को धन्य मानने लगेगा। यह सब क्या है ? क्या यही सम्यक्त्व है ? जो लोग बार-बार सम्प्रदाय तथा गण बदलते हैं, क्या आप समझते हैं कि वे सम्यक्त्व में स्थिर होते हैं ? यदि आप ऐसा मानते हैं तो यह आपकी भूल है। जो भीतर से स्वयं अस्थिर हैं वे आपको क्या स्थिर करेंगे ? और उनके नमन तथा पूजन से आपका सम्यक्त्व भी निर्दोष कैसे रह पाएगा ? क्योंकि आपका सम्यक्त्व तो सम्प्रदाय, वेश, व्यक्ति तथा उसके बाह्याचार के घेरों में ही बन्द है।

जो लोग सम्प्रदाय बदलू होते हैं उनमें ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की प्रतिष्ठा नहीं होती। केवल वे अपना रूप बदल कर साधु के चारित्र का अभिनय ही करते हैं और अभिनय तो केवल एक खेल है, नाटक है, एक सरकसी जीवन का कौशल है। जिन लोगों का सम्यक्त्व वेश तथा सम्प्रदाय से बन्धा रहता है उन लोगों ने सम्यक्त्व को एक खेल ही बना रखा है। ऐसे मतान्ध लोग प्रायः निश्चय-सम्यक्त्व से कोसों क्या जैन-धर्म के अनुसार यदि योजनों दूर कहा जाये तो भी उपयुक्त ही होगा।

जो लोग निश्चय-सम्यक्त्व के स्वरूप में निष्ठा रखते हैं और उसके स्वरूप को ठीक तरह से समझते हैं वे यह भी जानते हैं कि सत्य एक देश-व्यापी नहीं है। वह तो सर्वव्यापी है। उसका सम्बन्ध आत्मा तथा उसके क्षयोपशम भावों से है, न कि वेश तथा क्रिया-विशेष से। इसलिए ऐसे लोग संकीर्ण नहीं होते, वे उदार होते हैं, उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी होता है। ऐसा ही व्यक्ति अनेकान्तवाद का उपासक हो कर अखण्ड एवं शाश्वत सत्य को उपलब्ध कर सकता है।

जिनका सम्यक्त्व पक्षवाद की पूंछ से बंधा हुआ है क्या वे सत्य को सकेंगे ? वे तो सत्य को देखना भी उचित नहीं समझते। किसी भी वस्तु को पाने से पहले उसका देखना, समझना तथा उसका आदर करना आवश्यक होता है। जो कदाग्रह में उलझ कर सर्वत्र तथा सदैव सत्य की अवहेलना ही करते रहते हैं, वे सत्य को प्राप्त कैसे कर सकते हैं ? कदापि नहीं।

मैं इस सन्दर्भ में गृहस्थों की अपेक्षा साधु-समाज का अधिक दोष समझता हूं। वैसे साधुओं में भी वहुत से साधु उदार तथा सत्यानुरागी होते हैं, किन्तु उनमें रूढ़िवादी तथा शुष्क क्रियाकाण्डी ही अधिक मिलते हैं। जो अपने का उत्कृष्ट तथा दूसरों को निकृष्ट समझते रहते हैं। उनको यह शायद ज्ञान नहीं कि भगवान ने उत्कृष्ट मंगल तो केवल अहिंसा संयम तथा तप को ही कहा है। बाहर की क्रियाओं की उत्कृष्टता तो केवल बाह्याचार है और यदि उसमें दिखावे की भावना प्रधान हो जाये तो वह जीवन का दम्भ बनकर ही रह जाना है। उससे आत्मा का कुछ भी कल्याण व उत्थान नहीं होता। मैंने ऐसे वहुत से साधक देखे हैं जो क्रियावाद की धरती पर खूब अकड़ कर रहते हैं। उसके बल पर वे भोले-भाले लोगों में अपनी झूठी प्रतिष्ठा बना लेते हैं। उन्हीं भक्तों के सामने वे कभी-कभी दूसरे साधकों की निन्दा तथा आलोचना भी करने लगते हैं। भाषा-समिति का भी उन्हें विशेष विवेक नहीं रह जाता है। इस तरह समाज में कलह-विद्वेष तथा पारस्परिक घृणा का अशोभनीय वातावरण बन जाता है। समाज का संगठन दलबन्दी में आकर विखण्डित होने लगता है। क्या अहिंसा संयम तथा तप का यही स्वरूप है ?

जहां घृणा तथा दूसरे को दुखित तथा व्यथित करने की भावना है, वहां अहिंसा कैसी ? जहां मन, वाणी तथा काया पर अपने विवेक का अंकुश नहीं वहां संयम कैसा ? और जहां आसक्ति हो तथा दूसरों की प्रतिष्ठा तथा उन्नति को देखकर मन में ईर्ष्या तथा अहं उत्पन्न हो जाये तो उस अन्तस में तप कहां ? जीवन की ऐसी विषम स्थिति में सम्प्रदाय पक्ष तथा बाहरी क्रियाओं का मिथ्या अहंकार क्या

पार कर देगा ? अपने-अपने सम्प्रदाय में एक दूसरे के प्रति क्या-क्या भावनाएं रहती हैं, यह तो उसका चित्र मात्र है, किन्तु एक सम्प्रदाय के साधुओं का दूसरे सम्प्रदाय के साधुओं के प्रति व्यवहार तथा उनकी एक दूसरे के प्रति दृष्टियों का अवलोकन करें तो उसका चित्र देखकर आपको और भी बीभत्स दृश्य दिखाई देगा और फिर इसमें दुःख तथा आश्चर्य की बात यह है कि यह सब गड़बड़ समकित के नाम पर हो रही है। जो साधु सार्वजनिक मंचों पर बैठ कर विश्व-प्रेम, विश्व-मैत्री, विश्व-बन्धुत्व, विश्व-धर्म तथा विश्व-एकता की बातें करते हैं और जनता को लगता है कि ये सन्त बोल क्या रहे हैं, मानो अमृत के बादल ही बरस रहे हैं, फिर न मालूम वे अमृत के बादल अपने-अपने सम्प्रदाय की अंधेरी गुफा में बैठ कर विद्वेष का विष क्यों उगलने लगते हैं ?

आजकल मंचों पर विश्व से छोटी तो कोई बात होती ही नहीं और अपने मन के चिन्तन की यह दशा है कि वह अपनी साम्प्रदायिक सीमा से आगे निकलता नहीं। समाज की वर्तमान दशा को देख कर मुझे तो ऐसा लगने लगा है कि अब एक कुल, गण, गच्छ, परिवार या सम्प्रदाय की तो बात ही क्या है, समाज का एक-एक साधु स्वयं सम्यक्त्व ही बन गया है। जो उसको माने वह सम्यक्त्वी और जो उसे न माने वह मिथ्यात्वी।

इस प्रकार सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक्-दर्शन झूठे व्यक्तित्व तथा साम्प्रदायिकता के मिथ्या व्यामोह में फंस कर अत्यन्त क्षुद्र हो गया है। निश्चय नय में तो सम्यक्त्व विराट् ही रहेगा, क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध विराट् सत्य की उपलब्धि से है, किन्तु व्यक्तिवाद एवं मतवाद के घेरे में आकर वह अवश्य छोटा हो जाता है। विश्व के समस्त कलहों एवं झगड़ों का मूल व्यक्ति का सत्य के प्रति क्षुद्र एवं संकीर्ण दृष्टिकोण ही है। ●

३२

आइये दुःख को समझें और सुख के मूल स्रोत को खोजें

संसार का प्रत्येक व्यक्ति सदैव सुखमय जीवन की अभिलाषा रखता है। उसके जीवन का समस्त पराक्रम इसी दिशा में जीवन भर सक्रिय बना रहता है। मनुष्य भगवान के दरबार में भी सुख-प्राप्ति की कामना लेकर उपस्थित होता है और धर्म-ध्यान के पावन क्षणों में भी वह सुखी जीवन को मंगल-कामनायें करते हुए साधना के लोक में प्रवेश करता है। दुनिया के हर ऐश्वर्य तथा वैभव के पीछे मानव केवल सुख के लिये ही दौड़ रहा है, सुख की लालसा से ही वह संसार के मोहक सम्बन्धों के मोह-पाश में बन्धा रहता है। जीवन के प्रत्येक लौकिक कृत्य की खिड़की से वह सुख के लक्ष्य की ओर ही निरन्तर झाँकता रहता है, किन्तु सुख सबको नसीब नहीं होता। जीवन का एक लम्बा मार्ग पार करने पर भी प्रायः लोग सुख के निकट नहीं पहुंच पाते। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का समाधान ही मनुष्य-जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य है?

जीवन का सुख से दूर रहने का अर्थ होता है दुख के पास रहना, क्योंकि सुख का अभाव दुख के अस्तित्व का जीवन में प्रमाण बन जाता है। जैसे दिन की समाप्ति रात्रि के आगमन की सूचना है, ठीक इसी तरह जीवन में सुख की विदाई दुःख की काली रजनी का आमन्त्रण बन जाती है।

जीवन का चान्द जब दुःख के बादलों में छिप जाता है तो फिर जीवन में सुख की खोज और भी अधिक जोर पकड़ लेती है। सुख की यही तड़प मनुष्य को मन्दिरों के द्वार पर ला कर खड़ा कर देती है, गंगा का शान्त किनारा उसे दुख के क्षणों में ही याद आता है, मानव का बोझिल मन कभी घर तथा दुकान को ताला लगा कर तीर्थ-यात्रा के लिये निकल पड़ता है। दुखके क्षणों में ही पहाड़ों की नीरव गुफाएं कभी-कभी हृदय को अधिक प्यारी लगने लगती हैं।

कभी घर के सुख-साधनों की सुखद छाया में रह कर भी सुख नहीं मिलता, तो कभी झोंपड़ी के तिनकों की छाया में रहकर तथा एक मिट्टी के कच्चे घर की कच्ची दीवारों के सहारे बैठकर भी एक अद्वितीय सुख की अनुभूति होने लगती है, ऐसा क्यों ?

हमें सोचना होगा कि सुख वस्तुतः है क्या ? किस परिभाषा से हमें इसकी पहचान हो सकती है ? इसका केन्द्र बाहर है या कहीं अन्तरङ्ग में है ? किसी व्यक्ति तथा स्थान-विशेष से सुख का सम्बन्ध रहता है या यह साधन-निरपेक्ष रह कर चित्त की किसी अवस्था-विशेष में उत्पन्न होता है ? सुख की अनुभूति कभी साधनों के अभाव में भी होती है और कभी विपुल सुख-साधनों के भण्डारों में बैठ कर भी नहीं होती।

प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति जब अभाव-ग्रस्त होता है तो वह अपने आपको एक दीन-हीन की तरह मानने लगता है। वह अपनी अन्तर्वृत्तियों से प्रेरित होकर अपनी दीनता पर विजय पाने के लिये खूब पुरुषार्थ करता है। भाग्य जब साथ देता है तो उसका पुरुषार्थ सफल हो जाता है, तब वह समस्त सुख-सामग्रियों से सम्पन्न बन जाता है। पुण्य का जब उदय होता है तो उसका फल जीवन के अंश अंश में सुख का माधुर्य भर देता है। वह जीवन की नौका को सुख के सागर में दिन-रात चलाता रहता है।

जीवन में कभी ऐसा समय भी आ जाता है जब भाग्य करवट बदलता है, पुण्य का सूर्य अस्त होने लगता है और पाप का धूमकेतु

उदित हो जाता है, जीवन निरा रेगिस्तान बन जाता है। तब नौका-विहार तो क्या दुख की तपती रेत पर चलना भी दुष्कर हो जाता है। जीवन का हरा-भरा वृक्ष ठूंठ बन जाता है। उस पर मित्रों तथा बन्धुजनों की चहक फिर कभी सुनाई नहीं देती। बस, एक निराश अत्यन्त उदास जीवन एक ठूंठ की तरह दुनिया के वीराने में खड़ा दिखाई देता है।

पहले जो दुख था वह सुख-साधनों के अभाव के कारण से था, किन्तु जब सुख-साधनों के छिन जाने के पश्चात् जीवन में दुख का उदय होता है वह वियोग - जन्य होता है। अभाव - जन्य दुख से वियोग-जन्य दुख सहस्र गुणा अधिक होता है। सुख के कल्पवृक्ष के नीचे बैठने के पश्चात् दुख के बबूल के नीचे बैठना कठिन हो जाता है। कोई व्यक्ति झोंपड़ी में सारा जीवन भी गुजार दे तो भी उसे दुख नहीं होता, किन्तु गगन-चुम्बी राज-भवनों के सुख का उपभोग करने के बाद फिर घास-फूस की झोंपड़ी में आकर रहना पड़े और वह भी विवशता के क्षणों में तो वहां पर व्यक्ति नरक तुल्य दुख का अनुभव करने लगता है। अभाव में तो केवल इच्छा का दुख रहता है, किन्तु वियोग में इच्छा के साथ स्मृति भी मिल जाती है। सुख की स्मृति इच्छा-जन्य दुख को अनन्त गुणा और बढ़ा देती है।

इस चिन्तन से यह निष्कर्ष निकला कि अभाव में तो दुख इच्छा से पैदा होता है और सुख-साधनों के न मिलने से आसक्ति और तृष्णा से दुख का जन्म होता है। जब अशुभ कर्मों के उदय से सब सुख-साधन नष्ट हो जाते हैं और मानव फिर अभाव - ग्रस्त हो जाता है तो उस समय वियोग व्यक्ति को मूर्च्छित कर देता है।

ऐसी स्थिति में एक प्रश्न सहसा उठता है कि मानव के सुख का केन्द्र है कहां है ? और वह कब और कैसे प्राप्त हो सकता है ? आइये हम सबसे पहले सुख के केन्द्र की खोज करें।

हमें सबसे पहले एक बात समझ लेनी चाहिये कि जो ज्ञान का केन्द्र है वह ही दुनिया में सुख का केन्द्र है। ज्ञान और सुख का अविनाभाव

सम्बन्ध है। इन दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भगवान महावीर ने अपनी वाणी में कहा है कि—

जावन्त विज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख-संभवा।
लुप्पन्ति बहुसा मूढा, संसारम्मि अनन्तरे॥

अर्थात् जितने भी दुनिया में अज्ञानी लोग हैं सब दुख उन्हें ही होते हैं। बहुत से मूढ़ जीव अनन्त संसार में भ्रमण कर रहे हैं और दुख उठा रहे हैं।

उपर्युक्त सूत्र के भाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञान ही दुख का मूल है। जब अज्ञान से दुख उत्पन्न होता है तो यह सिद्धान्त स्वयं ही बन जाता है कि ज्ञान ही सुख का बीज है। जहां बीज होगा वहां किसी दिन फल तो आयेगा ही, जहां बीज ही नहीं वहां फल की आशा करना केवल मूढ़ता की पराकाष्ठा ही समझी जायेगी।

एक प्रश्न और यहां उठ सकता है वह यह है कि यदि सुख का केन्द्र ज्ञान है तो ज्ञान का केन्द्र कहां है ? जो ज्ञान का केन्द्र होगा वह ही सुख का केन्द्र समझा जायेगा। शास्त्रकारों ने आत्मा को ही ज्ञान कहा है।

अनुयोग-द्वार सूत्र में भगवान इस तरह बोले हैं—

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।

जो आत्मा है वह ही विज्ञान है और जो विज्ञान है वह ही आत्मा है।

इन वचनों से सिद्ध होता है कि जैन धर्म ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति में ज्ञान का केन्द्र आत्मा को ही माना गया है। आत्मा ही स्व तथा पर का ज्ञाता तथा द्रष्टा है।

एक बात और स्पष्ट कर देना उपयुक्त रहेगा। उसको समझे बिना ज्ञान और अज्ञान का पता नहीं लग सकेगा और ज्ञानी और अज्ञानी की परख करनी भी कठिन होगी।

सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान तो संसार के प्रत्येक जीव में है, किन्तु

सभी प्राणी ज्ञानी जैसा आचरण नहीं करते, संसार में जितने भी पाप होते हैं वे सब अज्ञान-दशा में ही होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि जब सब जीवों में सत्ता रूप में ज्ञान है तो फिर यह अज्ञान कहां से आ जाता है ? इस पहेली को ज़रा समझना पड़ेगा।

जैन धर्म के अनुसार संसार का हर प्राणी कर्म-युक्त है, सभी कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। मोह जीव के ज्ञान को अपने केन्द्र में अवस्थित नहीं रहने देता। मोह में भी लक्ष्य तो सुख का ही रहता है, किन्तु सुख का मार्ग बदल जाता है। जीव राग की दशा में बहिर्मुखी बन जाता है। राग से फिर द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष से कषायों का जन्म होता है। ये कषाय ही व्यक्ति के ज्ञान को अज्ञान बना देते हैं। कषाय कोई भी हो उसके मूल में मोह तो रहता ही है। यह मोहावरण ही जीव की अज्ञान दशा है। यह अज्ञान ही दुख का मूल कहा जाता है। अज्ञान की स्थिति में व्यक्ति के सुख का केन्द्र मोह-जन्य होने से वह बाहर के जगत् में बन्ध जाता है, क्योंकि कषाय और विषय का नित्य सम्बन्ध है।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चार कषाय हैं और शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये पांच विषय हैं। ये सब पुद्गल के गुण हैं, क्योंकि यह समस्त जगत् पुद्गलमय है, इसलिए ये सब गुण जगत् के इस विशाल प्राङ्गण में ही उपलब्ध होते हैं। मनुष्य के हृदय में जब मोह राग तथा लोभ उत्पन्न होता है तब इन्द्रियां उपर्युक्त गुणों की ओर आकर्षित होती हैं। गुण और इन्द्रियों के आकर्षण को विषय कहते हैं। विषय-लोलुपी मनुष्य विषय को तो नहीं छोड़ सकता, किन्तु वह विषयों की प्राप्ति के लिए सत्य मार्ग को छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। वैसे तो प्रत्येक विषयासक्त व्यक्ति का अपना ही जीवन इसके लिए एक सजीव उदाहरण है, किन्तु फिर भी वह सदैव यही चाहता है कि उसे अन्य व्यक्तियों के जीवनों से उद्बोधन दिये जायें, क्योंकि दूसरों के उदाहरण अपने लिये अधिक प्रेरक सिद्ध होते हैं।

मैंने ऊपर लिखा है कि विषय और सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं

है। इस तथ्य की पुष्टि में कोणिक तथा दुर्योधन के उदाहरण ज्यादा प्रेरक हो सकते हैं।

जैन जगत् में कोणिक का नाम काफी प्रसिद्ध है। वह भगवान महावीर का भक्त था। धर्म-सभा में आगे बैठ कर वह उपदेश सुना करता था, किन्तु जब उसके सिर पर हार और हाथी के लोभ का भूत सवार हुआ तो वह उस मोह में पागल हो गया। राज्य का विशाल वैभव उतना उसे सुख नहीं दे सका जितना कि हार तथा हाथी के अभाव ने उसके चित्त को दुखित कर दिया। इस लोभ में वह अपने भाइयों के प्यार और अपने नाना चेटक के दुलार को तो भूला हो, साथ ही भगवान महावीर तथा उनके उपदेशों को भी भूल गया। जो सत्य के स्रोत को ही भूल जाए भला उसके जीवन में सत्य कैसे आ सकता है ? कदापि नहीं आ सकता।

दुर्योधन के मन को भ्रमित करने वाला भी लोभ ही था। जिस अन्तर में लोभ बैठा हो वहां किसी भी सद्गुण को जाने का साहस नहीं होता। ऊंचे से ऊंचे उपदेश तथा शिक्षण का उस पर कोई असर नहीं होता, उसे अपना हित-चिन्तक भी शत्रु के रूप में नजर आने लगता है। कोणिक महावीर को भूला था और दुर्योधन भूल गया अपने द्वार पर शान्ति-दूत बन कर आनेवाले श्री कृष्ण की महानता को।

लोभ से प्रेरित मनुष्य का हृदय अधिक से अधिक सुख-साधन जुटाने में संलग्न हो जाता है। जब भाग्य का सहयोग रहता है तो व्यक्ति का पुरुषार्थ शीघ्र सफल हो जाता है, किन्तु कभी-कभी जब भाग्य साथ नहीं देता तो फिर घोर श्रम करने के बाद भी उसे निराशा का ही मुंह देखना पड़ता है। यह जीवन का असफल प्रयास भी कम दुख-दायी नहीं होता, क्योंकि कामना-संतप्त हृदय इच्छा की अपूर्ति में बिच्छुओं के डंक की पीड़ा से भी अधिक पीड़ा का अनुभव करता है।

कर्म तथा भाग्य के सन्मुख यदि व्यक्ति कभी अपराजित बन कर

खड़ा रहे तो ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि यह उसके आत्म-बल का चमत्कार है। कभी-कभी व्यक्ति के अन्तरङ्ग में उस का मिथ्या अहंकार भी काम करता है। आत्म-बल तथा अहंकार में आकाश-पाताल जैसा अन्तर रहता है। आत्म-बल की स्थिति में व्यक्ति अभाव के दुख को सहिष्णु बन कर सहन करता है, जबकि अहंकारलीन होकर व्यक्ति अपने बलाबल का विचार किये बिना ही अभाव के गढ़ तोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। वह अहंकार के नशे में यह भूल जाता है कि दुनिया में कर्म-फल भी इसी सृष्टि का एक अटल विधान है जिसका कभी नतमस्तक होकर तथा मौन रह कर सन्मान करना ही पड़ता है। अहंकार में आकर व्यक्ति का मन धैर्य, सन्तुलन तथा साम्य खो बैठता है और उसके पगों के नीचे से सत्य-मार्ग निकल जाता है और फिर वह असत्य पथ पर चल पड़ता है। असत्य जीवन में माया को निमन्त्रण देता है। इस तरह लोभ से अहंकार, अहंकार से असत्य तथा असत्य से जीवन में माया की सृष्टि होती है।

लोभी व्यक्ति जब सीधे ढंग से अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाता तो फिर वह छल का आश्रय लेता है। यदि जीवन में अन्तराय कर्म का क्षयोपशम हो तो फिर पाप-पथ पर भी व्यक्ति को ऐश्वर्य-लाभ हो जाता है। जिस को सत्य-पथ पर चलने से लाभ न हो और उसे छल-कपट करके कुछ हाथ लगने लगे तो उसकी निष्ठा सत्य से हट कर असत्य पर आ जाती है। छल-कपट से अर्जित वैभव आसुरी होता है, वह व्यक्ति को बाहर से सम्पन्न बनाकर भी उसे अन्तरङ्ग से अत्यन्त दीन बना देता है। जैसे छाननी में से पानी निकल जाता है, इसी तरह उसके जीवन से सभी सद्‌गुण विदा हो जाते हैं। सद्‌गुणों की विदाई जीवन को विकारों की क्रीड़ा-स्थली बना देती है और वैभव का मिथ्या अभिमान सब विकारों का राजा बनकर हृदय सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है।

अभिमान का सहोदर भाई क्रोध तो है ही। ये दोनों मिलकर मनुष्य के संचित वैभव को धीरे-धीरे नष्ट कर देते हैं और जीवन के उपवन में फिर पतझड़ का आधिपत्य हो जाता है।

हैं। इष्ट-वियोग के अनिष्ट क्षणों में भी व्यक्ति केवल आत्म - चिन्तन का कवच पहन कर ही दुख से छूट सकता है। वह चिन्तन कुछ इस प्रकार का हो सकता है जैसे कि 'संयोग कोई भी नित्य नहीं हो सकता। यदि जीवन में संयोग स्थायी हो जायेगा तो फिर वियोग की क्या सत्ता रह जायेगी? यदि संसार में वियोग नहीं रहेगा तो फिर अनिष्ट का वियोग भी कैसे सम्भव हो सकेगा? संयोग और वियोग प्रकृति का एक अनादि विधान है। हर व्यक्ति को इसके आगे सिर झुकाना पड़ता है। प्रकृति अपने नियम का दृढ़ता से पालन करती है कोई भी उसे अपनी मुट्ठी में नहीं बांध सकता।

सारी सृष्टि उत्पत्ति तथा विनाश का एक अन्तहीन क्रम है और वह संयोग तथा वियोग पर ही आधारित है। वियोग की दुखद वेला में उपर्युक्त चिन्तन शोकाकुल मन के लिए सम्बल रूप हो सकता है। चिन्तन के इस सलिल से शोकानल बुझ सकती है। जैसे दूध के लिये रोने वाला बच्चा मां की गोद में आकर चुप हो जाता है, ऐसे ही चिन्तनशील मन आत्मा के केन्द्र में आ कर अपना शोक भूल जाता है और आत्मा में अवस्थित होने पर तो उसे अनुपम सुख की अनुभूति होने लगती है।

यदि मनुष्य जीवन की प्रत्येक स्थिति में इस प्रकार के चिन्तन का आश्रय लेकर चले तो उसके जीवन को दुख स्पर्श नहीं कर सकेगा। उसका जीवन सुख शान्ति तथा आनन्द की सदैव क्रीड़ा - भूमि बना रहेगा। ●



पर्युषण की पावन वेला में चिन्तनीय एवं मननीय



पर्युषण पर्व प्रति वर्ष आता है और आकर आठ ही दिनों में वह चला भी जाता है। आना और जाना संसार का एक नियम ही है और इस आवागमन की महत्ता भी केवल व्यवहार-जगत् में है, निश्चय-लोक में इसकी कोई सत्ता ही नहीं। न कुछ आता है और न कुछ जाता है, किन्तु भौतिक जगत् में एक परिवर्तन अवश्य होता रहता है। नवीन पर्याय का उदय और पुरातन पर्याय का विलय ही लौकिक जगत् में आना और जाना कहा जाता है। काल एक अनादि-अनन्त तथा अखण्ड सत्ता है और वह अविच्छिन्न और अविभाज्य है। तिथि तथा वार आदि का उदयास्त केवल औपचारिक तथा व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं।

उपर्युक्त नियम के अनुसार काल के इस अनन्त प्रवाह में पर्युषण पर्व असंख्य वार आकर चला गया, किन्तु पर्वों के आने-जाने से क्या होता है? पर्व का वास्तविक आगमन तो साधक के मानस-धरातल पर होता है। वहीं आत्मा का नित्य पर्व है। उससे बड़ा पर्व का उल्लास दुनिया में और कोई भी हो नहीं सकता। यह ऐसा पर्व है जो आकर कभी जाता ही नहीं। आना भी कहां से है? इसका स्थान निजात्मा से कहीं बाहर तो है ही नहीं। यह तो स्वयं अपने भीतर ही है। केवल विचारों के उपशमन तथा क्षय-वेला में ही उसके

आनन्द का उदय होता है। वह ही वास्तव में आत्मा का पर्व है-- जीवन का शाश्वत पर्व जिसे सच्चे अर्थों में लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक पर्व कहा जाता है।

यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि कोई भी दिन व तिथि अपने आप में शुभ-अशुभ तथा मंगल व अमंगल करने की बिल्कुल क्षमता नहीं रखती है, वह किसी को पावन और किसी को अपावन बनाने में भी नितान्त असमर्थ है, अशक्त है।

संसार में हम देखते रहते हैं कि एक ही समय में एक व्यक्ति हंसता है और दूसरा रोता है। एक इस संसार से जा रहा है तो दूसरा एक नया रूप लेकर इस दुनिया में आ रहा है। एक विफल हो रहा है और दूसरा सफलता के शिखर पर चढ़ रहा है। एक पाप-रत है और दूसरा प्रभु के चरणों में तन्मय होकर झूम रहा है, अर्थात् भक्ति-रत है। इस प्रकार एक ही समय का हम भिन्न-भिन्न प्राणियों पर अलग-अलग प्रभाव देखते हैं। समय के हृदय में तो किसी प्रकार का पक्षपात व राग-द्वेष नहीं, यदि वह कुछ करने की शक्ति रखता तो उसका प्रभाव सब पर एक समान ही होता, किन्तु हम एक ही तिथि और एक ही वार में सभी प्राणियों की क्रिया, कर्म तथा फल में भेद देखते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जीव की अपनी नाना परिणतियां होती हैं। कभी वह शुभ परिणति में आता है तो कभी अशुभ परिणति में प्रवेश करता है। उनके अनुसार ही जीव के संकल्प, बुद्धि, इन्द्रियों तथा शरीर का व्यापार होता है और भिन्न-भिन्न कर्मों का उदय तथा अस्त उसके जीवन में होता रहता है। जीव की शुभाशुभ परिणतियों का सम्बन्ध हम समय के साथ जोड़ देते हैं तो इस तरह हम समय पर शुभता तथा अशुभता का आरोप करने लगते हैं। अपने प्रशस्त-अप्रशस्त परिणमन का कारण स्वयं अपने को न मान कर उसका कर्त्ता समय को मान लेते हैं और इसी मिथ्या धारणा को लेकर हम समय को अच्छा-बुरा समझने की भयंकर भूल के शिकार हो जाते हैं।

जैन जगत् में भादों शुक्ला पञ्चमी सर्वोत्तम तिथि मानी जाती है। जरा ठण्डे मस्तिष्क से विचार कीजिये कि इसकी सर्वोच्चता का आधार क्या है? क्या यह तिथि अपने आप में ही उत्तम है या हम जैन लोग इसे अपनी श्रद्धा एवं अपने धर्म-विश्वास के आधार पर ही इसे उत्तम मान लेते हैं? यदि यह तिथि अपने आप में ही उत्तम हो, पवित्र हो एवं शुभ हो तो भादों शुदि पंचमी के आते ही उस दिन संसार में कहीं भी पाप नहीं होना चाहिये। उस तिथि से प्रभावित क्षेत्र में सर्वत्र धर्म, संयम तथा ज्ञान की आराधना होने लगनी चाहिये।

परन्तु तिथि का अवतरण होते ही सारी दुनिया में तो क्या स्वयं जैन जगत् में भी उस दिन पूर्ण शुद्धि का वातावरण नहीं बन पाता। मनों में वैर-विरोध, परस्पर कलह तथा प्रतिष्ठा से अद्भुत संघर्ष चलते ही रहते हैं। उपवास, पौषध, सामायिक तथा प्रतिक्रमण के साथ-साथ दूसरों के जीवन पर कई प्रकार के कुत्सित एवं घृणित आक्रमण भी होते रहते हैं। संवत्सरी की आराधना के पीछे कितने ही प्रपञ्च पलते रहते हैं। वास्तविता के स्थान पर व्यावहारिकता तथा आध्यात्मिकता के स्थान पर सामाजिकता की प्रतिष्ठा हो गई है।

जिन्हें पर्युषण तथा संवत्सरी पर अन्तरङ्ग से श्रद्धा है, वे उस दिन अपने आपको विशेष रूप से संयम में रखते हैं, मनों से मौन की ओर मुड़ते हैं, प्रवृत्ति से निवृत्ति में आते हैं। विभाव से हटकर स्व-भाव में स्थित होते हैं, किन्तु साधक के विचार-जगत् का यह रूपान्तर केवल तिथि के प्रभाव से नहीं होता. यह होता है पर्युपण तथा सम्वत्सरी के प्रति अपनी श्रद्धा की शक्ति के बल पर। जिसमें जितनी श्रद्धा रहती है, उसमें उतना ही अधिक मंगल एवं आत्मिक भावों का प्रस्फुटन होता है। आत्म-भावों की जिसमें जितनी तीव्रता होती है वह उतना ही अधिक कर्मों का क्षय करके आत्म-स्वरूप में स्थित होता है। यह सब आत्म-विश्वास का चमत्कार है।

पर्युषण के आठ दिनों की बजाय यदि पर्युषण पर्व के आठ हजार दिन भी हों तो बिना श्रद्धा के वह किसी का कुछ भी संवार नहीं सकते,

सम्यक् श्रद्धा के अभाव में जीवन की समस्त बाह्य साधना केवल एक प्रदर्शन है। जिससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं मिलता। साधना तो की नहीं जाती, वह तो स्वतः होती है। वह आत्मा की एक परिणति विशेष है जिसके उदय से जीवन स्वयं ही अभ्युदय की ओर जाने लगता है। जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जाने के लिये उसको उद्बोधन और प्रेरणा का पीछे से धक्का लगाया जाता है, किन्तु बाह्य प्रेरणा एवं उद्बोधन तभी सफल होते हैं, यदि अन्तरङ्ग में उस प्रेरणा की ग्राहक-शक्ति उदित हो चुकी हो। जिस चूल्हे में आग की चिनगारी हो, वहां फूंक अपना चमत्कार अवश्य दिखाती है, खाली फूंक मारने पर केवल सिर पर राख ही पड़ती है। यदि राख आंख में पड़ जाए तो अन्धा भी कर सकती है और इससे अधिक ऐसी फूंकों से कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है।

प्रायः यह कहा जाता है कि बाह्य साधना अन्तरङ्ग साधना में सहायक होती है और अन्तर को जागृत करने में बाह्य क्रिया भी निमित्त बनती है। जो मेरे धर्म-बन्धु ऐसा फरमाते हैं मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि क्या सम्यक् ज्ञान के बिना की हुई बाह्य साधना भी आत्मा को स्वरूप की ओर ले जाती है? मेरा विचार है कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का उत्तर इस सम्बन्ध में 'नकारात्मक' रूप में ही होगा, अर्थात् वे इस मेरे प्रश्न के उत्तर में यही कहेंगे कि ज्ञानहीन क्रिया से आत्म-शुद्धि कभी नहीं हो सकती। बाह्य साधना के साथ सम्यक् ज्ञान अवश्य होना चाहिये। यदि सम्यक् ज्ञान साधना के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है तो फिर यह सोचना होगा कि ज्ञान का उदय अन्तरङ्ग परिणति है या कि बाह्य है? संसार के सभी दार्शनिक ज्ञान को आत्मा की परिणति मानते हैं। वह परिणति अन्तरङ्ग है, बाह्य नहीं। जो साधना ज्ञान से समन्वित होगी वही तो आत्म-विकास में सहायक बनेगी? ऐसी दशा में अन्तरङ्ग निमित्त ज्ञान ही आत्मा के अभ्युदय का कारण हुआ, केवल जड़-क्रियाएं तो कारण न हुईं।

मेरे उक्त समाधान पर कोई यह भी कह सकता है कि उपदेश आदि के श्रवण से ही तो ज्ञान होता है, अतः ज्ञान को जगाने में

शास्त्र-श्रवण आखिर बाह्य निमित्त के रूप में समझा ही जाता है। इस सम्बन्ध में मैं इतना ही कहूंगा कि उपदेश-श्रवण भी वहीं सार्थक होता है जहाँ उसका उपादान कारण उपस्थित हो। यदि ऐसा नियम न माना जाए तो फिर उपदेश सुनने से सब को एक समान ज्ञान हो जाना चाहिये, किन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण के भी विरुद्ध है, अर्थात् अनुभव भी यही है कि उपदेश का निमित्त सबके लिये बराबर-बराबर होता हुआ भी उसका फल सबके जीवन में एक समान नहीं देखा जाता। इससे स्पष्ट होता है कि जिसके मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय जितना प्रबल होता है, वह बाह्य जगत से उतना ही अधिक निवृत्त रहता है और आत्म-तत्व में उसकी उतनी ही भक्ति होती है। ऐसे मानस में उपदेश आदि के प्रति रुचि जागती है और वहीं उपदेश सार्थक होता है। जिस मनुष्य के जीवन में मोहनीय कर्म की प्रगाढ़ता रहती है, उपदेश आदि सुनने की रुचि भी वहां उत्पन्न नहीं होती और किसी के कहे सुने से ऊपरी मन से यदि कोई सत्सङ्ग में आ भी जाए तो उसके लिये सुन्दर उपदेश भी ऊसर धरती में बोये हुए बीज की तरह व्यर्थ हो जाता है।

यदि कोई बाह्य निमित्तों का कुछ महत्त्व है तो वह इतना ही है जितना कि बूढ़े के लिये लाठी का महत्त्व समझा जाता है। लाठी के सहारे से बूढ़ा चलता है, किन्तु चलाने की शक्ति लाठी में नहीं है। लाठी विचारी जड़ है। वह किसी को क्या चलायेगी? व्यक्ति बूढ़ा होता हुआ भी लाठी को ही चलाता है। जिसके पास अपना सहारा नहीं, लाठी उसका सहारा नहीं बन सकती। चलने योग्य के लिये लाठी अवलम्बन बनती है। उसकी उपयोगिता केवल व्यवहार में है, निश्चय में नहीं।

प्रत्येक द्रव्य अपने आप में स्वयं ही परिणत होता है। बाहरी जगत् में उस का कोई जनक व उत्पादक नहीं है। आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है। कर्म के संयोग से उसमें भिन्न-भिन्न परिणतियां होती हैं। वे सब वैभाविक परिणतियां कही जाती हैं। ज्ञान-दर्शन आदि जीव की स्वाभाविक परिणतियां हैं. पर-परिणति का जितना उपशमन व क्षय

होता है, आत्मा की निज-परिणति उतनी ही विशुद्ध एवं स्थायी होती जाती है, यही आत्मा का विकास है। रूढ़िवादियों की आत्मा का विकास इसलिये नहीं होता कि उनकी प्रत्येक क्रिया श्रद्धा तथा ज्ञान से हीन होती है, वे केवल परम्परा तथा बाह्य व्यवहार को प्रमुखता देते हैं। अन्तरङ्ग में झांक कर नहीं देखते कि वहां ज्ञान तथा दर्शन की अपने स्वरूप में कितनी अवस्थिति हुई है?

प्रत्येक आध्यात्मिक पर्व का वास्तव में यही लक्ष्य है। पर्वों की आराधना से यदि यह ध्येय मिल जाता है तो वह आराधना सफल है, नहीं तो उसे केवल दिखावा तथा कोरा आडम्बर ही कहा जाएगा।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी देव, गुरु, धर्म संस्कृति, दर्शन तथा बाह्य अनुष्ठानों के प्रति साधक की अपनी श्रद्धा ही उसके अपने जीवन के लिये शान्ति तथा आनन्द के साधन प्रस्तुत करती है। यदि उनके प्रति साधक के हृदय में श्रद्धा न हो तो उनका हमारे जीवन में कुछ भी मूल्य नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि राम-नवमी तथा जन्माष्टमी के शुभ आगमन पर जो उल्लास सनातन-जगत् में देखा जाता है, उतना अन्यत्र नहीं पाया जाता। पर्युषण पर्व के आने पर जैसा उल्लास जैन जगत् में उभरता है, वैसा सनातन जगत् में नहीं, ऐसा क्यों होता है? प्रत्येक पर्व पर सब को एक समान उल्लास व उत्साह तथा भाव उसके प्रति क्यों नहीं होता? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिसको जिसके प्रति श्रद्धा तथा विश्वास होता है, उसके लिये वह उतना ही अधिक प्रेरक बनता है, दूसरे के लिये वह उतना उद्बोधक नहीं हो सकता। निष्ठा से ही व्यक्ति ऊंचा बनता है। पर्वों ने आज तक किसी को ऊंचा नहीं बनाया, बल्कि व्यक्ति अपनी निष्ठा से ही पर्व को महत्त्वपूर्ण दिन समझ कर विशेष साधना की ओर अग्रसर होता है।

निष्ठा ही आराधना का प्राण है। सफल साधना की यही आधारशिला है। आज के साधक के पास सब कुछ है और वह भी बड़ा मोहक तथा आकर्षक, किन्तु उसके अन्तरङ्ग में केवल एक निष्ठा का ही अभाव है; साधना का कलेवर तो है, किन्तु उसमें आत्मा नहीं

है, छत्तीस घण्टे का उपवास तो रख लिया जाता है, किन्तु आत्म-चिन्तन एक क्षण का भी नहीं।

पौषधव्रत चल रहा है, किन्तु आत्मा के पोषण की ओर लक्ष्य नहीं। विकथा में सारा पौषध व्यतीत हो जाता है।

सामायिक तो कर ली जाती है, किन्तु मन की ग्रन्थि एक भी खुलती नहीं। घर को छोड़कर स्थानक में आकर मुंह बांध कर तो बैठ गये, किन्तु निन्दा-चुगली की आदत नहीं छोड़ी।

ऐसे बन्धुओं को सोचना चाहिये कि क्या दूसरे के सिर की जुएं निकालने से अपने सिर की खुजली मिट जाती है? अपने सिर की खुजली मिटाने के लिये तो अपने ही सिर की जुएं निकालनी होंगी।

पर्युषण पर्व के दिन वास्तव में आत्म-निन्दा के लिये रखे गये हैं, किन्तु इन दिनों में भी हम पर-निन्दा नहीं छोड़ते। जहां पर दोष-दर्शन है, वहां पर निन्दा तो होती ही है, जिसके जीवन में ये दो महा-दोष हैं उसे और दोषों की आवश्यकता नहीं। व्यक्ति को दुर्गति तक पहुंचाने के लिये ये ही काफी हैं।

चारों आहारों का केवल त्याग ही तप नहीं, बल्कि तप तो इच्छा-निरोध को कहते हैं। जो महानुभाव स्थूल-कषाय भी जीवन में छोड़ नहीं पाते वे इच्छा का सभी रूपों में त्याग तो कैसे कर सकते हैं? शान्ति तो सर्वत्याग करने से ही मिलती है। बाहर के प्रदर्शन से आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। बाह्य साधना से संसार में प्रतिष्ठा अर्जित की जा सकती है, किन्तु आत्म-शुद्धि की उपलब्धि कदापि नहीं होती।

संवत्सरी पर्व के पावन क्षणों में छोटे-छोटे प्रसंगों पर मैंने लोगों को परस्पर उलझते हुए देखा है। आठ दिनों में सादगी भी कहीं देखने को नहीं मिलती, बल्कि पर्युषण पर्व के दिनों में लोग पूर्वापेक्षा अधिक सज-धज कर उपाश्रय में आते हैं, अपने वैभव का खूब प्रदर्शन होता है। ऐसा लगता है कि सभी बहिनें व भाई फैशन की किसी प्रतियोगिता

में भाग लेने के लिये आए हों। दुःख एवं आश्चर्य की बात तो यह है कि यह सब पर्युषण जैसे लोकोत्तर पर्व पर होता है।

पर्व के दिन में चरित्र तो सुने जाते हैं गजसुकुमार, धन्ना अणगार, पद्मावती रानी तथा काली रानी के और वेष-भूषा बना कर आते हैं सिनेमा के कलाकारों जैसी। जरा ठण्डे दिल से सोचिये हमारी तप-साधना से हमारे चमकीले-भड़कीले कपड़ों तथा आभूषणों का कहीं सामञ्जस्य बैठता है क्या ?

भगवान् ने परिग्रह को सब अनर्थों का मूल कहा है। उसी परिग्रह को हम इन आठ दिनों में भी नहीं छोड़ पाते, फिर भला जीवन में शान्ति कैसे मिलेगी ? अग्नि-कुण्ड के समीप बैठ कर और ऊपर पंखा चला देने से क्या किसी की गरमी मिट सकती है ? इसी तरह साधक यदि भोग के कुण्ड के पास बैठा रहे और केवल बाहरी साधना का पंखा छोड़ ले तो उसका मनःसन्ताप क्या कभी दूर हो सकेगा ? कदापि नहीं। पर्युषण पर्व के दिनों में तो जीवन के प्रत्येक पहलू में सरलता तथा सादगी आनी चाहिये। केवल गोभी और आलू छोड़ देने से मुक्ति नहीं मिलेगी, इसके साथ-साथ परिग्रह की आसक्ति तथा कषायों को भी छोड़ना होगा, तभी कुछ मन को शान्ति मिल सकेगी। कषायों का त्यागना हर कोई तो नहीं कर सकता। जिसका मोहनीय कर्म हलका होता है, वही कषायों पर विजय पा सकता है।

मोह को जीतने के लिये आत्म-ज्ञान की अपेक्षा है। जिसमें ज्ञान तथा श्रद्धा का जितना बल होगा, वह उतना ही अपने विकारों का दमन कर सकता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साधक को भीतर में ज्ञान का प्रकाश एवं श्रद्धा का बल लेकर चलना होगा। तभी वह कल्याण के द्वार पर पहुंच सकेगा। नहीं तो लाखों-करोड़ों पर्व मिलकर भी जीवन का उद्धार नहीं कर सकते, हमें इस बात को जीवन में कभी भूलना नहीं चाहिये।



३४

श्रमण-साधना का लक्ष्य आत्म-कल्याण एवं जन-कल्याण

●

सच्चे सन्त धर्म के प्रचार के लिये अपनी साधना के सुपथ को कभी छोड़ते नहीं हैं, बल्कि साधना-मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण भी करते हैं और जन-कल्याण भी। जैन धर्म के अनुसार ये दोनों मार्ग स्वरूपतः भिन्न हैं, किन्तु एक दूसरे के पूरक तथा सहायक अवश्य हैं, क्योंकि यदि लोग धर्मप्रिय होंगे तो आत्म-साधकों को भी अनुकूल वातावरण मिल सकेगा। इसी दृष्टि से मैं दोनों को पारस्परिक सहयोगी मानता हूं। इतना होने पर भी दोनों भिन्न इस-लिये हैं कि आत्म-साधना के लिए जो मर्यादाएं बनाई जाती हैं वे सार्व-जनिक सेवा, हित तथा उपकार के मार्ग में रुकावट पैदा करती हैं। संयम-रेखाओं के अन्तरङ्ग में रह कर लोक-सेवा के क्षेत्र में खुल कर काम नहीं किया जा सकता और यदि उन मर्यादाओं का मार्ग प्रशस्त नहीं रह पाता तो महाव्रतों की प्रतिज्ञा लेकर जिन हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह जैसे महादोषों को वह छोड़ता है जन-सेवा के उस प्रवृत्ति-मार्ग में जाते ही वे त्यागे हुए दोष पुनः उसके जीवन में प्रविष्ट होने लगते हैं।

प्रवृत्तियां कितनी भी प्रशस्त क्यों न हों उनके आने पर साधक के मन में दोषों के आगमन की सम्भावना बनी ही रहती है। प्रायः कर्म-क्षेत्र में रागद्वेष के प्रसंग बनते ही रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनसे

अप्रभावित बनकर नहीं रह सकता, क्योंकि अपनी बात का आग्रह और प्रतिष्ठा का व्यामोह उसके मन के किसी कोने में उसके मनः-दौर्बल्य के रूप में बैठा ही रहता है। जब कभी उसे किसी तरह की ठेस पहुंचती है तो वह काले नाग की तरह फुफकार मार कर उठ खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में किसी न किसी अपने आलोचक या किसी विरोधी के प्रति हिंसा की भावना अंगड़ाइयां लेकर जाग पड़ती हैं। अपने पक्ष एवं स्वार्थ को सिद्ध करने तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी को झूठा साबित करने के लिए वह असत्य का आश्रय भी लेता है। उसके मन में दूसरों के अधिकारों को छीनने की वृत्ति धीरे-धीरे बनने लगती है। योग्य व्यक्ति को किसी भी तरह उभरने न देना और उसके हक को अपने चातुर्य से अपना हक बना लेना क्या यह चोरी नहीं है? जो चोरी है वह भी हिंसा का ही एक रूप है। समाज में घुलमिल कर रहने तथा हिलमिल कर चलने से संसर्ग-दोष उत्पन्न होता है जिससे साधक के मन में कभी वासना का अंकुर फूट पड़ता है और ऊपर उठती हुई इस वासना के विष की लता जीवन के वृक्ष से लिपट कर उसे ठूंठ बना देती है।

अन्त में जो सब से महत्त्वपूर्ण बात प्रवृत्ति-मार्ग की चिन्तनीय है वह यह है कि जो साधक इस मार्ग पर थोड़ी सी भी प्रसिद्धि पा लेता है, जो अपने व्यवहार-कौशल से दूसरों के दिलों को मोह लेता है, दूसरों की पलकों का काजल बन कर कभी आंखों में भी समा जाता है, क्योंकि अरबों लोगों की इस दुनिया में अपने कुछ अनुयायी बना लेना कुछ भी कठिन नहीं। अनुयायियों के उस समुदाय में कुछ सरलमना तथा भद्र हृदय लोग होते हैं जो सामाजिक उपलब्धियों से सहज में ही प्रभावित हो जाते हैं। निराशा के अन्धकार में जीने वाले, कष्टों में पलने वाले तथा दुःखाश्रुओं से आर्द्र पलकों वाले वे भोले-भाले लोग जीवन में शान्ति लाने तथा अपनी विकट समस्याओं का समाधान पाने के लिये दूसरों का आंचल पकड़ लेते हैं और कुछ अपने स्वार्थ के लिए ही भक्त बन जाते हैं। ऐसे लोगों का किसी साधक के उत्थान तथा पतन से कोई मतलब नहीं होता, उन्हें तो केवल अपने स्वार्थ से ही मतलब होता है। जो उनका स्वार्थ पूरा करे उनके लिए तो वही खुदा

है, भगवान है। समय पर वे ही लोग उनकी पीठ पर शक्ति बन कर खड़े रहते हैं।

शिथिलतावादी तत्त्व ऐसे लोगों को हमेशा अपनी मुट्ठी में रखते हैं, क्योंकि वे जानते हैं अपने उग्र विचारों के कारण उन्हें समाज में सब जगह विरोधों का सामना करना पड़ेगा और ऐसे भीड़ के समय में वे ही लोग उनके काम आ सकते हैं। वे लोग साधक के शैथिल्य को केवल सहारा ही नहीं देते, वल्कि उसे पोषण भी देते हैं। अपने स्वार्थ के लिए वे अपने आराध्य के जीवन-पथ पर सुविधाओं के कमनीय कुसुम भी बिखेरने लगते हैं। धीरे-धीरे उस प्रवृत्ति-मार्ग के राही का सोने तथा चांदी के सिक्कों से सन्मान होने लगता है, जिसे गृहस्थ में शायद रहने के लिए झोंपड़ी भी न मिली हो या किराये का मकान भी जिसे नसीव न हुआ हो फिर वह अनगार कहलाने वाला अपने सुख तथा आराम के लिए एक दो आलीशान वंगले वनवा कर बैठ जाता है। नाम भले ही उसे कुछ भी दिया जाये, किन्तु ठाठ-वाट तो उसका शहनशाही ही रहता है जिसे उसके मन के बढ़े हुए परिग्रह का एक प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जा सकता है।

जैन-जगत् के सन्त अकिंचन तथा अपरिग्रही होते हैं। सारी दुनिया में वे अपने आदर्श त्याग तथा अनुपम तप-साधना, अद्भुत आचार-चर्या के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। यहां तक कि जैनेतर वर्ग भी इनकी इस कठोर जीवन-साधना को हृदय से सन्मान देता है। निवृत्ति-मार्ग का पथिक प्रवृत्ति के पथ पर आते ही शनैः-शनैः परिग्रह की दलदल में फंसने लगता है। मनुष्य के मन में वासनाओं के वीज तो सदा पड़े ही रहते हैं। निवृत्ति के मंगलमय क्षणों में वे धीरे-धीरे क्षीण होते रहते हैं और प्रवृत्तियों के मोहक लोक में आकर वे पुनः पुष्ट होने लगते हैं और और वह साधक जहां कहीं भी खड़ा होता है वहीं एक संसार वना लेता है। गीता में इस सम्वन्ध में क्या ही सुन्दर कहा गया है:—

यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः॥

हे अर्जुन ! यत्न करते पर भी मन को मथ देने वाली इन्द्रियों के विषय विद्वान् पुरुष के मन को भी बलात् हर देते हैं, मनुष्य के मन के चापल्य एवं चांचल्य को दृष्टि में रखकर ही शास्त्र साधक के लिए कुछ लक्ष्मण-रेखा बनाता है, ताकि उसके अन्दर रह कर वह अपने मन को निश्चल रख सके, क्योंकि वीतराग-धर्म की साधना के लिए एक निस्पृह तथा निश्चल मन की जरूरत रहती है, क्योंकि इसके बिना साधक राग-द्वेष के नागपाश से कदापि छूट नहीं सकता और प्रवृत्ति का मार्ग ऐसा है कि इस में हर समय राग-द्वेष के प्रसंग घटित होते ही रहते हैं। इस लिए जैन धर्म में निर्वाण-साधना के लिए एकान्त निवृत्त जीवन ही श्रयेस्कर माना गया है? प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों पथों के बीच में कोई भी कूद कर आ सकता है और वह यह कहने का साहस भी कर सकता हैं कि ऐसा साधु या साध्वी है ही कौन जो एकान्त निवृत्ति मार्ग का पथिक हो सभी तो न्यूनाधिक रूप में सामाजिक प्रवृत्तियों में किसी न किसी रूप में संलग्न देखे जाते हैं। यह केवल शंका ही नहीं है, बल्कि इस कथन में कुछ अवश्य यथार्थता भी है, किन्तु यदि यह यथार्थ है तो यह भी अयथार्थ नहीं है कि सभी ऐसे साधकों के साथ जुड़े मानसिक संक्लेश तथा अशान्ति के अनेक कारण तथा हेतु भी रहते हैं।

जीवन का बहुत सा बहुमूल्य भाग तो उनका योजनाओं को गढ़ने तथा उन्हें क्रियान्वित करने की चिन्ताओं में ही बीत जाता है। फिर उन योजनाओं के लिए सहायक ढूंढ़ने तथा मीठी - मीठी बातें बना कर चापलूसी कर के पीठ ठोंक कर उन्हें सम्मान तथा पदों का प्रलोभन देकर तथा उनके प्रशंसा के गीत गा - गा कर उन्हें अपने अनुकूल बनाने में भी अपनी आत्म - साधना के अनमोल क्षणों की आहुति देनी पड़ती है। फिर यह सिलसिला कोई यहीं समाप्त नहीं हो जाता, जिन महानुभावों को आप प्रतिष्ठा के ऊंचे मंचों पर बिठला कर उन्हें समाज की महान-विभूतियों के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, उन के समाज में कुछ विरोधी भी होते हैं जो उनकी मान-बड़ाई को देख कर ईर्ष्या करने लगते हैं और ईर्ष्या जीवन का

वह दोष है, जिसकी प्रेरणा से बिना मतलब ही व्यक्ति विरोध करने के लिए मैदान में कूद पड़ता है ।

ईर्ष्या की आग या तो बराबर का स्थान मिलने पर बुझती है और या शान्त होती है दूसरों के काम बिगाड़ कर और दूसरों के बनते कामों में रोड़े और कांटे बिखेर कर। ऐसे लोगों को भी समझा-बुझा कर अनुकूल बनाना पड़ता है। उन रूठे हुए लोगों को मनाने में भी साधक की कितनी ही जीवन-घड़ियां नष्ट हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसे लोग प्रच्छन्न रूप से भी आपके विरोधी बने रहते हैं और यत्र-तत्र आपके अच्छे कामों की भी वे आलोचना करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में भी सन्त को अपने आपको सम्भालना पड़ता है। यदि वह अपने को समभाव में स्थित न रखे तो कोई न कोई अवाञ्छनीय संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप साधक के मन की असमाधि बढ़ती ही है घटती नहीं।

इस सम्बन्ध में यह तर्क तो स्वभावतः उठ सकता है कि क्या साधु को कोई सामाजिक काम करना ही नहीं चाहिये ? ऐसा मेरे जैसा साधु कभी भी कह नहीं सकता, क्योंकि मैंने स्वयं भी कितने ही सम्मेलन किये हैं, इसलिये मैं इनके विपक्ष में तो कैसे हो सकता हूं ? किन्तु मैंने जो ऊपर लिखा है, वे सब मेरे अपने जीवन के अनुभव हैं। सामाजिक क्षेत्रों के सभी अग्रणी नेता चाहे वे प्रेरक हैं या संयोजक, अथवा प्रबन्धक हैं, वे मेरे वर्णित अनुभवों को किसी भी तरह नकार नहीं सकते। साधक को लोक-हित के कार्य-कलापों के चक्र में पड़ना चाहिए कि नहीं ? यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु सामाजिक जीवन में सक्रिय होने से जो संयम-विरोधी स्थितियां उभरती हैं उनसे आंखें बन्द नहीं की जा सकतीं। यदि कबूतर बिल्ली को देख कर आंखें बन्द कर लेवे और मन में सोचने लगे कि बिल्ली चली गई तो ऐसे बिल्ली चली नहीं जाती। आवश्यकता है उससे सतर्क होकर अपने को बचाने की। आंखें बन्द करना तो केवल कबूतर की आत्म-प्रवञ्चना है। प्रमाद की स्थिति में वह कभी भी उसे झपट सकती है। दोष को दोष मानना यह सम्यक्-दृष्टि है और उसे वैसा न मानना यह मिथ्यात्व है।

दोष को दोष के रूप में स्वीकार करने से वह अशक्त निर्बल तथा धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है और दोष को कुछ न मानने या फिर उल्टा उसे गुण मानने से वह सशक्त, बलवान् तथा शनैः-शनैः पुष्ट होता जाता है। ऐसी स्थिति में आलोचना, निन्दा, गर्हा, प्रायश्चित्त तथा पश्चात्ताप का तो ऐसे साधक के जीवन में कोई अवसर ही नहीं आ सकता तो फिर आत्म-शुद्धि के लिए उसका निराकरण भी कैसे सम्भव हो सकता है ?

अब रही सामाजिकता में रस लेने की बात। यह तो व्यक्ति की अपनी निजी रुचि तथा उसके संस्कारों पर निर्भर करता है, किन्तु मैं एक बात अवश्य कहूंगा कि जो अकिंचन और निष्परिग्रही साधक लोकैषणाओं पर विजय पाकर अपने मन-इन्द्रियों का विजेता बनकर साधना के एक कोने में बैठ कर आत्मा में लीन रह सकता है, वह उस साधक से कम महान् नहीं जो धर्म-प्रचार तथा परोपकार के नाम पर बड़े-बड़े संस्थानों के निर्माण में लगा हुआ है। यहां शंका हो सकती है कि यदि सन्त प्रेरक के रूप में आगे न आएं तो समाज को लाभ भी तो नहीं हो सकता। सन्तों के उपदेशों से तथा कहने-सुनने से न होने वाले काम भी हो जाते हैं और अधूरे पड़े हुए काम पूरे हो जाते हैं।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि सन्त-साध्वियों की प्रेरणा में एक अद्भुत प्रभाव होता है, किन्तु एक बात आपको भी माननी होगी वह यह है कि प्रेरणा को ग्रहण करके उसे साकार रूप देने वाली श्रद्धा होती है। एक साधु के प्रति श्रद्धा का मूल केवल उसका तप तथा त्याग ही होता है। यदि साधक उस केन्द्र तथा मूल को ही खोखला करता चला जाये तो फिर दूसरों की श्रद्धा भी कहां टिकेगी ? जब श्रद्धा हिलेगी तो फिर आपकी प्रेरणाओं को भी कौन ग्रहण करेगा ? कोई नहीं ?

अतिरिक्त इसके आपका यह विचार भी विचारणीय है कि साधक समाज के कितने ही कामों में जब निमित्त बन कर सामने आता है तो वे काम शीघ्र ही सम्पन्न होने लगते हैं। विचारणीय तत्व इसमें यह भी है कि साधु को किसी काम में निमित्त बनते समय भी यह ध्यान

रखना पड़ता है कि वह कार्य सावद्य है या निरवद्य। जैन-धर्म का चिन्तन यह है कि कोई भी कार्य चाहे कितने ही निःसंग तथा अनासक्त भाव से किया जाये, उसकी निष्पत्ति में आरम्भ-समारम्भ-जनक जितने अंशों में सूक्ष्म एवं स्थूल हिंसा हुई है उस कार्य में उतने अंशों में सावद्यता रहती है। यदि कर्त्ता के मन में आसक्ति हो और अहंकृति से ग्रसित हो कर कार्य में प्रवृत्ति कर रहा हो तो फिर वह सावद्यता और भी कई गुणा बढ़ जाती है। मेरे अपने मत में प्रवृत्ति की मूर्च्छा में आश्रव अधिक तथा संवर कम होता है। आश्रव में भी अशुभाश्रव ही अधिक होता है, शुभाश्रव तो अल्प हो रहेगा वहां, और यदि प्रवृत्ति निस्संग रह कर की जा रही है तो उसमें पाप कम और पुण्य अधिक होगा, किन्तु निर्जरा कम ही होगी।

यदि जैन-धर्म के दृष्टिकोण से देखा जाये तो संसार में कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं जो एकान्त निर्जरा का कारण हो, क्योंकि निर्जरा आत्मा के परम विशुद्ध भाव में अवस्थित रहने से होती है और यह आत्मा की वह स्थिति है जहां कोई मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्ति नहीं हो पाती। केवल मन, वचन तथा काया के द्वारा व्यापार का होना ही प्रवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योग का किसी न किसी रूप में सद्भाव बना ही रहता है। इसलिए वहां अधिकांश आश्रव की ही सम्भावना रहती है। कभी कहीं निष्कामता धैर्य तथा समता चित्त को आत्मोन्मुख बनाये रखे तो जीवन में निर्जरा की भी कोई घड़ी अवश्य आ सकती है। इसलिए साधु को निमित्त बन कर कहां आगे आना चाहिये, यह उसके लिए सर्वत्र विवेक का विषय बना रहता है। यदि साधक अपने आप शुभ कार्यों में अपने को निमित्त बनने के अहं से पृथक् रखे तो उसकी साधना का मूल्य और भी बढ़ सकता है। दुनिया के लोग भले ही आपको प्रेरणा के स्रोत मान कर आप पर प्रशंसा की पुष्प-वृष्टि करते रहें, किन्तु गीता के "**योगः कर्मसु कौशलम्**" इस सिद्धान्त के अनुसार वह अत्यन्त कुशलता से अपने आत्म-भाव की रक्षा कर लेता है तो कहा जा सकेगा कि गीता के "**समत्वं योग उच्यते**" इस सूत्र के परिप्रेक्ष्य में वह कर्मभूमि में भी एक

योगी ही है। एक समय था कि लोग आकिञ्चन साधुओं का बहुत आदर करते थे, क्योंकि प्रायः ऐसे साधुजन अपनी आत्मा में ही लीन रहते थे। वे समाज से आवश्यकता के रूप में अल्प लेते थे और ज्ञान के रूप में विपुल देते थे। उनकी दृष्टि में अमृत रहता था। जिस किसी को वे अनुग्रह दृष्टि से देख लेते थे। उसके पौ-बारह हो जाते थे। उनके वचन कभी मिथ्या नहीं हो पाते थे। उनके आशीर्वचनों से ही लोगों के दुख दूर हो जाते थे। वे मन से जिसकी हित-कामना करते थे वह निश्चित रूप से सुखी हो जाता था। उनके चरणों की रज बड़े-बड़े रोगों को जड़-मूल से उखाड़ देती थी। धरती उनका चरण-स्पर्श पाकर अपने को धन्य मानती थी। हवा उनके वदन को छू कर पवित्र हो जाती थी और लोहा भी उनका स्पर्श पा कर कञ्चन बन जाता था।

कहने का तात्पर्य केवल यह है कि पामर भी उन सन्तों के संसर्ग में आ कर पावन हो जाते थे। ऐसे आत्मार्थी साधकों को कोई भी समाज के लिए भार नहीं कह सकता। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि धीरे-धीरे यह पृथ्वी ऐसे सन्तों से शून्य होती जा रही है। कहीं-कहीं कोई महापुरुष कहीं इस धरती के किसी कोने में या किसी पर्वत की गुफा में ध्यानस्थ बैठा हो तो कोई आश्चर्य भी नहीं है, किन्तु इन आंखों को ऐसे महात्मा पुरुषों के दर्शन प्रायः कम ही हो रहे हैं।

जो सन्त पुरुष संयम के नाम पर शुष्क क्रियाकाण्डों तथा व्यर्थ के बाहरी क्रिया-कलापों के व्यामोह में उलझे रहते हैं वे वास्तव में त्याग से बहुत दूर ही होते हैं। त्याग का आडम्बर तथा प्रदर्शन प्रायः यशोपार्जन के लिए होता है। इसलिए ऐसा साधक आत्म-दर्शन से दूर ही रहता है, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि—

पूयणट्ठा यशोकामी मान सम्मान कामए।
बहु पसवइ पावं माया सल्लं च कुव्वइ ॥

पूजा और यश का इच्छुक तथा मान-सन्मान की अभिलाषा रखने वाला बहुत पाप इकट्ठा करता है और इस झूठी प्रतिष्ठा के लिए माया शल्य का सेवन करता है।

इसीलिए मैंने कहा है कि जो साधु पूजा-प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़ जाता हैं उसका संयम केवल एक दिखावा मात्र रह जाता है। ऐसे साधक का चित्त आत्मा के स्वरूप में कभी भी स्थिर नहीं हो पाता। चौबीस घण्टे वह तो किसी दूसरी ही दुनिया में विचरता रहता है। बाहर से वे अपना प्रभाव बनाए रखने के लिये करणीय-अकरणीय, सदोष तथा निर्दोष तथा कल्पनीय और अकल्पनीय के प्रति बड़ी सजगता दिखाते रहते हैं, परन्तु दूसरों के प्रति हीन भावना, भाषा का अविवेक, कटाक्ष, प्रहार तथा व्यंग्य कसने की आदत, पर-निन्दा, पर-परिवाद, ईर्ष्या तथा कलह जैसे अवगुण उनके मानस में सदैव पलते रहतेहैं। वे ऊपर से संयम की रट लगा-लगा कर बड़े आराम की ज़िन्दगी व्यतीत करते रहते हैं। सामाजिक जीवन में प्रवेश करने तथा उपकार के क्षेत्रों में उन्हें कदम रखने में दोषों के कांटों के चुभने का भय रहता है, इसलिए वे सदा जड़ क्रियावाद की कोमल शय्या बिछा कर उस पर सुख की नींद सोते हैं, भव-भ्रमण की थकावट मिटाने के लिए और आगे के लिए भी भवाटवी के भयंकर कष्टों से बचने के लिए। यही संयम उनको शरण देगा, ऐसा विश्वास उनके जीवन को सचेतन नहीं, बल्कि एकदम जड़ बना देता है। दुनिया के लिए उनके जीवन की विशेष उपयोगिता नहीं रह जाती।

ऐसी स्थिति में समाज के कुछ विशेष चिन्तक ऐसे समझने लगते हैं कि ऐसे निष्क्रिय तथा अकर्मण्य जीवनों से समाज को क्या लाभ? जो समाज से आहार, वस्त्र तथा आवास सब कुछ लेकर भी समाज के लिए कुछ भी नहीं करते। जब कभी सामाजिक कार्यों के लिए प्रेरणा देने का समय आता है तो वे "हम को यह नहीं कल्पता और हम को वह नहीं कल्पता", की दुहाई देकर पीछे हट जाते हैं। कभी-कभी तो ये महापुरुष अपने आप को इतने निर्लेप एवं अनासक्त प्रकट करते हुए कहने लगते हैं कि हमने जब दुनिया ही छोड़ दी है तो फिर हमें इन दुनिया के झंझटों से क्या मतलब? हमें क्यों आप इन सांसारिक झगड़ों में फंसाते हैं? किन्तु किसी को क्या पता कि इन्होंने अपने अन्तरङ्ग जीवन में कितने ही झगड़ों को पाल रखा

है। वैसे इन त्याग-मूर्तियों का दुनियादारी से कोई सरोकार नहीं किन्तु दीक्षा आदि के शुभ अवसर पर कहीं समारोह हो या उनका कहीं अपने ही अभिनन्दन-समारोह का आयोजन हो तो फिर वहां सब कुछ कल्पनीय हो जाता है, कुछ भी अकल्पनीय नहीं रह जाता। यदि कोई पूछ बैठे कि "भगवन् ! त्यागमय जीवन में इतना आरम्भ-समारम्भ किस लिए है ? तो उत्तर मिलेगा कि हमें क्या मालूम ! हमने थोड़ा कहा है इसके लिए, यह तो भक्तों की श्रद्धा तथा भावना की बात है। हम किसी की श्रद्धा पर प्रतिबन्ध तो नहीं लगा सकते और फिर यह तो सब शासन की प्रभावना है। उनसे पूछा जाये कि यदि यह प्रभावना है तो समाज के अन्य धार्मिक कर्त्तव्यों से भी तो शासन की ही प्रभावना होती है। फिर उनसे अछूत रोग की तरह क्यों दूर रहा जाता है ?

आज के इस कलिकाल में देश-काल की प्रतिकूलता का आधिपत्य होने से उत्कृष्ट साधना तो कम सम्भव है, इसलिए छल-कपट को छोड़ कर निःस्वार्थ भाव से मूल व्रतों में दृढ़ रह कर समाज के उत्थान के लिए कुछ सम्यक्-धर्म-प्रवृत्तियों में सहयोग किया जाए तो उसे आत्मा के लिए कदापि हानिकर एवं अनुचित नहीं माना जा सकता है। किन्तु ऐहिक सुखों के व्यामोह में फंस कर स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के लिए अपने मूलाचार की उपेक्षा किसी भी हृदय में उसकी साधुता का सुन्दर चित्र नहीं बना सकती। इसलिए आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होते हुए ही जन-कल्याण करना श्रेयस्कर है, उससे दूर हट कर नहीं।

३५

साधक के जन्म-जन्म का अक्षय धन : सम्यक्त्व



यह प्रश्न विचारणीय है कि भगवान महावीर का सम्यक्त्व व्यक्ति से बंधा हुआ है या कि सत्य से ? यदि उसका सम्बन्ध सत्य से है तो आप कौन हैं उसे अपने साथ जोड़ने वाले ? क्योंकि आप सत्य नहीं हैं। यदि सम्बन्ध है भी तो वह आंशिक है, सम्पूर्ण नहीं। ऐसा आंशिक सत्य अन्यत्र भी तो है। उन सबका संयोजन करके साधक पूर्ण सत्य को उपलब्ध कर सकता है और तभी उसका दर्शन सम्यक् होगा। इस सम्यक्-दर्शन के निर्मल-दर्पण में ही आपको सम्यक्त्व का निर्मल बिम्ब दिखाई दे सकेगा। यही निश्चय सम्यक्त्व है जो जैन-धर्म का मूल है।

जैन-धर्म ने कुछ ऐसे दोषों का वर्णन किया है जो सम्यक्त्व के क्षेत्र में अकिंचन माने जाते हैं। वे दोष जिन से सम्यक्त्व का साधक अपने सम्यक्-दर्शन से कभी भी विचलित हो सकता है उन्हें अतिचार कहते हैं। शास्त्र में कहा गया है कि शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाखण्ड-प्रशंसा तथा पर-मत-संस्तव इन अतिचारों के रहस्य को जो लोग नहीं समझते वे लोग अनुदार एवं संकीर्ण बन कर एक दूसरे से घृणा करते हैं, समाज में वैर तथा विद्वेष का वातावरण बना देते हैं। सम्यक्त्व के नाम पर वे अपनी अज्ञानता से कषायों को बढ़ाते ही हैं, घटाते नहीं। जो साधक सच्चा सम्यक्त्वी होता है, उसे जिन-मार्ग पर अटल श्रद्धा रहती है। उसकी दृष्टि में जिन-मार्ग ही मोक्ष-मार्ग है।

मोक्ष-मार्ग का स्वरूप है—"सम्यक्-दर्शन-ज्ञान - चारित्राणि मोक्ष-मार्गः" सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है। जो लोग इस मार्ग के विपरीत प्ररूपणा करते हैं वे पर-पाखण्डी कहे जाते हैं। "पाखण्ड" शब्द आपको सुनने में खराब लग रहा होगा, क्योंकि शायद आप पाखण्ड ढोंग को समझते हैं, किन्तु यहां पाखण्ड का अर्थ है व्रत। पाखण्ड शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह होती है:— जो पाप को खण्डित करता है वह पाखण्ड है। व्रत ही पापाश्रव को रोकता है, इसलिए व्रत को पाखण्ड कहा गया है। जैन-धर्म की दृष्टि में पर-पाखण्डी वे हैं जो मोक्ष-मार्ग के विपरीत अनात्मवाद, हिंसावाद तथा अक्रियावाद का उपदेश देते हैं और साथ ही यह दावा भी करते हैं कि हमारा मार्ग ही यथार्थ है—यही कल्याण का रास्ता है। हमारे भगवान की शरण में आने मात्र से व्यक्ति के सब गुनाह माफ हो जाते हैं, इसके लिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

सम्यक्त्व के दोषों का कथन करने का उद्देश्य शास्त्र का केवल इतना ही है कि ऐसे लोगों के कुप्रभाव से आत्मा को बचाया जा सके, कहीं साधक उनके झूठे प्रभाव में आकर अपने सत्य-मार्ग पर शंका न करने लगे और उनके बाह्य ठाठ-बाठ को तथा मान-प्रतिष्ठा और मौज-मजे को देख कर उधर ही आकर्षित न हो जाये। जब शंका के हिचकौले खा कर व्यक्ति का मन डावांडोल हो जाता है तो उसे अपनी साधना के फल में भी सन्देह होने लगता है। यदि कोई साधक किसी वाममार्गी के प्रभाव में आ जाये तो फिर वह मोक्ष के लिए कठोर चारित्र का पालन कैसे कर सकेगा ? किसी भी मिथ्यात्वी के चक्कर में आकर व्यक्ति सोच सकता है कि उधर तो बड़े आराम से भगवान मिलता है।

मुक्ति का पासपोर्ट भी उधर जल्दी ही मिल जाता है, फिर इधर संयम की इतनी कठिनाइयां उठाने की भला क्या आवश्यकता है ? जैन-धर्म में तो मोक्ष पाना ही कठिन है। ग्यारहवें गुण स्थान में जाकर भी जीव फिर नीचे आ जाता है। बस, उम्र भर क्या, जन्म-जन्म में इसी तरह ऊपर चढ़ते रहो और नीचे गिरते रहो। ऐसे क्या मोक्ष मिल सकेगा कभी ? इस तरह उसके मन में विचिकित्सा नामक दोष उत्पन्न हो जाता

है और वह साधक धीरे-धीरे अन्य तीर्थिकों के अधिक परिचय में आकर सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने लगता है। अन्य मार्ग के अनुराग के बढ़ जाने से फिर मुख से उस मार्ग की प्रशंसा तथा उसका गुणानुवाद तथा समर्थन भी होने लगता है, किन्तु हम इस वस्तुस्थिति को न समझ कर अपने ही स्वधर्मी भाइयों के साथ परिचय रखने तथा एक दूसरे के गुणानुवाद को ही सम्यक्त्व का दोष समझने लगे हैं, हमारी इस विपरीत धारणा के कारण हम एक दूसरे के निकट आने की बजाय एक दूसरे से दूर होने लगे हैं। केवल हम दूर नहीं हुए, बल्कि हमारे अन्तरङ्ग में घृणा तथा अमैत्री के संस्कारों की अभिवृद्धि भी हुई है। जीवन के कितने ही क्षेत्रों में यह उलटा विश्वास विद्वेष बन कर उभरता रहा और इससे यह हमारे सामाजिक संगठन को भी काफी हानि पहुंचाता रहा है। यदि हम निष्पक्ष हो कर देखें तो मालूम होगा कि श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरों के मौलिक सिद्धान्त प्रायः समान ही हैं। केवल कुछ विशिष्ट विश्वासों तथा बाह्य विधि-विधानों को छोड़ कर शेष कहीं भी मौलिक अन्तर नहीं है। जहां तक मैं समझता हूं सम्यक्त्व के आधार ही मौलिक सिद्धान्त होते हैं, न कि विशिष्ट विश्वास अथवा साधना की विभिन्न विधियां।

एक दिगम्बर मूर्ति-पूजक भाई वीतराग प्रभु की नग्न मूर्ति का पूजन या ध्यान लगा कर अपने मन को एकाग्र करके शान्ति प्राप्त करता है। दूसरा श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक है, वह शृंगारी मूर्ति की उपासना करके अपने मन को स्थिर कर लेता है। स्थानकवासी को इन दोनों पर ही विश्वास नहीं है, वह निरवद्य एवं शुद्ध सामायिक की साधना द्वारा अपने चञ्चल मन का निग्रह करके आत्मा के स्वरूप को उपलब्ध करता है। तेरह पन्थी भाई लम्बी मुख-वस्त्रिका बान्ध कर मनोनिग्रह की साधना करता है और उसको भी अपने लक्ष्य में सफलता मिल जाती है। इन चारों स्थितियों में हम देखते हैं कि जीवन का लक्ष्य तथा उस लक्ष्य तक पहुंचने की अन्तरङ्ग साधना सबकी एक ही है। केवल बाहर के मार्ग में ही अन्तर है। कैसे ? इसे ज़रा और स्पष्ट करना अच्छा होगा।

चारों साधकों का लक्ष्य है परम शान्ति, उस शान्ति की अन्तरङ्ग

साधना के लिये आवश्यक है मनो-निग्रह, किन्तु बाहर की साधना-विधियां सबकी भिन्न-भिन्न हैं। किसी की पूजा तो किसी की सामायिक। यदि हम साधना की नानाविधियों को ही सम्यक्त्व का आधार बनायेंगे तो सम्यक्त्व का एक अखण्ड रूप न बन सकेगा, वह भी नाना रूप ले लेगा। किन्तु सम्यक्-ज्ञान तो नाना रूपों वाला नहीं है, उसका रूप तो एक ही है। एक सम्यक् विचार अन्य सम्यक् विचार का आत्मीय होता है और वह उसमें मिल कर तद्रूप हो जाता है। जो सार्वभौम, अखण्ड तथा सत्य है वह एक ही होता है नाना प्रकार का नहीं। सत्य में नानात्व की कल्पना भी सापेक्ष होती है और वे अपेक्षाएं परस्पर विरोधी नहीं होती हैं। यदि एक मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति दूसरे के मार्ग को मिथ्या कहेगा तो सभी एक दूसरे की दृष्टि में गलत हो जाएंगे और यदि कोई "मेरा ही सच्चा" की रट लगाने लगेगा तो यह कदाग्रह होगा, सत्याग्रह नहीं। जैन-धर्म में अनेकान्त ही सत्य को पाने का प्रशस्त पथ है और यह "भी" का रास्ता है, "ही" का नहीं।

एक सज्जन दिगम्बर सम्प्रदाय के मोह में फंसकर यह कहने लगे कि प्रभु के वीतराग वेष की दिगम्बर मूर्ति की पूजा से ही मन को शान्ति मिल सकती है, दूसरे किसी भी तरीके से नहीं। तो इस सम्बन्ध में पूछना होगा कि क्या जितने लोग नग्न-मूर्ति की पूजा करते हैं उन सबको शान्ति मिल गई है? उनका मन हिमाद्रि-शिखर बन गया है? या अभी राग-द्वेष की अन्धेरी गलियों में ही भटक रहा है? यही प्रश्न सामायिक के साधक के सामने भी आ सकता है और यही प्रश्न श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक से भी पूछा जा सकता है कि क्या उनका मन अपनी पद्धति के अनुसार पूजा करने पर समाधिस्थ हो गया है या पहले की भान्ति विचारों की दुनियां में घूमता-फिरता रहता है? ऐसा ही प्रश्न-चिन्ह तेरहपन्थो साधक की साधना-पद्धति के आगे भी लगेगा। यदि इन सबका उत्तर मनः-शान्ति के सम्बन्ध में नकारात्मक ही हो तो प्रश्न फिर इस रूप में सामने आ सकता है कि जब धर्माराधन सभी ने अपनी अपनी विधि से ठीक किया है और वे सब विधियां आपके विश्वास के

अनुसार सम्यक् हैं तो फिर सबके मन को शान्ति कैसे नहीं मिली ?

शायद इस प्रश्न के समाधान में उन सबका एक ही उत्तर हो कि अजीव-पूजा तथा सामायिक सच्ची हो तो ही मन को शान्ति मिले न ! किसी झूठी पूजा तथा सामायिक का कोरा प्रदर्शन करने से क्या बनता है ? इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य का सम्बन्ध आत्मा के शुद्ध भावों से है न कि बाहर की विधियों से। यदि उसका सम्बन्ध बाहर के विधि-विधानों से रहता तो फिर उनका कोरा अभिनय करने से मन को शान्ति मिल जाती, किन्तु ऐसा नहीं होता। अपने-अपने मार्ग पर चलते हुए भी प्रत्येक साधक को जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा की आवश्यकता रहती है। शान्ति का यह नियम केवल जैनों तक ही सीमित नहीं, बल्कि विश्व के प्रत्येक आत्म-शान्ति के पथिक के लिए मात्र यही सत्य का पथ है जो बाहर के साम्प्रदायिक घेरों और विधि-विधानों से सर्वथा मुक्त है। इससे यह चिन्तन स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व का आधार सार्वभौम सत्य है न कि बाहरी क्रिया-कलाप।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो व्यक्ति सम्यक्त्व के इस सच्चे स्वरूप को समझ लेता है वह कभी भी संकीर्ण नहीं बन सकता। उसके मन में केवल स्वधर्मी - वात्सल्य ही नहीं उभरता, बल्कि वह प्राणी-वात्सल्य का महासागर ही बन जाता है।

संवेग, निर्वेद उपशम, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पांच लक्षण भी निश्चय-सम्यक्त्व के हैं। यह एक तरह से सम्यक्-दृष्टि की कसौटी हैं। यह हर उस व्यक्ति के लिए हैं जो सम्यक्त्वी होने का दावा करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस कसौटी पर अपने सम्यक्त्व को कस कर उसके खरे और खोटेपन को देख सकता है। इन गुणों का उदय उसी के जीवन में होगा जिसने अनन्तानुबन्धी सप्तक का उपशम, क्षयोपशम या सर्वथा क्षय कर दिया है। जीव के सम्यक्त्व में इस अनन्तानुबन्धी सप्तक के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय के अनुपात से ही जीवन में समकित का उदय होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार जो व्यक्ति निश्चित रूप से सम्यक्त्व में तीन करण और तीन योग से प्रतिष्ठित हो जाता है वह चतुर्थ गुण-

स्थान में प्रवेश कर जाता है और ऐसा जीव उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। यदि एक ही जन्म में ऐसा सम्भव न हो सके तो वह तीन जन्मों में अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसका सीधा अर्थ यह निकला कि निश्चय सम्यक्त्व से जीवन में चारित्र का उदय अवश्यम्भावी है, परन्तु केवल बाहर से व्रतों को ग्रहण कर लेना ही चारित्र नहीं, वह तो केवल व्यवहार मात्र है।

वास्तव में चारित्र की प्रतिष्ठा कषाय-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के आधार पर होती है। जितना-जितना कषायों का क्षय होता जाता है, उतना-उतना चारित्र विकसित होता जाता है। यह तो सम्यक्त्व का लोकोत्तर लाभ है। यह लाभ यदि कोई इस दुर्लभ मानव-जीवन में प्राप्त कर लेता है फिर तो उसके मानव-जन्म की सफलता में कोई शंका ही नहीं रह जाती।

मोक्ष से पहले मनुष्य इसी लोक में रहता है। वैसे जैन-धर्म एवं वैष्णव धर्म के अनुसार वह कर्मानुसार गति भी बदल सकता है, किन्तु यदि पुण्य-योग से एक मनुष्य निरन्तर कुछ जन्मों तक मनुष्य-गति को ही प्राप्त करता रहे तो भी कर्म-जाल उसके पीछे लगा ही रहता है। उसके अनुसार उसे फिर कर्म करने के लिए वाध्य होना पड़ता है और अपने कृतकर्मों का उपभोग भी करना पड़ता है। इसलिए यदि जीव अपने जीवन में सम्यक्त्वी बन कर रहेगा तो साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक समभावी रह कर अपने जीवन को शान्ति से चला सकेगा। क्योंकि वह किसी पर राग-द्वेष करने की अपेक्षा उस सुख-दुख को अपने कर्म का फल समझ कर जीवन की प्रत्येक स्थिति में समभाव रखेगा। इससे उसे कर्मबन्ध अल्प होगा। उसकी आत्मा लघुभूत होकर ऊर्ध्वगमन करके एक दिन मोक्ष को भी प्राप्त कर सकेगी, उपार्जित ज्ञान एक ही जन्म के लिए नहीं होता, वह जन्मान्तरों में भी जीव के साथ जाता है और वहां भी उसे पाप तथा कर्म-बन्ध से बचा कर उसके मन को आत्माभिमुख रखता है। अतः यह सम्यक्त्व धर्म का मूल है और साधक के जन्म-जन्म का अक्षय धन है।

●

३६

जीवन और मृत्यु का विज्ञान

'जो एक बार इस संसार से चला जाता है वह फिर लौट कर नहीं आता। यह केवल बात ही नहीं, बल्कि जीवन और जगत् का अटल विधान है। इस विधान के अन्तरङ्ग में एक और विधान भी है—प्रकृति के उस सूक्ष्म विधान को समझे बिना हम जीवन के शाश्वत तत्त्व तक कदापि पहुंच नहीं सकते। शायद गहन चिन्तन की एक ही डुबकी हमें सत्य की गहनता के अन्तस्तल में ले जाये। आइये हम इसके लिये प्रयत्न तो करें।

दुनिया के साधारण लोग जीवन और शरीर के सम्बन्ध-विच्छेद को मृत्यु कहते हैं। यह धारणा व्यवहार के धरातल पर जितनी सत्य लगती है निश्चय के शिखर पर यह विचारणा उतनी ही असत्य हो जाती है। जिस क्षण जीव और शरीर का बन्धन टूटता है दुनिया के लोग उसे जीवन की अन्तिम घड़ी कहते हैं, किन्तु सिद्धान्त-पक्ष का तकाजा यह है कि वह जीवन का नहीं मृत्यु का अन्तिम क्षण है, क्योंकि शरीर में जो जीवन है और उस जीवन का जो केन्द्र है आत्मा उसका कभी अन्त नहीं होता। जो अन्त-हीन है उसका अन्तिम क्षण कभी सम्भव नहीं हो सकता। शरीर के रूप में जिस जीवन का उद्भव होता है वह आते ही मृत्यु की पगडण्डी पर अपनी एक लम्बी यात्रा आरम्भ कर देता है। इस तरह यदि जीवन को मृत्यु का एक लम्बा सफर कहा जाये तो बिल्कुल गलत नहीं होगा। एक पाश्चात्य विद्वान ने शायद इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए ऐसा कहा हो :—

Our Life is nothing but our death begun. हमारा जीवन मृत्यु का केवल एक आरम्भ है, अन्य कुछ नहीं। यदि जीवन मृत्यु की ही एक लम्बी यात्रा है तो फिर जीवन का स्वरूप क्या है ? इस धरती पर जीवन किस रूप में प्रकट होता है ? इसे समझना अत्यावश्यक है। जो जीवन को नहीं समझ सकता वह शाश्वत जीवन की उपलब्धि नहीं कर सकता।

सनातन एवं चिरन्तन जीवन तक पहुंचने के लिये अजीवन की आसक्ति से मुक्त होना पड़ता है, इसलिये मोक्ष को साधना में अजीवन के स्वरूप को जानना भी परम आवश्यक है।

इस संसार में जन्म ले कर कौन आता है ? और कौन जाता है ? यदि आता है तो फिर जाता क्यों है ? और जाता है तो फिर आता क्यों है ? इस आने-जाने में क्या मजा है। क्या यह सब अपनी इच्छा से है या यह सब किसी की आधीनता से हो रहा है ? यदि कहीं आधीनता है तो कौन किस के आधीन है ? यह परवशता कब से चली आ रही है ? क्या इस परतन्त्रता का अन्त हो सकता है ? यदि इस पराधीनता का अन्त आ सकता है तो उसका साधन क्या है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये हमें तीन तत्वों पर गम्भीर चिन्तन करना होगा। वे तीन तत्व इस प्रकार से हैं :—(१) जीव (२) जीवन (३) अजीवन।

इन तीनों तत्वों में जीव सब से महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान तत्व है। सनातन धर्म में शुद्ध आत्मा और जीव में भेद माना गया है, किन्तु जैन धर्म ने निश्चय नय से आत्मा को ही जीव कहा है। वेदान्त का ब्रह्म, गीताकार तथा सांख्य का पुरुष भी एवंभूतनय की दृष्टि से जीव के रूप में ही स्वीकार किया गया है। जैन धर्म अपने सिद्ध भगवान् को भी निश्चय दृष्टि से जीव का परम शुद्ध रूप ही मानता है। इस के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। जैन धर्म ने जीव को उपयोगमय माना है। 'उपयोग' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। सनातन धर्म में जिस अर्थ में चित् शब्द का प्रयोग किया गया है, प्रायः कुछ भेद के साथ उसी अर्थ में जैन धर्म में उपयोग शब्द का ग्रहण किया गया है।

निराकार तथा साकार रूप में उपयोग दो माने गये हैं। निराकारोपयोग को दर्शन तथा साकारोपयोग को ज्ञान कहा जाता है। जिस में दर्शन तथा साकार रूप उपयोग रहता है वह ही जीव है। दर्शन तथा ज्ञान में भेद क्या है ? इसे भी समझ लेना चाहिये। जगत् के पदार्थों का जीव को जो परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप में सामान्य बोध होता है वह दर्शन है और वही बोध सांगोपांग रूप में विशेष प्रकार से होता है तो उसे ज्ञान कहा जाता है। इसे स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण देना उपयुक्त रहेगा।

एक व्यक्ति दूर से एक वृक्ष को देखता है। उसके हृदय में "यह कोई वृक्ष है" इस प्रकार का बोध होता है, इसे हम दर्शन कह सकते हैं। इस के पश्चात् उत्तर क्षण में वह दर्शक ऐसा चिन्तन करने लगता है कि वह वृक्ष काहे का है ? किसका है ? छोटा है या कि बड़ा है ? फलवान् है कि फलहीन है ? कितना पुराना है ? जब उस वृक्ष के सम्बन्ध में उस दृश्य का पूर्ण बोध हो जाता है तब उसे ज्ञान कहा जा सकता है। यह ज्ञान ही जीव की सत्ता को सिद्ध करता है और इसी से जीव की पहचान होती है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठ सकता है वह यह है कि क्या जैन धर्म जीव को केवल ज्ञानमय ही मानता है ? क्या उसे सन्मय तथा आनन्दमय नहीं मानता ? सनातन धर्म में तो आत्मा को चिन्मय सन्मय तथा आनन्द स्वरूप स्वीकार किया गया है। जैन धर्म में सत्य तथा आनन्द का केन्द्र कहां है ?

इस का उत्तर केवल इतना ही है कि केवल-ज्ञान को ग्रहण करने से सत्य तथा आनन्द का ग्रहण स्वतः ही हो जाता है। ज्ञान का अर्थ केवल जानना ही नहीं, बल्कि जब वह जानना सत्य से अन्वित होता है तभी उसे सच्चा ज्ञान कहते हैं और जब वह सत्य ज्ञान आत्म-विषयक होता है तब उसे आत्म-ज्ञान कहा जाता है। जब आत्म-ज्ञान का साधक आत्मा के सत्य स्वरूप में स्थित हो जाता है तो फिर उसे स्वयं में ही आनन्द की अनुभूति होने लगती है। अतः जैन धर्म ने आत्मा, ज्ञान, सत्य तथा आनन्द को अभिन्न माना है। इसीलिये उस

ने 'जीवस्य उपयोग-लक्षणं' सूत्र द्वारा जीव को उपयोगमय कहा है।

यह तो जीव के स्वरूप की बात हुई। अब अजीव के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना ठीक रहे गा। जीव को जानने के बाद अजीव को समझना कोई कठिन काम नहीं रह जाता। बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जो जीव नहीं वही अजीव है, अर्थात् जिस में ज्ञान आदि गुण नहीं हैं उसे ही अजीव कहते हैं। जीव को छोड़ कर इस संसार में शेष सब पदार्थ अजीव हैं।

जैन धर्म ने लोक में छे पदार्थ—जीव, पुद्गल, काल, आकाश, धर्मास्ति तथा अधर्मास्ति के रूप में स्वीकार किये हैं। इन में जीव के अतिरिक्त पांच तत्व अजीव माने गये हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि काल, आकाश, धर्मास्ति तथा अधर्मास्ति ये चार द्रव्य अरूपी अजीव हैं और एक द्रव्य पुद्गल यह रूपी अजीव द्रव्य है। स्मरण रहे कि जैन धर्म में कोई भी वस्तु निराकार नहीं मानी गई। उस की मान्यता के अनुसार जो भी द्रव्य इस संसार में 'अस्ति' रूप है, उसका कोई न कोई आकार तो होता ही है, भले ही वह इन्द्रिय-ग्राह्य हो या अग्राह्य हो, पर उसे निराकार नहीं कहा जा सकता। जो वस्तु इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है उसे वह रूपी तथा जो अग्राह्य है उसे वह अरूपी कहता है। पुद्गल अजीव द्रव्य है, किन्तु वह रूपी है। जो रूपी होता है उस में शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श आदि पाये ही जाते हैं और इन्द्रियां उसे ग्रहण भी कर सकती हैं। अरूपी अजीव में शब्द आदि कुछ नहीं होता, इसलिए वे इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। वे केवल आत्म-ग्राह्य हैं, अर्थात् इस का साक्षात्कार केवल आत्म-ज्ञानी ही कर सकता है।

जैन धर्म के पुद्गल सांख्य तथा गीता की भाषा में प्रकृति वेदान्त के शब्दों में माया और बौद्ध मत में उसे वासना कह सकते हैं। पुद्गल जड़ तत्व है, अंग्रेजी में इसे मैटर matter तथा उर्दू में इसे 'मादा' कहा जाता है। यह समस्त दृश्यमान जगत् इसी पुद्गल का ही प्रपञ्च है, इस संसार में पुद्गल अनन्त हैं और पुद्गल विभाज्य द्रव्य है, अर्थात्

एक दूसरे से मिल कर बिछुड़ जाना इसका स्वभाव है। इस तरह यह स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु रूप में बदलता रहता है। परमाणु रूप में यह जगत् सत्—नित्य है तथा स्कन्ध, देश तथा प्रदेश रूप में यह पुद्गल अनित्य एवं असत् है, क्योंकि ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं और पर्यायें कोई भी नित्य नहीं होती हैं। लोक-भाषा में पर्याय को पुद्गल की अवस्था-विशेष कहा जा सकता है। परमाणु अपने स्वरूप में अविच्छिन्न रह कर भी अपनी वर्ण, रूप, रस तथा गन्ध रूप पर्यायें बदलता रहता है। यह समस्त पुद्गल-जगत् जिस में रहता है उसे 'आकाश' कहते हैं। पुद्गल की गति तथा स्थिति के नियामक तत्वों को धर्मास्ति तथा अधर्मास्ति द्रव्य कहते हैं और पुद्गल द्रव्य की एक पर्याय के अनन्तर दूसरी पर्याय में आने में जो समय लगता है वह ही काल द्रव्य है।

इन सब द्रव्यों तथा स्वयं अपने को जानने वाला जो द्रव्य है उसे जीव कहते हैं और जो न स्वयं को जानता है और न ही जीव के स्वरूप को समझता है उसे अजीव कहते हैं। इतना होने पर भी वह समस्त भौतिक जगत् का मूल है तथा जीव के साथ भी उसका अनादि सम्बन्ध निरन्तर बना हुआ है। इन दोनों के सम्बन्ध से क्या उत्पन्न होता है? अब जरा उस पर विचार कर लेना चाहिये।

जीव तथा अजीव का संयोग एवं सम्बन्ध पा कर जो प्रकट होता है उसे जीवन कहते हैं। एक प्रकार से जीवन जड़ और चेतन का संमिश्रण है। जीवन को जीव नहीं कह सकते, क्योंकि जीव की तरह यह सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं है और इसे अजीव भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह एकान्त जड़ नहीं है। जीवन में चिन्तन, निर्णय तथा कर्म का समस्त व्यवहार देखा जाता है। दुख-सुख की अनुभूति भी उसमें पाई जाती है। यह सब जीवन का चेतनत्व-पक्ष है। इसीलिये मैंने जीवन को जीव तथा अजीव के सम्बन्ध का परिणाम कहा है। जैसे जीवन को जीव नहीं कह सकते ऐसे ही जीव को जीवन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो कुछ जीवन में है वह विशुद्ध जीव में नहीं है। जीवन में शरीर, इन्द्रियां, प्राण, अध्यवसाय, वृत्ति, मन, संस्कार तथा

कर्म यह सब दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु जीव के विशुद्ध स्वरूप की दृष्टि से यह सब बाह्य भाव हैं, यह एक प्रकार से पुद्गल का ही प्रपञ्च है। किसी जीवन में यह प्रपञ्च अधिक स्पष्ट अभिव्यक्त पुष्ट एवं प्रभावक होता है और किसी जीवन में कम, किन्तु सत्ता इस की प्रत्येक जीवन में रहती है।

पञ्चेन्द्रिय तथा समनस्क प्राणियों में जीवन की अभिव्यक्ति अधिक रहती है जब कि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा अमनस्क प्राणियों में जीवन शक्ति मन्द तथा शिथिल होती है। इसी चिन्तन के आधार पर जैन धर्म में जीव और जीवन के दो भेद कहे गये है; जैसे कि त्रस तथा स्थावर। स्थावर प्राणियों के जीवन में चेतना अव्यक्त होती है, किन्तु त्रस जीवन में चेतनत्व स्पष्ट तथा सुव्यक्त रहता है। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु तथा वनस्पति इन सब का समावेश स्थावर जीवन में हो जाता है। आज के वैज्ञानिकों ने इन सब में जीवन सिद्ध कर दिया है। जो चीज़ विज्ञान के दर्पण में प्रत्यक्ष हो जाये फिर उसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

जैन दर्शन के अनुसार स्थावर जीवन में कम से कम चार प्राण तो अवश्य होते ही हैं। जैसे कि—

१. काय-बल-प्राण २. श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण ३. स्पर्शेन्द्रिय-बल-प्राण ४. आयुष्य-कर्म-बल-प्राण।

इस धरती पर जो भी जीवन हमें नज़र आता है उसकी कुछ न कुछ आयु तो होती ही है। जीवन की अभिव्यक्ति का उसका प्रत्यक्षीकरण श्वास व निःश्वास द्वारा ही होता है। जिस प्राणी में भी जीवन है उसे धारण करने वाला कोई न कोई शरीर तो होता ही है। आयुष्य जीवन की पूर्व उपलब्धि है और श्वासोच्छ्वास यह जीवन की पश्चात् चर्या है। जिस में काया अर्थात् शरीर है उसमें स्पर्शन-शक्ति भी रहती ही है। इन शक्तियों के बिना इस संसार में कोई भी जीवन नहीं पाया जाता। मैं सूक्ष्म बादर पर्याप्त तथा अपर्याप्त आदि भेदों

की खाई में उतरना नहीं चाहता, क्योंकि इस से लेख पाठकों के लिए दुरूह हो जायेगा। मेरा उद्देश्य पाठकों को भेद-प्रभेद के बीहड़ वन में ले जाना नहीं है, बल्कि जीव तथा जीवन में क्या पार्थक्य है? केवल यह चिन्तन देना है।

द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में प्राण-शक्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। समनस्क पञ्चेन्द्रिय प्राणियों में तो यह जीवन दसों प्राणों से सम्पन्न हो जाता है। देवों तथा नारकों का समावेश भी पञ्चेन्द्रिय जाति में ही हो जाता है। जैन धर्म के अनुसार जीवन सारे लोक में व्याप्त है। लोक से बाहर कहीं जीवन नहीं है। क्योंकि जीवन वहीं होता है जहां जीव और अजीव की सत्ता हो, और ये दोनों तत्त्व भी लोक में ही हैं। लोक से बाहर नहीं। जैन धर्म ने कर्म-सहित तथा कर्म रहित के भेद से जीव को दो प्रकार का कहा है। दूसरे शब्दों में मुक्त जीव को कर्म-रहित और बद्ध जीव को कर्म - सहित कहा जाता है। हर संसारी जीव कर्म-सहित है। अपने कर्मों के अनुसार वह जीवन धारण करता है। जब तक आयुष्य रहता है तब तक वह जीवन बना रहता है, जब आयु का तैल समाप्त हो जाता है तब जीवन का दीपक भी बुझ जाता है। जीव अपने कर्मों के अनुसार फिर नया जीवन धारण करता है। उस जीवन का प्रारूप वह अपने पूर्व जन्म में ही तैयार कर लेता है।

जीवन और मरण के इस क्रम को ही आवागमन कहते हैं। इस आवागमन से जो छूट जाता है उसे मुक्त जीव कहते हैं। मुक्त जीव में न कर्म है, नवृत्ति संस्कार तथा विचार रूप सूक्ष्म जीवन है और न ही इन्द्रिय - योग, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य रूप स्थूल जीवन ही उसमें पाया जाता है। इस तरह परम शुद्ध जीव में जीवन का सर्वथा अभाव होता है। जीवन के साथ जीव की व्याप्ति तो है, किन्तु जीव के साथ जीवन की व्याप्ति नहीं है, क्योंकि सिद्ध लोक में जीव तो है, किन्तु वहां जीवन नहीं है। जीव के परिभ्रमण का कारण सूक्ष्म जीवन है। यह कार्मण शरीर के रूप में अनादि काल से जीव के साथ है। भव्य जीव की अपेक्षा से यह अनादि हो कर भी

सान्त होता है। इसलिए कर्मविजय ही जैन साधना का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। कर्म-रहित हो कर जीव इस संसार से निकल कर फिर कभी संसार में लौट कर नहीं आता। शेष सब जीव अपने सूक्ष्म जीवन के आधीन होकर समय पर आते और जाते रहते हैं। किन्तु स्थूल जीवन की पर्याय अर्थात् अवस्था में परिवर्तन अवश्य हो जाता है।

संसार में केवल इसी दृष्टि से हम कहते हैं कि जो जाता है वह लौट कर नहीं आता, संसार में न लौट कर आने का यही विज्ञान है।

○



जैन दर्शन कहता है तोड़ दो ये बन्धन



इस संसार की ओर जरा देखो तो सही आंख खोल कर ! कितना अस्थिर, चंचल तथा मनमोहक है यह ! इसके अंश-अंश में दिनरात नश्वरता का ताण्डव-नृत्य होता रहता है। मानव का पागल हृदय इसकी बांकी छबि पर अपना सर्वस्व निछावर करता ही रहता है। आखिर कुछ बात अवश्य है। प्रकृति का आकर्षण शक्तिमान् है, इसमें कोई संदेह नहीं। यद्यपि आत्मा अनन्त शक्तियों का पुञ्ज ही है, किन्तु इसे अपने आप का कुछ ज्ञान हो तथा कुछ अता-पता हो तो तभी न। ज्ञान के नेत्र खुलने पर इस जगत् की नश्वरता के अन्तस्तल में अनश्वरता के दर्शन होने लगते हैं। ज्ञानी के लिये जगत् मिथ्या होता हुआ भी सत्य रूप हो जाता है। यह संसार अपने आप में केवल मिथ्या व झूठा ही नहीं, बल्कि सत्य भी है। जो कुछ होता है इसी संसार में होता है, इससे बाहर कुछ नहीं होता– सच, कुछ नहीं होता। यहीं जीवन के बन्धन बनते हैं और यहीं खुलते हैं। यहीं से होकर मार्ग नरक को जाता है और मोक्ष की सीढ़ी भी यहीं से उठती है। क्या कुछ इस जगत् में नहीं है ? जन्म-मरण, सुख-दुख, ह्रास-विकास तथा उत्थान-पतन आदि सब कुछ तो इसी में है और वह सब बिल्कुल मिथ्या नहीं है। किसी अपेक्षा से सब कुछ सत्य ही है। संसार में मिथ्या कोई चीज नहीं है। जो असत् होता है, उसका प्रभाव भी असत् ही होगा, किन्तु

प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों का प्रभाव जीव पर बराबर पड़ता है। यदि सब कुछ मिथ्या ही मिथ्या हो तो जीव को बन्धन ही क्यों हो ? यदि बन्धन है तो जड़ की सत्यता तथा शक्ति से इनकार नहीं किया जा सकता। जैन-धर्म जड़ प्रकृति (पुद्गल) को सत्य तो मानता ही है, किन्तु उसे ज्ञानमय तथा आनन्दमय नहीं मानता। इसीलिए जीव की परिभाषा करते हुए वह कहता है—

"जीवस्य उपयोगलक्षणम् ।"

अर्थात् जीव का उपयोग लक्षण है। उपयोग से शास्त्र का आशय ज्ञान तथा दर्शन से है। जिन्हें वह साकारोपयोग तथा निराकारोपयोग कहता है। सनातन-धर्म में जीवात्मा तथा आत्मा में भेद माना गया है, उसके सिद्धान्त में सुख-दुख का भोक्ता जीवात्मा ही है और आत्मा सर्व-द्वन्द्वातीत, सिद्ध-बुद्ध, तथा निर्लेप एक अलग सत्ता है। जैन-धर्म ने आत्मा को ही जीव की संज्ञा दी है। जैन-दर्शन में आत्मा की अपेक्षा जीव शब्द का अधिक व्यवहार किया गया है। नव तत्वों में आत्मा-अनात्मा तत्व नहीं कहा, बल्कि जीव तत्व तथा अजीव तत्व कहा गया है। षट् द्रव्यों में आत्मास्ति काय न कह कर जीवास्ति काय का प्रयोग किया गया है। जैन-दर्शन ने बद्ध जीव तथा मुक्त जीव कह कर स्पष्ट कर दिया है कि कर्म-बद्ध जीव सुख-दुख का भोक्ता है और कर्म-मुक्त जीव सुख-दुख से सर्वथा रहित होकर सदा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। जैन-धर्म में उसे परमात्मा या सिद्ध कहा जाता है। भगवान महावीर ने निर्जन वनों में जीवन की एकान्त साधना इसी पावन उद्देश्य को ही लेकर की थी। जीवन के अनादि बन्धनों को उन्होंने अपने आत्मा की अनन्त शक्ति का झटका देकर तोड़ डाला। सच, बिल्कुल ही तोड़ डाला और मुक्त हो गये सदा सदा के लिये।

जैन-दर्शन कहता है कि संसार की प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण होने की योग्यता है। सब कुछ उसी के पास है, किन्तु केवल उसका ज्ञान करना है और उसका पराक्रम द्वारा स्फुटीकरण (Mani festation) करना है। विद्यमान की उपलब्धि ही साधना का फल है। विकास

द्वारा क्रमशः तत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। जहां विकास अपने चरम-बिन्दु को छू लेता है, वहीं परिपूर्णता का उदय होता है। उसके आगे कुछ नहीं। साधक की साधना वहीं समाप्त हो जाती है। आत्मा की परिपूर्णता ही परमात्म-तत्त्व की सर्वोच्च अवस्था है।

जैन-धर्म का विश्वास है कि उसे बांधने वाला तथा खोलनेवाला अन्य कोई नहीं। वह स्वयं ही बन्धा है और स्वयं ही खुलेगा। उसे दूसरी कोई शक्ति खोल नहीं सकती। जीवन तथा जगत् का एक अनादि सम्बन्ध है। जगत् का कारण जीवन है या जीवन का हेतु जगत् है? यह अनन्तकाल का प्रश्न अभी तक प्रश्न ही बना हुआ है। समाधान से अभी तक भी इस की उदर-पूर्ति नहीं हुई। कुछ भी हो दोनों एक दूसरे से मूलतः भिन्न नहीं हैं। जगत् जीवन का एक विशद रूप है और जीवन उसका एक छोटा रूप। जैसे सिन्धु विन्दु का ही एक विराट् रूप है, बिन्दु उसका एक लघु रूप। दोनों तत्वतः एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं।

जीवन तथा जगत् की सत्ता में जड़ तथा चेतन का अस्तित्व समान रूप से विद्यमान है। उपजीवक तथा उपजीव्य रूप में दोनों एक दूसरे के साथ रहते हुए भी सदा एक दूसरे से अलग रहते हैं। वे अपने-अपने गुण-धर्म को कभी छोड़ते नहीं, किन्तु ये दोनों एक दूसरे से प्रभावित अवश्य होते हैं—यही दोनों का संघर्ष है— द्वंद्व है। दोनों के सम्बन्ध से एक वैभाविक स्थिति उत्पन्न होती है। जैन-धर्म जड़ तथा चेतन के इस वैभाविक परिणाम को ही जीवन तथा जगत् का मूल कारण मानता है।

जीव का वन्धन वनता है और अपनी अवधि पर फल को उत्पन्न कर के खुल जाता है, किन्तु जीवन की धरती में वीज वरावर वना रहता है, उसका संस्कार नहीं जाता। वीज रूप संस्कार से पुनः राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग तथा द्वेप से फिर एक नया वन्धन तैयार हो जाता है, फिर उसका उपभोग करने के लिये नया जीवन मिलता है। उस जीवन में कर्मों के अनुसार दुःख-सुख की फिर सृष्टि

होती है। मोह तथा माया में फंसा हुआ जीव एक शृंखला को तोड़ता हुआ एक नई शृंखला बनाता जाता है। वास्तव में बन्धन कोई भी अनादि नहीं, सब बन्धन सादि-सान्त ही हैं, भव्य जीव की अपेक्षा से। केवल उनका प्रवाह ही अनादि काल से चल रहा है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

एक नदी है जो निरन्तर बह रही है, पहला जल आगे निकल रहा है और पीछे नया जल आ रहा है। मालूम यह होता है कि वह ही पानी चला जा रहा है, किन्तु यह आंखों का धोखा है—छलना है।

पुराना जल चला गया और नया जल उसमें धीरे-धीरे और आ रहा है। ठीक इसी तरह जीव (पुरुष या चेतन) से एक बन्धन छूटता रहता है और मिथ्यात्व तथा अव्रत के कारण नया बन्धन और बन जाता है। एक और उदाहरण लीजिये—

एक बुढ़िया चरखा कात रही है। एक पूनी समाप्त होने लगती है तो वह झट दूसरी पूनी उसके साथ जोड़ देती है। एक पूनी समाप्त होती है तो दूसरी उसके साथ जुड़ जाती है। पूनी अवश्य बदलती है, किन्तु धागे का क्रम नहीं टूटता, वह निरन्तर चलता रहता है। ठीक इसी तरह जीव के प्रत्येक बन्धन तथा विमुक्ति के बीच कर्माणुओं का एक निरन्तर प्रवाह ही प्रवाहित होता रहता है। जैनदर्शन में वास्तव में यह कर्मों का प्रवाह जीवन का बन्धन है, क्योंकि जीवन के समस्त बन्धनों का उद्‌भव इसी केन्द्र से होता है। निश्चय नय के अनुसार इसे ही बन्धन कहा जाता है और जैन-दर्शन यह प्रेरणा देता है—तोड़ दो ये बन्धन—कर्म-बन्धन। इनके टूटते ही मोक्ष-लक्ष्मी पर तुम्हारा स्वतः ही अधिकार हो जाएगा।





स्वर्ग को नरक बना देने वाले सप्त कुव्यसन

(३१७–४०४)

जुआ, मांस, मदिरा-पान, वैश्यागमन, शिकार, चोरी तथा पर-स्त्री-संग ये सात कुव्यसन मनुष्य को घोर से घोर नरक में ले जाते हैं। जिन लोगों के जीवन को इन कुव्यसनों का घुन लग जाता है उनकी सुख-समृद्धि तथा शान्ति भी क्षय रोग की तरह प्रतिदिन उन्हें क्षीण करती रहती है और वे समाज के लिये भी अशान्ति तथा अराजकता के कारण बने रहते हैं।



३८

सप्त कुव्यसनों के सम्बन्ध में चिन्तन बिन्दु



आर्यावर्त्त की इस पवित्र धरती पर जन्मा प्रत्येक मनुष्य भले ही धर्म को मानता या न मानता हो, किन्तु फिर भी उसके कानों में "सत्यं वद, धर्मं चर" के मंगल स्वर कभी न कभी तो कहीं से विचरते हुए आ ही जाते हैं। मनुष्य चाहे धर्म को मानता है या नहीं, किन्तु हर मनुष्य कर्मशील तो है ही। इस सच्चाई से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। इस से आगे बढ़ कर यदि देखा जाये तो इस सत्यता को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जो कर्मशील है उसके लिए धर्मशील होना भी अत्यावश्यक है, क्योंकि धर्म के बिना व्यक्ति को करणीय तथा अकरणीय का विवेक नहीं हो सकता और बिना विवेक के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, जैसे कि भगवान महावीर ने कहा है—**विवेगे धम्ममाहियं**। गौतम! विवेक में ही धर्म कहा है। इस समस्त प्रकृति का ज्ञाता बन जाने पर भी यदि मनुष्य को यह पता न हो कि उसे इस दुनिया में 'क्या करना है और क्या नहीं करना' तो उसका सारा ज्ञान बेकार हो जाता है। धर्म भारत भू का वैशिष्टय है। धर्म ही सन्तों की आंखों की आभा है। उनकी वाणी का सौष्ठव एवं सौन्दर्य है और है हृदय का माधुर्य भी। मन्दिरों के भगवान भारत-वासियों की धर्म-श्रद्धा के मूर्तिमान प्रतीक हैं।

भारत ने सारे विश्व को अपनी आत्मा में ही कैवल्य की ज्योति को देखने और अन्ततः भगवान को मिलने के ऊंचे चिन्तन दिये हैं, किन्तु जीवन में धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता से पूर्व आवश्यक है जीवन में नैतिकता, मानवता, सभ्यता तथा शालीनता की प्रतिष्ठा का होना। मन्दिर की जो नींव की ईंट है उसकी उपेक्षा करके कौन है जो उसके उन्नत एवं भव्य कलश के सुनहले सपनों को पूरा कर सकता है। विश्व के बड़े-बड़े आध्यात्मिक साधकों के जीवन का मूल भी मानवता ही रही है और सामाजिक जीवन की सुख-शान्ति की आधार-शिला भी यही मानवता है। मेरे अपने शब्दों में 'मानवता विवेक-दीप की शिखा है जिसके बिना मनुष्य के मन में गहन अन्धेरा हो रहता है। व्यक्ति उस अन्धकार में भटक-भटक कर दुःख उठाता है और अपने अभद्र एवं नीच कर्मों से दूसरों को भी दुखी करता है।

धर्म केवल परलोक की वस्तु नहीं है, सबसे पहले तो वह इस लोक की ही चीज़ है। हमारे धर्म-शास्त्रों ने मनुष्य के लिए कुछ ऐसे नियम या कुछ ऐसी श्रेष्ठ विधान-रेखाएं बना दी हैं कि यदि मनुष्य उन पर श्रद्धा रख कर चले तो वह परलोक में तो सुखी होगा ही लोक में भी उसे अपनी आंखों के सामने अपार सुख मिल सकता है। मनुष्य का भाग्य उसके अपने ही कर्मों का फल है। यदि वह अपने जीवन में खूब सोच-समझ कर चले तो वह अपने दुर्भाग्य को भी बदल सकता है और साथ ही वह अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण भी कर सकता है। भवितव्यता तो जीवन का अपवाद है न कि उत्सर्ग-मार्ग। पुरुषार्थ ही जीवन का सब से बड़ा सिद्धान्त है। सम्यक् मार्ग पर किया हुआ पुरुषार्थ ही धर्म है जिसका दूसरा नाम चारित्र है। जैन धर्म में गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले श्रावक के चारित्र का बारह व्रतों के रूप में वर्णन किया गया है। यह चारित्र गृहस्थ जीवन की एक लोकोत्तर साधना है। इस साधना से उसके अशुभ संस्कारों तथा मलिन विचारों का परिशोधन होता है। धीरे-धीरे साधक अपनी मानसिक दुर्बलताओं पर विजय पा कर अपनी आत्मा को प्रबुद्ध बना

लेता है। प्रबुद्धता तो सिद्धत्व को प्राप्त करने की पूर्व भूमिका है और इस भूमिका की तैयारी में चारित्र की विशेष शुद्धता अपेक्षित है। यह कभी भूलना नहीं चाहिये कि जिसका जीवन पवित्र नहीं होता वह जीवन में कभी शुद्ध भी नहीं हो सकता, इसलिये सब से पहले व्यक्ति का पवित्र होना अत्यावश्यक है।

जैन धर्म ने जीवन के कुछ ऐसे महादोषों का ज़िकर किया है जिन के सेवन से व्यक्ति के जीवन की पवित्रता नष्ट होती है और वह समाज के लिए एक कलंक बन जाता है। एक पवित्र व्यक्ति अपने आस-पास के वातावरण में पवित्रता के कण बिखेर कर उसे भी पवित्र बना देता है और जो अपवित्र है वह अपनी अपवित्र आंखों तथा अभद्र व्यवहारों से पवित्र लोगों की पवित्रता को भी नष्ट कर देता है या नष्ट करने का प्रयत्न करता है। जीवन को अमानवीय बना कर उसे पतन के गर्त में गिराने वाले उन महादोषों को जैन-संस्कृति ने 'कुव्यसन' की संज्ञा दी है। ये कुव्यसन मुख्य रूप से सात कहे गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं और उनकी गणना पर एक श्लोक कहा गया है जैसे कि—

द्यूतश्च मांसं मदिरा च वेश्या,
हिंसा च चौर्यं परदार-सेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके,
घोरातिघोरे नरकं नयन्ति॥

जूआ, मांस, मदिरा-पान, वेश्या-गमन, शिकार, चोरी तथा पर-स्त्री-संग ये सात कुव्यसन मनुष्य को घोर से घोर नरक में ले जाते हैं।

जीवन में जहां उपर्युक्त प्रकार के भयंकर पाप जड़ जमाकर बैठे हों वहां धर्म-ध्यान तथा प्रभु-भक्ति की तरफ ध्यान कैसे जा सकता है? यदि किसी धर्म-स्थान में ऐसे लोग पहुंच भी जायें तो वहां पर भी वे अपना शिकार ही ढूढ़ने में लगे रहते हैं। जिन लोगों के जीवन को कुव्यसनों का घुण लग जाता है उनको सुख, समृद्धि तथा शान्ति क्षय-रोग की तरह प्रतिदिन उन्हें क्षीण ही करती रहती है और वे समाज के लिए भी अशान्ति तथा अराजकता का कारण बने रहते हैं। इन महा

दोषों से बचने के लिए इनके द्वारा होने वाली सामाजिक, शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा आत्मिक हानियों पर अवश्य दृष्टिपात करना होगा। वैसे अच्छे-अच्छे विद्वानों ने इन पर बहुत कुछ विस्तार से इन के एक-एक अंग को स्पर्श कर के लिखा है, किन्तु इस एक लेख में जो आवश्यक है उसका संक्षिप्त एवं मननीय अंश ही प्रस्तुत करना है मुझे।

१. जूआ

शास्त्रकारों ने सातों कुव्यसनों में सब से पहले जूए का नाम लिया है। ऐसा क्यों ? मेरे तुच्छ चिन्तन में शायद इसको प्राथमिकता इसलिए दी गई है कि जूआ धनार्जन का कोई सामाजिक एवं शालीन ढंग नहीं है। वह तो धनोपलब्धि का ऐसा असामाजिक ढंग है जिसमें व्यक्ति बिना मेहनत के थोड़े से अधिक पाने का प्रयत्न करता है, वह भी छल-कपट का आसरा लेकर। जहां छल है वहां सत्य का क्या काम ? यदि जूए में अधिक धन हाथ लग जाए तो फिर मांस, मदिरा तथा दुराचार जैसे पर्वत समान दोष जीवन में अनायास ही आने लगते है। जैसे बरसात में वर्षा होने से जंगल में चारों तरफ लम्बी-लम्बी घास खड़ी हो जाती है वैसे ही जीवन में बिना मेहनत का पैसा बढ़ने से विकारों की घास उग आती है। जैसे वर्षा कालीन नदियों के प्रबल प्रवाह अपने साथ कितने ही पत्थर-कंकर बहा कर लाते हैं ऐसे ही धनागमन अपने साथ जीवन में कितने ही दोष लेकर आता है। धन यदि जीवन की परमावश्यकता है तो दूसरी तरफ जीवन की सबसे बड़ी वासना भी तो यही है। जुआरी लोग धन की आवश्यकता के लिए जूआ नहीं खेलते, वे तो जूए में जीवन गलाते हैं, धन की वासना में आसक्त होकर और फिर उससे जीवन की अन्य वासनाओं को पूरा करने के लिए।

यह तो जीवन का वह चित्र है जो जूए में धन हाथ लगने पर बनता है और यदि दुर्भाग्य से धन चला जाए तो फिर जीवन का क्या रूप बनता है ? जरा उस पर भी विचार कर लेना चाहिये। जूए में धन नष्ट होने पर जुआरी अपने घर में ही चोरी करने लगता

है। पति होकर भी अपनी पत्नी के आगे भिखारी बन कर झोली पसार देता है। यदि वह कुछ देने से इन्कार करती है तो बलात् छीन कर ले जाता है। स्त्रियों को प्रायः आभूषण प्रिय होते हैं। वे उन्हें अपनी जान से भी प्यारा समझती हैं। अपने मायके तथा ससुराल से मिले सब आभूषणों को खूब संभाल कर रखती हैं। वे उनकी रक्षा इस ख्याल से भी करती हैं कि कभी विपत्ति के समय वे काम आ सकते हैं। अतिरिक्त इस के बेटे-वेटी के विवाह में भी वे सहारा बन सकते हैं, किन्तु जुआरी की आंखें उन आभूषणों पर भी गड़ी रहती हैं और वह हार जाने पर अपने घर की उस समस्त श्री को जूए के अग्नि-कुण्ड में स्वाहा कर देता है।

इसी तरह वह अपनी मां तथा घर के अन्य बन्धुओं को भी परेशान करने लगता है। यदि उसे मना किया जाए या उसकी बात न मानी जाए तो फिर वह मार-पिटाई पर उतारू हो जाता है। कभी-कभी क्रोध में आ कर वह अपने घर वालों को घर से भाग जाने या अपने जीवन पर खेल जाने की धमकियां देने लगता है जिस से उस के घर वाले डर कर अपना सब कुछ उस की झोली में डाल देते हैं। इस तरह जूए के विनाशकारी व्यसन से उस जुआरी का तो नाश होता ही है उसके पीछे उस के परिवार का भी सर्वनाश हो जाता है।

जब अपने घर में कुछ नहीं रहता तो फिर वह अपने अड़ोस-पड़ोस पर नजरें घुमाने लगता है। अपने घर में आए हुए मेहमानों की जेबों को भी वह क्षमा नहीं करता। उसके पड़ोसी भी उससे आंख बचा कर दूर ही रहते हैं। दूर के तथा नजदीक के सब रिश्तेदार उस के घर में आना छोड़ देते हैं। बिरादरी में भी उस जुआरी के मान तथा सम्मान की साख सब हवा हो जाती है। किसी सभा सोसायटी में वह आंखें ऊंची कर के तथा सीना तान कर बैठ नहीं सकता। जुआरी लोग अपने बाल बच्चों को शिक्षा-दीक्षा के प्रति भी सदैव विमुख ही रहते हैं। कुछ बच्चे तो अपने पिता का अनुसरण कर के वैसे ही बन जाते हैं और जो कुछ मां की देख-भाल तथा अपने सुसंस्कारों के कारण उस कुव्यसन से अलिप्त रहते हैं वे भी विशेष प्रगति तथा उन्नति नहीं कर पाते। घर

की विषम परिस्थितियों के कारण वे असमय में ही जीवन की विकट समस्याओं में उलझ जाते हैं। अपने पिता की बदनामी उनके जीवन का शल्य तो बनी ही रहती है। साथ में समाज में गौरव, शोभा तथा सन्मान का अभाव होने से उनमें हीन भावना आने लगती है और सम्पन्न सम्माननीय तथा समृद्ध परिवारों से सम्बन्ध न जुड़ने के कारण उनका भविष्य भी अन्धकारमय बन जाता है।

जुआरी आदमी को अच्छी संगति तो कभी मिलती ही नहीं। वैसे तो वह अच्छे लोगों में बैठना पसन्द ही नहीं करता, किन्तु यदि वह कभी ऊंचे लोगों में बैठना चाहे भी तो लोग उस के साथ मिल बैठने के लिए तैयार नहीं होते। इसलिए शराबी-कबाबी तथा विलासी ही उसके जीवन भर साथी बने रहते हैं। वे भी सब स्वार्थ के साथी होते हैं पैसा न रहने पर वे सब भी उससे आंख चुराने लगते हैं।

आखिर वे ही उसके साथी-संगी एक दिन उसके जीवन के फूल चुन लेते हैं और उसके अभागे परिवार को आंसुओं के दुखद सागर में गोते खाने के लिए बेसहारा छोड़ देते हैं।

कोई भी व्यक्ति इस सम्बन्ध में शंकाकुल होकर ज़बान खोल सकता है और पूछ भी सकता है कि आपने जिस जुए के दुष्परिणाम बताये हैं उस जूए का स्वरूप क्या है ? क्योंकि अतीत के अध्ययन से देखने पर प्रतीत होता है कि जूआ पुराने समय से जन-जीवन में एक मनोरञ्जन के रूप में रहा है। अति की सीमा को छू कर ही यह कुव्यसन का रूप लेता था। इस पर राज्य की ओर से कभी कोई प्रतिबन्ध न था। यदि ऐसा होता तो नल जैसे राजा तथा धर्मराज़ युधिष्ठिर जैसे धर्म-पुरुष इसे कभी न खेलते। जुए के प्रति राजकीय दृष्टि-कोण चाहे कुछ भी रहा हो, किन्तु धार्मिक दृष्टि से इसे कभी भी अच्छा नहीं समझा गया इसे प्रजा ने खेला या किसी सम्राट् ने या अन्य किसी नास्तिक ने इसे अपनाया हो या धर्म-पुरुष ने, इसके परिणाम इतिहास के पृष्ठों पर सदैव अमंगल सूचक ही रहे हैं। इसके हार-जीत के नशे में जब कोई अपनी स्त्री को भी दाव पर लगा सकता है तो इससे बढ़

कर इसकी घातकता क्या हो सकती है ? इस दृष्टि से यदि इसे कुव्यसनों का राजा कहा जाये तो कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी।

देश में ज्यों-ज्यों शिक्षा, सभ्यता, धार्मिकता तथा मानव की चिन्तन-शक्ति का विकास होता गया त्यों-त्यों मानव सामाजिक बुराइयों से मुक्त होने का प्रयत्न भी करने लगा। जूए को सब प्रकार के अनर्थों की खान समझ कर समाज एवं धर्म-पुरुषों ने ही नहीं राज्य-व्यवस्था ने भी इसे पाप एवं अवैध कार्य घोषित किया। इस सभ्य युग में जूआ एक नैतिक अपराध माना जाता है।

निःसन्देह जूए जैसे महा कुव्यसन की रोकथाम के लिए धर्म तथा कानून की तरफ से भरसक प्रयत्न हुए हैं, किन्तु जूआ अभी भी भेष बदल कर और अपटूडेट up-to-date बन कर समाज में घूम रहा है।

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूं कि बिना मेहनत किये थोड़े से धन द्वारा विपुल धन प्राप्त करने की लालसा का एक खेल ही जूआ है। गये हुए धन को फिर वापिस लौटाने के प्रयत्न में मनुष्य सारी उम्र ही इस में लगा रहता है। इस खेल में कभी मुट्ठी गरम भी हो जाती है और जेब हो जाती है भारी, किन्तु याद रहे जूए का धन आता है अधिक ले जाने के लिए। तब दोनों ही मुट्ठियां ठंडी हो जाती हैं और जेबों से धन बिना जेबों के फटे ही बाहर निकल जाता है। इस खेल में मन का ऐसा ख्याल बना रहता है कि कभी न कभी तो हम मैदान मारेंगे ही। इसी ध्यान में जुआरी अपने मन को समझाता रहता है कि "घबरा मत अभी सारा दिन और सारी रात पड़ी है। यह सामने वाला जाएगा कहाँ बचकर ? अभी सब निकलवा लूंगा, यह क्या समझता है कि झोलियां भर कर घर ले जाएगा और वह साहूकार बन जाएगा। हमें कंगाल बनाकर क्या वह साहूकार—सेठ बन सकेगा कभी नहीं। वह अपने आप को पाटे खां समझ रहा है, यदि खेल ही खेल में नाकों चने न चबवा दूं तो मुझे भी खिलाड़ी कोई न समझे आज से।" इस तरह जूए-बाज बाहर से एक दूसरे के मित्र हो कर भी एक दूसरे का मन से बुरा सोचते रहते हैं। "अब लगा दाव ! अब मारी बाजी !! अब पलटा

पासा !!! " बस, इसी आशा में जुआरी अपने घर की लक्ष्मी को धक्के मार कर घर से निकालता रहता है और दुखदायी दरिद्रता का पाणि-ग्रहण कर के उसे अपनी चिर-संगिनी बना लेता है।

जूए की परिभाषा तथा उसका जो स्वरूप मैंने ऊपर दिया है उससे मिलते-जुलते जितने भी खेल हैं वे सब नाम - भेद के साथ इस जूए के ही रूप हैं। धार्मिक दृष्टि से वे सब हेय हैं—वर्जित हैं। किन्तु इस शिक्षित एवं सभ्य समाज में लाटरी, वायदे का व्यापार तथा घुड़-दौड़ में शर्त लगाना आदि सब जूए वैध समझे जाते हैं। समाचार पत्रों में इनके बड़े-बड़े आकर्षक विज्ञापन भी देखे जाते हैं। आज के युग में वे सब व्यापार के विभिन्न प्रकार बन गये हैं। जबकि धार्मिक उपनेत्र से देखने पर ये सब जूए के ही परिष्कृत एवं आधुनिक रूप हैं, क्योंकि इन सभी में भी व्यक्ति का चित्त विक्षिप्त ही बना रहता है। इन से कुछ ही लोग भाग्य से लाभान्वित होते हैं, किन्तु अधिकांश तो बेचारे आशा देवी के मन्दिर की जीवन भर परिक्रमा ही करते रह जाते हैं उन्हें कभी भी लक्ष्मी के दर्शन नहीं हो पाते। फिर दूसरी बात यह है कि प्रायः कुछ ही समझदार लोग ऐसे हैं जो लाटरी आदि द्वारा हाथ लगे धन से अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर अपने जीवन को सुखी बनाते हैं, नहीं तो प्रायः ऐसे ही लोग ज्यादा मिलते हैं जो धन का दुरुपयोग कर के अपना जीवन बिगाड़ लेते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक जीवन है काम इच्छा तथा आवश्यकता के रूप में बना ही रहता है। उसकी पूर्ति का साधन केवल अर्थ ही है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी काम-साधन के रूप में अपेक्षा बनी रहती है। इसलिए उसका अर्जन धर्म न्याय तथा नीति पर आधारित व्यापार आदि के द्वारा करना ही उपयुक्त एवं उत्तम है।

२. मांसाहार

दूसरा कुव्यसन है मांसाहार संसार में केवल मनुष्य को ही नहीं बल्कि हर प्राणी को ही अपने जीवन की रक्षा के लिए आहार

करना पड़ता है। 'शरीर' कहते ही उसे हैं जो प्रतिक्षण क्षय की ओर अग्रसर हो रहा है। जैन-धर्म में इस हाड़-मांस के शरीर को औदारिक शरीर कहा गया है। औदारिक शरीर का अर्थ है प्रधान शरीर। जीवन के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय में सर्वाधिक इसी शरीर का विशेष महत्त्व है। शरीर कर्म का भी साधन है भोग एवं धर्म का भी। "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्" सूक्त तो आपने कितनी ही बार सुना होगा। भगवान महावीर ने भी मांसाहार पर कुछ लिखने से पहले क्षुधा तथा आहार के सम्बन्ध में शरीर की महत्ता बताते हुए कहा है— सरीरमाहु नावत्ति—यह शरीर एक नौका है। संसार-सागर को तरने का साधन है यह। शरीर की रक्षा आवश्यक है। आहार इसकी रक्षा के लिए ही किया जाता है। हमारा यह शरीर प्रतिपल चिन्तन, सम्भाषण तथा कर्म करने से अपनी शक्ति खोता रहता है। उसकी पूर्ति आहार द्वारा ही होती है। जिसे हम 'भूख' कहते हैं वह एक तरह से शरीरस्थ जीव द्वारा शरीर के लिये आहार की मांग है, न कि अपने लिये। भूख वेदनीय कर्म के उदय से ही लगती है। अधीर पुरुषों के लिए क्षुधा असह्य होती है। साधु के बाईस परीषहों में प्रथम स्थान क्षुधा को ही दिया गया है। जंगल का शेर भी क्षुधा-विकल हो कर अपनी गुफा से निकल कर इधर-उधर घूमने लगता है। शेर तो जंगल का बादशाह है, वह तो निर्भय हो कर फिरता है, अपनी गुफा से बाहर आने में उसे कोई डर नहीं होता, किन्तु जिन प्राणियों को अपने घरों से बाहर निकलने पर अपने प्राणों का भय भी रहता है उनको भी अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिये आहार की गवेषणा करनी पड़ती है। क्या आप नहीं जानते कि चूहा अपने बिल से बाहर आ कर कभी-कभी बिल्ली के मुंह का ग्रास बन जाता है, किन्तु भयाकुल हो कर भी वह एक रोटी के टुकड़े की तलाश में फिरता रहता है। अपने नीड़ों में सुख तथा आराम से बैठे हुए पक्षी क्या पंख पसार कर खुले आकाश में नहीं उड़ते रहते ? वह उनका कोई गगन-विहार नहीं, बल्कि अपने तथा अपने बच्चों के लिए अनाज के चार कणों की खोज है उनकी वह। कभी-कभी अपने

तथा अपने बच्चों के चोगे की तलाश में वे स्वयं ही किसी का चोगा बन जाते हैं। एक जीव दूसरे जीव का भोजन केवल अपनी भूख मिटाने के लिए ही कर रहा है, शायद इसीलिये यह कहा गया हो कि **क्षुधिताः जनाः निष्करुणाः भवन्ति**—अर्थात् क्षुधा से पीड़ित प्राणी करुणा से शून्य हो जाते हैं।

जैन धर्म के अनुसार अवसर्पिणी काल का प्रथम तथा द्वितीय आरक युगल-काल कहा जाता है। युगलियों की निवास भूमि को अकर्म भूमि कहा गया है, वहां असि, मसि तथा कृषि का कोई व्यवहार नहीं होता, किन्तु यह सब न होने पर भी भूख तो वहां भी रहती ही है। उसके लिए प्रकृति उन्हें कल्पवृक्ष प्रदान करती है जिनसे उनके समस्त मनोरथ पूरे होते हैं, किन्तु ज्यों ही काल आगे सरकता है वे सब वृक्ष क्षीण होने लगते हैं, किन्तु भूख तथा आवश्यकता तो वैसे ही बनी रहती है। बल्कि पहले से भी अधिक उग्रता पकड़ती जाती है। वे सरल शान्त लोग भी परस्पर कल्पवृक्षों के लिए झगड़ने लगते हैं। उस कलह का सब से पहला कारण उनका 'खाली पेट' ही था। उस समय से लेकर आज तक विश्व की एक ही मुख्य समस्या है 'आहार'। प्रत्येक प्राणी को जीवन प्रिय है। जीवन का आधार हैं प्राण और प्राण टिकते हैं आहार के आधार पर। वेद ने इसीलिए '**अन्नं वै प्राणाः**'—अर्थात् अन्न ही प्राण है, कह कर जीवन में अन्नाहार की अपरिहार्यता दिखाई है।

भगवान् ऋषभ देव ने युगल-काल के पर्यवसान पर सब से पहले लोगों को कृषि सिखाई। मनुष्य ने कर्मभूमि में पदार्पण करते ही सब से पहले कृषि-विज्ञान सीखा, क्योंकि कल्पवृक्ष रहे नहीं थे, भूख तो थी ही। उसे आवश्यकता थी अन्न की, भोजन और आहार की। "आवश्यकता आविष्कार की जननी है," इस सिद्धान्त के अनुसार उसने धरती से अन्न उपजाने की कला सीखी। इस तरह खेती-बाड़ी के द्वारा उसने अपनी आहार की समस्या का समाधान किया। जैन धर्म के अनुसार जीव की चार संज्ञाओं में आहार पहली संज्ञा है और यह सब जीवों में न्यूनाधिक रूप में रहती ही है। यहां तक कि वनस्पति आदि के जीवों को भी जीवित रहने के लिए हवा, पानी तथा मिट्टी आदि

का आहार चाहिए। प्राय: आप देखते हैं कि वनस्पति अनुकूल जल तथा वायु मिलने पर खिल उठती है और न मिलने पर कुम्हला जाती है। ठीक एक मनुष्य जैसी ही उसकी स्थिति है। जैन धर्म के अनुसार जीव की छह पर्याप्तियां हैं। उनमें से पहली आहार-पर्याप्ति है। इसके पश्चात् ही अन्य पर्याप्तियां पूरी होती हैं। जैन धर्म ने ओज-आहार, रोमाहार तथा कवलाहार इस प्रकार आहार के तीन प्रकार कहे हैं—

मां के गर्भ में किया जाने वाला आहार—ओजाहार है।

शरीर के रोमकूपों के द्वारा गृहीताहार—रोमाहार है।

और मुंह से ग्रहण किया जाने वाला आहार—कवलाहार है।

मनुष्य मरने से पहले चाहे कवलाहार छोड़ भी दे, किन्तु रोमाहार तो उसका चलता ही रहता है। अपने कृत कर्मानुसार वह जन्म लेते ही मां के गर्भ में सर्वप्रथम आहार ही ग्रहण करता है। इस तरह आहार तथा जीवन का एक अखण्ड तथा अभिन्न सम्बन्ध बना रहता है।

जैन धर्म ने कवलाहार के चार भेद किये हैं। जैसे कि १. अशन २. पान ३. खाद्य और ४. स्वाद्य।

अन्न भात आदि जो चबा कर खाया जाए वह सब अशन है। प्रत्येक पेय पदार्थ को पान कहा जाता है। मिष्टान्न आदि खाद्य हैं और लवङ्ग सुपारी तथा इलायची आदि ये सब मुंह की दुर्गन्ध मिटा कर मुख को सुवासित करने के लिए हैं, इसलिए इन्हें स्वाद्य कहा गया है। फलाहार का समावेश अशन तथा पान में हो जाता है। संसार में सभी मनुष्य तथा तिर्यञ्च कवलाहार करते हैं। तिर्यञ्च जैन-धर्म का अपना पारिभाषिक शब्द है, क्योंकि यह पशु शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्राय: लोग गाय-भैंस, घोड़ा आदि को ही पशु कहते हैं, किन्तु जैन धर्म ने त्रस तथा स्थावर इस प्रकार जीव के दो भेद करके समस्त त्रसों को तिर्यञ्च योनि में रखा है। जैनागमों के जीव-विज्ञान में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा

वनस्पति ये सब स्थावर जीव हैं। एकेन्द्रिय होने से अपने में स्पर्शन शक्ति रखते हैं, अर्थात् स्पर्श द्वारा उन्हें सुख-दुख की अनुभूति होती है। अनुभूति चेतन की ज्ञानसंज्ञा है जो उससे सर्वथा अभिन्न है। उस अनुभूति की मात्रा उनकी अपनी ग्राहक इन्द्रिय की सशक्तता पर निर्भर करती है।

इसके बाद जैन धर्म ने त्रस जीव उन्हें कहा है जो इधर-उधर चलते-फिरते हैं, हिलते-जुलते भी हैं, जो अपने आन्तरिक अध्यवसायों से प्रेरणा पा कर अपने सुख तथा किसी भी प्रकार के बाह्य भय से डर कर अपने जीवन की रक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर संक्रमण करते हैं। उनके (१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय तथा (४) पञ्चेन्द्रिय ये चार रूप बताये गये हैं। द्वीन्द्रिय जीवों में स्पर्शन तथा रसन ये दो ही शक्तियां रहती हैं। जैसे कि जोंक और लट आदि। त्रीन्द्रिय जीवों में एक इन्द्रिय की शक्ति और अधिक बढ़ जाती है, वह है घ्राण शक्ति—सूंघने की ताकत। इसके उदाहरण में चींटी को रखा जा सकता है। चतुरिन्द्रिय जीवों में चक्षु इन्द्रिय का आधिक्य हो जाता है, वह इस चराचर जगत को देखने भी लगता है। मक्खी-मच्छर आदि इसके उदाहरण समझे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त पञ्चेन्द्रिय के भेद हैं मनुष्य तिर्यञ्च तथा देवता और नारकी।

जैन शास्त्रों के अनुसार देवता तथा नारकी इस लोक के प्रायः ऊर्ध्व तथा अधोभागों में वास करते हैं। उनके शरीर हमारी तरह हाड़-मांस के नहीं होते, इसलिये वे आहार के इस सन्दर्भ में चर्चनीय नहीं हैं। इस हमारी दुनिया में पञ्चेन्द्रिय दो ही हैं। मनुष्य तथा तिर्यञ्च (गर्भज)। तिर्यञ्चों के विस्तार में न जा कर मुख्य रूप में इसके पांच भेदों का उल्लेख करना ही यहां पर्याप्त रहेगा। जैसे कि १. जलचर २. स्थलचर ३. खेचर ४. उरपुर और ५. भुजपुर।

जलचर—जलीय जीव जैसे मछली आदि।

स्थलचर—गाय भैंस आदि, धरती पर चलने फिरने वाले।

खेचर—आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि।

उरपुर—छाती के सहारे चलने वाले जीव सर्प आदि

भुजपुर—भुजाओं के बल पर चलने वाले प्राणी गिलहरी आदि।

ये सभी जीव अपनी-अपनी जाति तथा जन्मजात स्वभाव के अनुसार आहार करते हैं। इनमें भक्ष्याभक्ष्य का कोई विवेक नहीं होता है। जो जीव जन्म से शाकाहारी हैं वे केवल शाकाहार ही करते हैं, मांसाहार कभी नहीं करते, जैसे गाय, घोड़ा आदि पक्षियों में जैसे कबूतर। कुछ प्राणी जन्म से ही मांसाहारी होते हैं, जैसे सिंह आदि। कहा जाता है कि शेर मरना स्वीकार कर लेता है, किन्तु घास नहीं खाता। यह बात उसके कट्टर आमिषाहार के स्वभाव को लेकर ही कही गई मालूम होती है और अतिरिक्त इसके कुछ प्राणी धरती पर ऐसे भी हैं जो दोनों ही प्रकार के आहारों पर अपने जीवन का निर्वाह कर लेते हैं, जैसे कि कुत्ता। कुत्ता दाल-भात रोटी खा कर भी पेट भर लेता है और उसे मांस मिल जाए तो उसे भी हज़म कर जाता है। अपने इस स्वभाव के कारण वह हलवाई की दुकान के आगे भी बैठा रहता है और कसाई की दुर्गन्ध भरी दुकानों के सामने भी पड़ा रहता है। द्विस्वभावी होने से ही वह शाकाहारी तथा आमिष-भोजी दोनों के ही घरों में रह जाता है। मैंने प्राणी-जगत की जो झांकी प्रस्तुत की है वह केवल पृष्ठ भरने के लिए नहीं की, क्योंकि व्यर्थ का विस्तार करना मेरी लेखनी का स्वभाव नहीं। मेरा उद्देश्य यह दर्शाना है कि तिर्यञ्च-लोक के सभी प्राणी अपने संस्कारों पर चलते हैं। उनमें उनके स्वभाव का ही प्राधान्य रहता है, उनमें विवेक नाम का कोई तत्व नहीं होता है। जिससे वह उचितानुचित हिताहित तथा भक्ष्याभक्ष्य का विचार कर सकें। गीता के शब्दों में ये सब आसुरी योनियां अज्ञान-मूलक कही गई हैं। वहां जीवन का प्रगाढ़ अन्धकार ही अन्धकार है।

पर मनुष्य इस धरती का ऐसा प्राणी नहीं है। प्रत्येक धर्म-शास्त्र में उसे जगती-तल का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा गया है। उसकी श्रेष्ठता इसमें नहीं कि वे दूसरे प्राणियों की अपेक्षा अधिक शक्तियां रखता है। और दूसरों पर शासन कर सकता है, बल्कि उस की महत्ता तथा महानता इस बात में है कि वह अपनी शक्तियों का सदुपयोग करने की

योग्यता रखता है। अपने आहार, विचार, व्यवहार तथा आचार के सम्बन्ध में विवेक-पूर्वक चिन्तन करने की उसमें क्षमता है कि उसे क्या खाना चाहिये और क्या नहीं खाना चाहिये। मैंने अपने लेख में भेद-प्रभेद के द्वारा जो भी लिखा है प्राणी समुदाय के सम्बन्ध में, उनमें से किसी के पास भी यह सोचने की शक्ति नहीं है कि क्या खाना है और क्या नहीं खाना है? असामाजिक होने कारण इन्हें यह सब सोचने की आवश्यकता भी नहीं है, मनुष्य इस धरती का सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं, उसके पीछे उसका परिवार भी है और उसके आगे है समाज और इतना बृहत् राष्ट्र और इससे आगे चले तो वह एक सदस्य है इतने बड़े विशाल विश्व का। वह जो कुछ भी खाता है उस से उसके विचारों का निर्माण होता है, विचारों के धागों से उसके व्यवहार अर्थात् कर्म का ताना-बाना तैयार होता है। वास्तव में मनुष्य के आहार-विचार तथा व्यवहार का समन्वित रूप ही उसका आचार है। एक घर से लेकर सारे संसार में उसके आचार का ही बिम्ब पड़ता है और उसी के आधार पर वह सर्वत्र अच्छा-बुरा समझा जाता है।

यदि यह कह दिया जाये कि मनुष्य वास्तव में मनुष्य नहीं है आचार ही उसके मनुष्यत्व का आधार है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि जिसका आचार नीच होता है वह दुनिया की नजरों में नीच ही माना जाता है और जिसका आचार ऊंचा होता है वह इस धरा पर पावन एवं ऊंचा कहा जाता है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने आपमें कुछ भी नहीं, आचार ही उसके जीवन का सर्वस्व है। उसके आचार में प्रथम स्थान है उसके आहार का, मनुष्य के रूप में मनुष्य का आहार क्या होना चाहिये? इस पर अभी विचार करना शेष है :—

मैं मनुष्य के आहार - विषयक चिन्तन का श्रीगणेश सर्व प्रथम प्रकृति के प्राङ्गण से ही करता हूं। यदि प्राकृतिक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य का आहार मांस नहीं है। वह जन्म से शाकाहारी प्राणी है। मांसाहार उस के संस्कारों पर देश-काल परिस्थिति, संगति तथा

वातावरण के कुप्रभावों का ही परिणाम है। मनुष्य की शरीर-रचना को देखने से मालूम होता है कि प्रकृति ने उसे शाकाहारी बनाया है। क्योंकि मांसाहारी प्राणियों को शारीरिक रचना अलग प्रकार की रहती है। जैसे कि दुनिया में जितने भी आमिषाहारी प्राणी हैं वे सब अन्धेरे में भी देख सकते हैं, उनके दांत नुकीले होते हैं ताकि वे मांस को अच्छी तरह चबा सकें। वे कुत्ते की तरह लप-लप करके पानी पीते हैं। जबान से उनको पसीना आता है। मांस-भोजी प्राणियों के नाखुन बड़े ही नुकीले तथा तेज रहते हैं। किन्तु मनुष्य का शरीर ऐसा नहीं है, इसलिए स्पष्ट है कि मनुष्य का मांसाहारी होना प्रकृति को इष्ट नहीं है।

एक समय था जबकि मनुष्य जंगलों में नंगधड़ंग घूमता था। उस समय धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। अन्धकारमय बीहड़ वनों में वह एक पशु की तरह अवारा फिरता था। भूख की आग तो उसके पेट में जलती थी उसे बुझाने के लिए कभी कहीं वृक्षों के फल मिल गये तो खा लेता। कौन से फल भक्ष्य हैं तथा कौन से अभक्ष्य ? यह भी उसे कोई ज्ञात नहीं था। कभी-कभी किंपाक जैसे अभक्ष्य फलों को खा कर वह अकाल में ही काल-कवलित हो जाता था। जानवरों को मार कर उनका कच्चा ही मांस वह खा जाता था। वह खेती करना जानता नहीं था। जब कपास ही नहीं तो वस्त्र कहां से आते। वृक्षों पर लकड़ी तो थी किन्तु उसके पास ऐसे हथियार नहीं थे जिससे वह उस लकड़ी से अपने लिए उपयोगी चीजें बना सके। तब मिट्टी थी, रेत भी होगी। पाषाण-खण्ड भी थे, किन्तु उसके पास कला कोई नहीं थी। आग जलाना तक उसे आता नहीं था। अभी पिछले दिनों समाचार-पत्र में पढ़ा था कि दक्षिणी ध्रुव पर जो भारतीय दल गया था, उसे भी वहां ऐसे लोग देखने को मिले जो बिल्कुल नंगे थे। उन्हें भी आग जलाने का कोई ज्ञान नहीं था। ऐसे जंगली और जाहिल लोग यदि मांस खा कर अपने जीवन का निर्वाह करते हों तो दोष होने पर भी उनका इतना दोष शायद कोई भी न माने, क्योंकि जिनको अपने जीवन का ही पता नहीं उन्हें

पाप-पुण्य तथा धर्माधर्म के स्वरूप का तो कहां से ज्ञान हो सकता है? किन्तु कितने खेद और दुख की बात है कि आज का मनुष्य कला तथा विज्ञान के शिखरों पर पहुंच कर भी आहार के विषय में जंगली ही बना हुआ है। हां, एक अन्तर अवश्य है वह यह है कि पाषाण-युग का वह वनवासी कच्चा ही मांस खा जाता था और आज का सभ्य समाज का प्राणी उसे खाता है घी तथा मसालों में भून कर करके स्वादिष्ट बना कर। मैं पहले भी निवेदन कर चुका हूं कि आहार केवल शरीर की एक आवश्यकता है, किन्तु मनुष्य ने इसे अपने मन तथा इन्द्रियों का विषय बना लिया है। इसलिए वह अपने मन के क्षणिक परितोष तथा इन्द्रियों के नश्वर सुख के लिए अपने भोजन को घी, नमक, मिर्च तथा अन्यान्य मसालों से अधिक से अधिक स्वादु बनाने का प्रयत्न करता है। पुराने युग का जंगली आदमी तो केवल विवशता, अज्ञान तथा अपनी असभ्यता के कारण ही मांस खाता था, किन्तु आज के मनुष्य के मामने खाद्य की कोई मजबूरी भी नहीं है, कला तथा विज्ञान के युग में आज का मनुष्य उन्मुक्त पंछी बना हुआ है। उसके उठने-बैठने तथा खाने-पीने का सब ढंग बाहर से सुन्दर मोहक तथा शालीन है। उसने अपनी भाषा को भी खूब संवारा है, बोल-चाल में भी वह कोई जंगलो मालूम नहीं होता। शिक्षा ने उसके हर व्यवहार को खूब परिष्कृत कर दिया है, किन्तु यदि इतना होने पर भी अन्तरङ्ग में जंगली मनुष्य जैसी ही प्रवृत्ति एक सर्पिणी की तरह कुण्डलिनी मार कर बैठी रहे तो क्या इसे सिर्फ सभ्यता का विकास कहा जायेगा कि मानवता का यह विकास माना जायेगा। जंगल का मनुष्य पाप-पुण्य तथा धर्म तथा अधर्म को न जानता हुआ ही यह गुनाह करता था, किन्तु आज का मानव धर्म और उसके ऐहिक एवं लोकोत्तर फलों को जान कर भी एक अनजान तथा गंवार आदमी की तरह आचरण कर रहा है। यह और भी ज्यादा बड़ा गुनाह है।

इसके साथ सब से बड़ा आश्चर्य यह है कि एक तरफ तो वह रातों जाग-जाग कर भगवान की भक्ति करता है, सत्संग में बैठ कर धर्म-

गुरुओं से ज्ञान, कर्म, संन्यास तथा भक्ति-योग की बड़ी-बड़ी ज्ञान-भरी बातें सुनता है, धर्म-स्थानों में जब पूजा-पाठ होता है तब वह उसमें भी सब से आगे-आगे रहता है। अपने धर्म-चिह्नों को भी वह अपने सिर पर चढ़ा कर तथा गले से लगा कर रखता है। अपने धर्म-शास्त्रों की श्रेष्ठता का भी उसे मोह कम नहीं है। उनके प्रति भी वह खूब श्रद्धावान् बन कर रहता है। यदि कोई उसके धर्म, शास्त्र, गुरु तथा अवतार पर कोई कभी प्रहार कर दे तो शायद वह झट तलवार निकाल लेगा, उसका संहार करने के लिए। कहीं यदि कीर्तन तथा रात्रि-जागरण हो तो उसमें भी वह बढ़-चढ़ कर भाग लेता है। खूब गरदन हिला-हिला कर भगवान के भजन गाए जाते हैं वहां। गाने-बजाने और नाचने में लम्बी-लम्बी रातें भी ऐसा मालूम होता है उसे कि वे चुटकियों में ही गुज़र गई हैं। जिस जगह यह धर्म-ध्यान तथा प्रभु-भक्ति के महत्त्वपूर्ण सांझे कार्य होते हैं वह स्थान और वह घर वास्तव में उसके लिए एक तीर्थ ही बन जाता है, वहां निःसन्देह कान्ति, विजय श्री तथा मंगल का वास होता है। वहां से सब अनिष्ट इस तरह दूर रहते हैं जैसे नेवले के स्थान से सर्प दूर ही रहता है।

ऐसे आयोजनों में रस एवं अभिरुचि रखने वाले लोग प्रायः वैसे तो तन तथा मन के स्वच्छ ही होते हैं। उन्हें केवल धर्मानुष्ठानों से अनुराग नहीं होता, बल्कि उन्हें अपने धर्माचरणों का ध्यान भी रहता है, किन्तु यदि कोई यह सब कुछ करता हुआ भी अपने आहार, विचार तथा व्यवहार की शुद्धि की ओर ध्यान न दे और उसके आचरण में वह ही जंगलीपन बना रहे तथा उसके प्रभावाधीन हो कर वह अपने क्षणिक सुख के लिए निरीह एवं मूक पशुओं के जीवनों से खिलवाड़ करता रहे, अपने गलत आहार तथा विचार के कारण वह अपने जीवन में पापों के पहाड़ बनाता रहे तो ऐसी स्थिति में उसके इन बाहरी पूजा-पाठ, ज्ञान, ध्यान तथा सत्संग का क्या मूल्य रह जाता है? मेरी दृष्टि में तो कुछ कीमत नहीं रहती उन समस्त क्रिया-काण्डों की जो लोग लोक-परलोक, नरक-स्वर्ग, कर्म तथा उसके फल, जीव तथा ब्रह्म आदि पर विश्वास रखते हैं वे

सब लोग आस्तिक कहे जाते हैं। इन्हीं सब विश्वासों के आधार पर वे धर्म-अधर्म, पाप तथा पुण्य आदि का विवेक रख कर ही जीवन के समस्त व्यवहारों को चलाते हैं। केवल ईश्वर को मानने तथा उसका नाम रटने तथा उसकी इबादत या भक्ति करने वाले को ही आस्तिक नहीं कहते, वास्तव में सत्य को जीवन में स्वीकार करना और उस विराट् एवं व्यापक सत्य को मन, वाणी तथा शरीर अर्थात् कर्म में उतार कर तद्रूप अपने आचरण को बनाना ही आस्तिकता है। मैं पहले कह चुका हूं कि शुद्धाचार का प्रथम सोपान शुद्ध एवं सात्विक आहार ही है। जो व्यक्ति भक्ष्याभक्ष्य का विचार करके आहार ग्रहण नहीं करता वह ईश्वरवादी हो कर भी आस्तिक नहीं कहा जा सकता, वस्तुत: वह नास्तिक ही है।

आपने चार्वाक मत का नाम सुना होगा। वह आत्मा तथा परमात्मा को नहीं मानता। उसकी दृष्टि में परलोक, नरक-स्वर्ग, कर्म तथा उसके फल आदि का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब आत्मा ही नहीं तो फिर पुनर्जन्म किस का? कर्म तथा उसका फल भी क्या होगा? और किसको मिलेगा? यह तो पांच भूतों का सारा खेल है। जो नज़र आ रहा है, बस इतना ही लोक है। इसलिए :—

पाप भूत और नरक से न डरो। खाओ पियो और मौज करो॥

परलोक के कल्पित सुख के लिये इस दुनिया का सुख छोड़ना निरी मूर्खता है।

भगवान महावीर ने चार्वाकों के भौतिकवादी चिन्तन का दिग्दर्शन कराते हुए कहा—नास्तिक लोग ऐसा कहते हैं कि

हत्थागया इमे कामा कालिया या वि अनागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि व नत्थि व पुणो।

जीवन के ये काम-भोग तो हस्तगत हैं और अनागत तो समयाधीन है। कौन जानता है कि परलोक है भी या कि नहीं। प्रमाण तो केवल प्रत्यक्ष ही है। अनुमान तथा आगम आदि प्रमाण तो झूठे भी हो सकते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष को ही सत्य मान कर चलना ठीक

है। यह शरीर तथा इन्द्रियों के सुखद भोग बार-बार नहीं मिलेंगे। इसी चिन्तन पर उन्होंने अपना सिद्धान्त स्थिर किया कि—

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

जब तक जिये सुखपूर्वक जिये। यदि अपने पास कुछ न हो तो ऋण लेकर खूब घी पिये, इन्द्रियों को परिपुष्ट करने के लिए। यह एक दिन भस्म हो जाने वाला शरीर फिर हाथ नहीं लगेगा।

चार्वाक मत वालों का यह श्लोक काफी प्रसिद्ध है। उनका चिन्तन केवल शरीर, इन्द्रियों तथा उनके ऐहिक सुख तक ही सीमित है। उन्होंने इस भौतिक सुखवाद के आधार पर कहीं चार और कहीं पांच मकारों का विधान किया है जैसे कि मद्य, मांस, मैथुन तथा मुद्रा कुछ लोग इसमें मत्स्य का समावेश करके पांच मकारों की बात करते हैं। कुछ भी हो इस मत में मांस खाने की खुली छुट्टी है। इस चार्वाक-पन्थ को वाममार्ग भी कहते हैं।

मालूम होता है कि आज का भौतिक जगत् इस वाम-मार्ग पर ही चल रहा है। पहले तो यह मत के रूप में एक सम्प्रदाय था और कुछ ही लोग इसके अनुयायी थे, किन्तु आस्तिकवाद के तर्कों के तूफान के आगे यह खड़ा न रह सका। प्रत्यक्षवाद पर उगने और भोगों की हवाओं में झूमने वाला यह चार्वाकी वृक्ष धराशायी हो गया। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि आज फिर इस वाममार्ग के बीज धरती में जा कर चारों ओर फैल गये हों और उन्होंने अंकुरित हो कर सम्पूर्ण भूमण्डल को आवृत कर लिया है। उस समय का यह मत आज जन-मत बन गया प्रतीत होता है।

आपकी आंखें भी हर रोज सब कुछ देखती रहती हैं। मैं क्या जिसके पास भी आंखें हैं वह ही देखता है और यदि इन चरम-चक्षुओं के साथ हृदय के ज्ञान-चक्षुओं की ज्योति का संगम करके कोई देखेगा तो उसे मालूम होगा कि प्रायः सारी दुनिया ही वृक्ष के मूल पर कुल्हाड़ी मार कर उसकी शाखाओं से झूल रही है। ज़रा इस रहस्य

को खोल दिया जाये तो अधिक अच्छा रहेगा। आत्मा, जीवन और जगत का मूल है। मन, शरीर तथा इन्द्रियां तो इस जीवन-वृक्ष की शाखाएं तथा उपशाखाएं ही हैं। नश्वर सुखों की आसक्ति ही मनुष्य को उलटे मार्ग पर ले जाती है। जब मन तथा इन्द्रियां आत्माभिमुख न होकर विषयों की ओर मुड़ जाती हैं तो जीवन में मांस, मदिरा मैथुन तथा मुद्रा की प्रवृत्तियां बल पकड़ने लगती हैं। धीरे-धीरे मनुष्य पूरा वाममार्गी बन जाता है।

कलियुग का प्रभाव कहिये या कि भौतिक विज्ञान का मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर प्रभाव, या कह लीजिए इस मनु-पुत्र का दुर्भाग्य, कुछ भी समझें, आज का संसार अपने पापाचार के कारण प्राकृतिक प्रकोपों का शिकार हो रहा है। मांस खाने से मनुष्य वीर या बलवान् तो नहीं बनता, किन्तु हां वह क्रूर अवश्य बन जाता है। उसके दिल में से करुणा, दया, सहनशीलता, मैत्री, स्नेह, वात्सल्य, आत्मीयता, सत्यता, सरलता, विश्वास आदि सभी सात्त्विक गुणों का लोप होने लगता है। जीवन में अन्याय, शोषण, अदूरदर्शिता, छल-कपट तथा असत्य आदि दोषों का प्रभुत्व हो जाता है। जब इस धरती पर क्रूर लोगों का बाहुल्य हो जाता है तो फिर किसी न किसी रूप में इस धरा पर प्रकृति के विस्फोट अवश्य होते हैं। कहीं युद्ध छिड़ जाता है तो कहीं महामारी फैल जाती है। कहीं बाढ़ आ जाती है तो कहीं भूकम्प से नगर के नगर भूगर्भ में समा जाते हैं। कहीं अति-वृष्टि तो कहीं अनावृष्टि के कुप्रभावों के रूप में दुनिया के धरातल पर दुर्भिक्ष का निशाचर विचरने लगता है।

वास्तव में देखा जाये तो यह सब न तो प्रकृति का प्रकोप है और न ही किसी ईश्वर या अल्लाह का अभिशाप। यह तो मनुष्य के अपने पाप कर्मों का फल है जो समय आने पर उसे किसी न किसी रूप में भोगना पड़ता है। हिंसा सबसे बड़ा पाप है, मांस का तथा हिंसा का चोली दामन का सम्बन्ध है। जो मांसाहारी है वह अहिंसक तो नहीं हो सकता, क्योंकि मांस की कहीं खेती तो नहीं होती, वह तो जीव-हिंसा से ही उपलब्ध होता है। जैसे हिंसा कर के कोई भी व्यक्ति

उसका फल स्वयं नहीं भोगना चाहता, वल्कि उस से बचने की ही कोशिश करता है, किन्तु वह बच नहीं पाता। क्योंकि—

"कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं"

कर्म कर्त्ता के पीछे-पीछे ही जाता है और जीव का उसके कर्मों के अनुसार ही भुगतान होता है। मांस-भक्षण अन्त में जीव के लिए दुःख-रूप ही सिद्ध होता है। मांस दूसरे प्राणियों को मार कर तथा उन्हें दुख देकर ही प्राप्त किया जाता है, इसलिए हिंसा करते समय जीव जिन कर्माणुओं का बन्ध करता है उनमें भो दुख देने का विधान साथ ही तैयार हो जाता है। समय का परिपाक होने पर वह कर्म उदय में आ कर उसके लिए दुख का कोई न कोई वातावरण वना ही देता है। इसलिए जो आस्तिक हैं उन्हें मांसाहार को धर्म के विरुद्ध समझ कर उसका सेवन नहीं करना चाहिये और जो नास्तिक हैं आखिर सुख तो वे भी चाहते हैं और कर्म का सिद्धान्त नास्तिकों को क्षमा नहीं कर सकता। कर्म का फल तो उन्हें भी मिलेगा ही। कर्म को न मानने से भी कर्म तो उनको अवश्य अपना कर्त्ता मानेगा ही, कर्म का विधान निश्चित है और वह अटल है। उसकी चक्की में सवको पिसना ही पड़ता है। जिस नास्तिक को कोई नहीं समझा सकता, कर्म उसको भी अपना स्वरूप समझा कर उसकी वुद्धि को ठीक कर देते हैं और वह नास्तिक भी आस्तिक वन जाता है। इसलिये नास्तिकों को अपने ही जीवन पर दया कर के अपने जीवन के सौख्य के लिए भी मांस खाना छोड़ देना चाहिये। यदि दुनिया के अधिकतर लोग शाकाहारी वन जायें तो साठ प्रतिशत दुख दुनिया के स्वतः ही दूर हो सकते हैं।

सारी दुनिया को वात तो छोड़िए, कम से कम भारत जैसे धर्म-प्रधान देश के वासियों को तो मांसाहार को वनवास दे ही देना चाहिये। भारत का कोई भी धर्म-शास्त्र मनुष्य को मांस खाने की आज्ञा नहीं देता। यदि भारतीय संस्कृति को चन्द्रमा कहा जाए तो अहिंसा उसकी चांदनी है और यदि इसे गुलाव कहा जाए तो अहिंसा इसका सौरभ है। जैसे सूर्य के सामने अन्धकार नहीं टिकता, ठीक इसी तरह जहां अहिंसा का

प्रकाश हो वहां जीवन में गहन अन्धकार—अज्ञानांधकार—मांसाहार कैसे सम्भव हो सकता है ? कदापि नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि मांस तो लोग पहले भी खाते थे, क्षत्रिय तथा राजा लोग सभी मांस खाते थे। यदि मांस न खाया जाये तो लोग बहादुर जंगबाज तथा वीर कैसे बनेंगे ? और समय आने पर अपने दुश्मनों से अपने देश और राष्ट्र की रक्षा कैसे हो सकेगी ? मांस न खानेवाले अहिंसक लोग तो कायर, बुजदिल और निर्वीर्य बन जाते हैं। संग्राम-भूमि में तो मार-काट के ही दृश्य रहते हैं, अहिंसक लोग तो ऐसे दृश्यों को देख कर ही कांपने लगते हैं। वे भला मैदाने जंग में तलवार क्या उठायेंगे ?

मांसाहारियों की इन बातों में विशेष वज़न नहीं है, देश की रक्षा का मांसाहार के साथ दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। याद रहे कि रण-भूमि में मांस से बढ़ा हुआ शरीर कुछ भी काम नहीं देता। वहां तो आवश्यकता है देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, निर्भयता तथा अपनी मातृ-भूमि के प्रति असीम श्रद्धा की। जिन्हें अपने जीवन का मोह नहीं होता वे ही लोग कर्त्तव्य-परायण बनकर समर-स्थलों में शत्रुओं से लोहा ले सकते हैं और वे ही युद्ध की धधकती ज्वालाओं में अपने प्यारे प्राणों को होम कर यशस्वी और धन्य बनते हैं। देश - भक्ति में वह शक्ति है कि जब वह रग-रग में भर जाती है तो मनुष्य के मन में शौर्य का एक प्रवाह उमड़ पड़ता है और समय आने पर वह हंस-हंस कर अपने प्राणों पर खेल जाता है। जिसको अपने जीवन का मोह तथा मृत्यु का भय सताने लगे वह चाहे शाकाहारी हो चाहे मांसाहारी वह समर-भूमि में तो क्या जीवन के किसी भी मोर्चे पर खड़ा नहीं रह सकता। एक बात मैं इस सम्बन्ध में पूछना चाहूंगा कि क्या सभी लोग इसलिए मांस खा रहे हैं कि बहादुर तथा वीर बनकर देश की रक्षा करेंगे, मेरा ख्याल है यह तथ्य के बिल्कुल विरुद्ध है।

प्रायः बहुत से व्यक्ति जाति तथा वंश-परम्परा से मांस खाते रहते हैं। हमेशा उस वातावरण में रहने से उनके दिल में उससे ग्लानि एवं घृणा भी उत्पन्न नहीं होती। कुछ लोग समुद्री तटों पर या उसके पास के क्षेत्रों

में रहते हैं तो उन्हें पैसा खर्च किये बिना ही मछली जैसा खाद्य उपलब्ध हो जाता है, वे उसे खा कर पेट पाल लेते हैं। उनके बच्चे देखा-देखी वैसा ही करने लगते हैं, उन्हें उसके अच्छे-बुरे का कोई विचार नहीं होता। दुनिया के कुछ लोगों के धर्म में उसे खाने की सख्त मनाही नहीं है, इसलिए वे इसे निर्भय होकर खाते रहते हैं। उनके ख्याल में यह कोई पाप नहीं है, किन्तु अधिकांश लोग तो भोग-विलास तथा जिह्वा-लोलुपता के वशवर्ती हो कर ही मांस का सेवन करते हैं। आज की भौतिकवादी सभ्यता तथा शिक्षा में सबसे बड़ी हानि मानव-समाज की हो हुई है क्योंकि उसने, मानव के दिल से आत्मा, परमात्मा तथा कर्म फल का भय निकाल दिया है और वह दिनरात बेधड़क होकर सब प्रकार के अनाचार करता रहता है और फिर ऐसे लोगों का सब जगह बाहुल्य है। इसलिए संगी-साथी भी उन को ऐसे ही मिल जाते हैं जो उस की गलत प्रवृत्तियों को हवा देते रहते हैं, क्योंकि एक डिश Dish खाने को और दो घूंट पीने के लिये उसके साथी भी उनको मिल जाते हैं। क्या बुरा है—

लगे और का दाम, बने अपना काम।

जो लोग देश-रक्षा की बात करते हैं, वस्तुतः उसके साथ मांसाहार का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस घृणित असभ्य तथा अधार्मिक प्रवृत्ति के कारण तो अन्य ही हैं। कुछ कारणों का मैंने इस छोटे से लेख में केवल संक्षेप में वर्णन किया है।

अब रही क्षत्रिय-वंश की बात। वे भी सभी लोग मांस नहीं खाते थे। वाममार्ग का प्रभाव पड़ा वे मांस खाने लगे। राजा लोगों को प्रायः जय-पराजय की अधिक चिन्ता रहती थी। पुरोहित लोग उनको समझाते रहते थे कि शत्रुओं पर विजय पाने के लिए और पराजय से बचने के लिए अमुक देवता तथा अमुक देवी को प्रसन्न करना चाहिए। इस तरह देवताओं के नाम पर और उनके प्रकोप से डर कर भी उन राजाओं के जीवन में पशु-बलि का प्रवेश हो गया। जिन्होंने प्रकृति के प्रकोपों की परवाह नहीं की और उन वाममार्गी याज्ञिक

पुरोहितों के झांसे में नहीं फंसे वे राजा लोग बचे रहे। न उन्हों ने मांस खाया और न ही उनके जीवन में पशु-हिंसा अपना स्थान बनाने में सफल हो सकी। भला सोचिये जिस क्षत्रिय-कुल में तीर्थंकर जन्म धारण करते हैं क्या वे मांसाहरी होंगे? बिल्कुल नहीं। कोई भी यहां शंका कर सकता है कि श्री नेमिनाथ जी के विवाहोत्सव पर जिन पशुओं को बाड़े में बन्द कर के रखा गया था, वे किस लिये थे? नेमिनाथ जी के पूछने पर उनके सारथो ने जो उत्तर दिया कि वे सब बरातियों के आहारार्थ ही बन्द किये गये हैं, इससे श्री नेमिनाथ जी के हृदय को आघात लगा और वे अपना विवाह-कंगन तोड़ कर गिरनार की तरफ चले गये। यदि क्षत्रिय तथा राजा लोग मांस न खाते होते तो फिर ऐसा क्यों होता? इसका उत्तर केवल इतना ही है कि कोई एक अपवाद सबके लिए उदाहरण नहीं बन सकता। यदि कोई जैन भाई संग-दोष से मांस खाने लगे तो क्या वह सारी जैन जाति के लिए प्रमाण ही बन जाएगा?

दूसरी बात यदि श्री नेमि जी ने अपने घर में कभी ऐसा देखा होता तो उन्हें उन पशुओं को देखकर पूछने को उत्सुकता हो न होती और न हो उनके वध की बात सुन कर आश्चर्य तथा दुःख ही होता। उनका इस प्रकार से अकस्मात् विवाह-मण्डप से लौट जाना यह सिद्ध करता है कि उग्रसैन का यह आचरण उनके कुलाचार के नितान्त विरुद्ध था। तीर्थंकर की करुणा कोई प्रासंगिक नहीं होती, वह तो स्वाभाविक ही होती है। श्री नेमि प्रभु अपने इस त्याग से बताना चाहते थे कि भविष्य में कोई भी राजा विवाह के मंगल उत्सव पर जीव-हिंसा करने का दुस्साहस न करे। भगवान् ऐसा समझते थे कि महलों से यह पाप निकल जाए तो फिर प्रजा की झोंपड़ियों से भी यह पातक जा सकता है। "यथा राजा तथा प्रजा" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजा तभी ठीक होगी जब कि पहले राजा ठीक हो जाये।

इतिहास साक्षी है कि उस समय यदुवंशियों में मांस-मदिरा तथा दुराचार की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। उनका आचार-विचार बिगड़ चुका था। मनुष्य की वैषयिक दुर्बलता वैसे भी मनुष्य को पतन की

ओर ले जाती है। पानी जैसे ढलान की तरफ जाता है वैसे ही मनुष्य का मन, इन्द्रियां तथा बुद्धि कुमार्ग की तरफ जल्दी जाने लगते हैं और यदि समय का कुप्रभाव भी सहयोगी बन जाए तो फिर वंश के वंश ही दुराचार के गर्त्त में पहुंच जाते हैं। यदुवंश की कुछ ऐसी ही स्थिति बन चुकी थी। भगवान नेमि नाथ को बारात में निकट तथा दूर के सभी राजा लोग उपस्थित थे, उनका साहसी कदम केवल मुट्ठी भर उस बाड़े के पशुओं को मुक्ति के लिए ही नहीं था, वे तो सारे यदुवंश को तथा सारे भारत वर्ष के राजा-महाराजाओं को यह पाठ पढ़ाना चाहते थे कि वे अपने इस पाशविक आचरण को छोड़ देवें। श्री नेमिनाथ का यह करुणा भरा त्याग घर-घर में चर्चा का विषय बन गया था। एक तरह से यह नेमिनाथ जी का जीव-हिंसा के विरोध में मौन अभियान बना।

यदुवंशियों को श्री नेमिनाथ की यह पहली चुनौती थी और दूसरी चुनौती उन्होंने अरिहन्त बनने के बाद दी थी। श्री कृष्ण जी ने यदुवंशियों की ऐसी कुप्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया था, किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि खुलेआम होने वाला पाप अण्डर-ग्राउण्ड (under ground) चला गया। जब तक मन न बदले ऊपर का नियन्त्रण कुछ नहीं कर सकता। आखिर विधि के अंक बलवान् होते हैं, उन्हें कोई भी मिटा नहीं सकता। जो होना होता है वह अवश्य हो कर ही रहता है। एक दिन सोने की द्वारिका आग की लपटों में जल कर राख हो गई।

यदि कोई मांस खाने, शराब पीने तथा दुराचार करने वालों का जीवन-चरित अपनी आंखों के सामने रखे तो फिर कोई भी व्यक्ति मांसाहार नहीं कर सकता, किन्तु मनुष्य वासना में अंधा होकर उस पशु की तरह बन जाता है जो बनिये की दुकान पर पड़े अनाज के थैले में मुंह मारता है, किन्तु पास ही खड़े डण्ड को नहीं देखता। जब पीठ पर पीछे से डण्डा पड़ता है तो फिर उससे बच कर भाग खड़ा होता है, किन्तु यदि वह पहले डण्डे को देख लेवे तो शायद बोरे में मुंह मारने का साहस ही न करे।

मैं अपने इस लेख में यह बताने का प्रयत्न कर रहा हूं कि मांस मनुष्य का प्राकृत आहार नहीं है। सांस्कृतिक तथा धार्मिक आस्तिकवादी दृष्टि से इसका सेवन वर्जित है। कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाय तो मांसाहार हिंसा है, पाप है, इसका परिणाम जीवन में दुःख, क्लेश, रोग तथा दुर्गति के रूप में प्रकट होता है। धर्मशील क्षत्रिय लोग भी इसका सेवन नहीं करते थे। जिन्होंने किया आखिर एक दिन उन को विनाश का मुंह भी देखना पड़ा। वस्तुतः मांस मनुष्य का आहार नहीं है। इसे भक्षण करना यह प्रकृति तथा अपनी आस्तिक संस्कृति की खुली अवहेलना है। मेरे चिन्तन ने कितने ही दृष्टिकोणों से इस आमिषाहार के सम्बन्ध में विचार किया है, अब कुछ अन्य दृष्टि-बिन्दुओं से इस पर विचार किया जायेगा। मेरा ख्याल है कि यदि हम इसके सम्बन्ध में—(१) शारीरिक, (२) बौद्धिक, (३) मानसिक, (४ आत्मिक, (५) आध्यात्मिक— इन विभिन्न अपेक्षाओं से थोड़ा और विचार कर लें तो मानव की दृष्टि में इस मांसाहार की अनावश्यकता, अनुपयोगिता, निस्सारता, सदोषता, अपवित्रता तथा उसकी हेयता पूर्णतया स्पष्ट हो सकती है।

पहली अपेक्षा है—शारीरिक। इस अपेक्षा में मुख्य तीन ही दृष्टियां आ सकती हैं, जैसे कि—१. आरोग्य, २. कार्य-क्षमता, तथा ३. स्फूर्ति।

दुनिया के बड़े-बड़े डाक्टरों तथा आहार-विशेषज्ञों ने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के शरीर को स्वस्थ एवं निरोग रखने के लिए जितने तत्व शाकाहार के द्वारा उपलब्ध होते हैं, वे मांस में नहीं हैं। बल्कि मांस उलटा मानव के शरीर को हानि पहुंचा कर उसके आरोग्य को बिगाड़ता है। उसमें आलस्य पैदा करता है तथा उसकी कार्य-क्षमता तथा स्फूर्ति को क्षति-ग्रस्त करता है।

दूर जाने की आवश्यकता नहीं, आप प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि बैल तथा घोड़ा जितना परिश्रम कर सकते हैं, शेर तथा चीता उतना परिश्रम नहीं कर सकते। क्या आपके खेत में ये हल चला देंगे या कि

आपकी बग्घी या टांगा हांक लेंगे ? थोड़ी दूर तक भाग कर तथा उछल कूद मचा कर ही वे रह जाते हैं। जरा से परिश्रम में ही उनका सांस फूलने लगता है। आप क्या नहीं जानते कि दुनिया भर में शक्ति का अनुमान Horse Power अश्व-शक्ति से लगाया जाता है न कि Lion Power सिंह-शक्ति से। महाराणा प्रताप के प्यारे घोड़े चेतक ने जो कमाल करके दिखाया था उसके सामने यह जंगल का बादशाह शेर क्या खड़ा रह सकेगा ? यह तो केवल चिड़िया घर की ही शोभा है। जो लोग सरकस में सिंह जैसे मांसाहारी हिंस्र प्राणियों से खेल करवाते हैं वह तो केवल मनुष्य के अपने बुद्धि-कौशल का चमत्कार है, किन्तु फिर भी मनुष्य उन हिंसक प्राणियों पर भरोसा नहीं करता। उनके पास खड़ा हुआ रिंग मास्टर भी अन्दर से डरता रहता है। हालांकि वह उनसे अपनी रक्षा के कितने ही प्रबन्ध करके रखता है, किन्तु फिर भी उसके मन में भय बना ही रहता है कि कहीं वह कभी गुस्से में आ कर और बेकाबू होकर उसी की जीवन-लीला समाप्त न कर दे, क्योंकि जो मांसाहारी है वह किस मांस को देख कर कब लालायित हो जाए और कब झपट पड़े उसका कुछ भी विश्वास नहीं होता।

मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कार्य-क्षमता तथा परिश्रम की दृष्टि से शाकाहारी प्राणी जितने उपयोगी हैं उतने मांसाहारी नहीं। शाकाहारियों का शरीर हलका-फुलका स्फूर्त तथा कृतित्व का धनी रहता है और मांस खाने वालों का शरीर भारी भरकम तथा विरूप होकर आलस्य का घर बन जाता है और फिर रोगी पशुओं के शरीर के रोग उसके घर में आ जाते हैं। अप्राकृतिक आहार करने से मनुष्य उसे ठीक तरह पचा भी नहीं पाता। जिससे वह उनकी आंतों तथा मेदे का भार बन जाता है और धीरे-धीरे वह उसके स्वास्थ्य को भी नष्ट कर देता है।

आहार का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं होता, बल्कि मनुष्य की बुद्धि पर भी उसके आहार का प्रभाव पड़ता है। प्रायः बुद्धि और मन एक साथ ही काम करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये दोनों भिन्न

तत्त्व हैं, परन्तु दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं। सूक्ष्म अन्तर होने पर भी स्थूल जगत् में इनका विशेष अन्तर ज्ञात नहीं हो पाता। जैसे शक्कर-मिश्रित दूध पीने के बाद पूछा जाए कि पहले स्वाद किस का आया? शक्कर का या कि दूध का? रसनेन्द्रिय को दोनों स्वादों की अनुभूति एक साथ ही प्रतीत होती है। किन्तु सिद्धान्त यह है कि एक समय में दो कार्य नहीं हो सकते। एक ही समय में ज़बान शक्कर तथा दुग्ध के दो रसों का आस्वादन करने में किसी भी तरह समर्थ नहीं है। ठीक इसी तरह मन तथा बुद्धि ये दोनों अपने-अपने समय में ही काम करते हैं, किन्तु बाहरी स्थूल दृष्टि में उसकी अनुभूति सम्भव नहीं। इन्द्रियां सदैव मन को साथ ले कर ही कार्य में प्रवृत्ति करती हैं। मन के बिना इन्द्रियों की गति नहीं हो सकती, मन तो अति चञ्चल है, इन्द्रियों के साथ मिलकर यह और भी उच्छृङ्खल तथा उद्दण्ड बन जाता है। इन्द्रियां भी स्वभाव से चपल ही हैं। उनको भी ऐसा ही चञ्चल साथी चाहिये। इन दोनों पर यदि बुद्धि का नियन्त्रण न हो तो ये मनुष्य को रसातल में पहुंचा देते हैं। बुद्धि तभी अंकुश रख सकती है यदि वह सात्त्विक हो। सात्त्विक बुद्धि के लिए जहां सत्संग तथा स्वाध्याय आदि साधनों की अपेक्षा रहती है वहां इसे सत्योन्मुख तथा स्वाध्याय-रसिक बनाने के लिए सात्त्विक आहार की सब से अधिक आवश्यकता है। सात्त्विक बुद्धि की परख मनुष्य के मन के सात्त्विक विचार से ही होती है। आपने यह तो लाख बार सुना होगा कि—**"जैसा करे आहार, वैसा बने विचार।"**

आहार की दो कोटियां हैं—आबी और पेशाबी। लगता है कि किसी विचारशील पुरुष ने साधारण लोगों को समझाने के लिए तथा उनके मन में मांस जैसे गन्दे आहार के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए आहार को दो कोटियों में बांट दिया है। इस दृष्टि से मांस पेशाबी आहार है, क्योंकि यह रज तथा वीर्य के संयोग से शरीर के नाम से मांस के पिण्ड के रूप में पैदा होता है और आबी आहार वह है जो जल, वायु, मिट्टी तथा सूर्य का प्रकाश पाकर धरती से वनस्पति के रूप में उत्पन्न होता है। जिस भी सज्जन पुरुष ने इस

जन-जीवन को सात्त्विक दृष्टि देने के लिए आहार का इस प्रकार से वर्गीकरण किया है, उसका सदाशय यह है कि आबी आहार ही सात्त्विक है और वह ही मनुष्य का वास्तविक आहार है। पेशाबी आहार अशुचिमय है, वह मन और बुद्धि को मलिन बनाता है।

गीता में आहार के तीन प्रकार बताए गये हैं, जैसे कि सात्त्विक राजस तथा तामस। गीता में वर्णित तामस आहार के स्वरूप को जानने से ज्ञात होता है कि गीता की दृष्टि में मांस तामस आहार है। जैसे कि आहारों के स्वरूप में तामस आहार का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टं चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ।।

Food which is half-cooked hicipid, pubid, stale and pulluted and also impure is dear to the Tamsic type of men.

जो भोजन अर्धपक्व, विकृत, दुर्गन्धमय, बासी, गला-सड़ा, जूठा और अपवित्र है वह तामस प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय होता है।

गीता की भाषा में तामस लोग उन्हें कहा गया है जिनमें तमो-गुण की प्रधानता होती है। सत्व, रजस तथा तमस इन तीन गुणों में तमो-गुण आच्छादक माना गया है। इस गुण का स्वरूप गीता में इस प्रकार वर्णन किया गया है। जैसे कि—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।

Arjuna ! with the Growth of Tamas, Obtuseness, Inactivity, Carelessness and stuper, all these appear in the mind and senses.

जिस अन्तःकरण में तमोगुण की प्रधानता होती है, हे अर्जुन ! वहां अज्ञान, अक्रियता, प्रमाद तथा मोह का बाहुल्य होता है। गीता

तत्त्व हैं, परन्तु दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हैं। सूक्ष्म अन्तर होने पर भी स्थूल जगत् में इनका विशेष अन्तर ज्ञात नहीं हो पाता। जैसे शक्कर-मिश्रित दूध पीने के बाद पूछा जाए कि पहले स्वाद किस का आया? शक्कर का या कि दूध का? रसनेन्द्रिय को दोनों स्वादों की अनुभूति एक साथ ही प्रतीत होती है। किन्तु सिद्धान्त यह है कि एक समय में दो कार्य नहीं हो सकते। एक ही समय में ज़बान शक्कर तथा दुग्ध के दो रसों का आस्वादन करने में किसी भी तरह समर्थ नहीं है। ठीक इसी तरह मन तथा बुद्धि ये दोनों अपने-अपने समय में ही काम करते हैं, किन्तु बाहरी स्थूल दृष्टि में उसकी अनुभूति सम्भव नहीं। इन्द्रियां सदैव मन को साथ ले कर ही कार्य में प्रवृत्ति करती हैं। मन के बिना इन्द्रियों की गति नहीं हो सकती, मन तो अति चञ्चल है, इन्द्रियों के साथ मिलकर यह और भी उच्छृङ्खल तथा उद्दण्ड बन जाता है। इन्द्रियां भी स्वभाव से चपल ही हैं। उनको भी ऐसा ही चञ्चल साथी चाहिये। इन दोनों पर यदि बुद्धि का नियन्त्रण न हो तो ये मनुष्य को रसातल में पहुंचा देते हैं। बुद्धि तभी अंकुश रख सकती है यदि वह सात्त्विक हो। सात्त्विक बुद्धि के लिए जहां सत्संग तथा स्वाध्याय आदि साधनों की अपेक्षा रहती है वहां इसे सत्योन्मुख तथा स्वाध्याय-रसिक बनाने के लिए सात्त्विक आहार की सब से अधिक आवश्यकता है। सात्त्विक बुद्धि की परख मनुष्य के मन के सात्त्विक विचार से ही होती है। आपने यह तो लाख बार सुना होगा कि—**"जैसा करे आहार, वैसा बने विचार।"**

आहार की दो कोटियां हैं—आबी और पेशाबी। लगता है कि किसी विचारशील पुरुष ने साधारण लोगों को समझाने के लिए तथा उनके मन में मांस जैसे गन्दे आहार के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए आहार को दो कोटियों में बांट दिया है। इस दृष्टि से मांस पेशाबी आहार है, क्योंकि यह रज तथा वीर्य के संयोग से शरीर के नाम से मांस के पिण्ड के रूप में पैदा होता है और आबी आहार वह है जो जल, वायु, मिट्टी तथा सूर्य का प्रकाश पाकर धरती से वनस्पति के रूप में उत्पन्न होता है। जिस भी सज्जन पुरुष ने इस

जन-जीवन को सात्त्विक दृष्टि देने के लिए आहार का इस प्रकार से वर्गीकरण किया है, उसका सदाशय यह है कि शावी आहार ही सात्त्विक है और वह ही मनुष्य का वास्तविक आहार है। पेशावी आहार अशुचिमय है, वह मन और बुद्धि को मलिन बनाता है।

गीता में आहार के तीन प्रकार बताए गये हैं, जैसे कि सात्त्विक राजस तथा तामस। गीता में वर्णित तामस आहार के स्वरूप को जानने से ज्ञात होता है कि गीता की दृष्टि में मांस तामस आहार है। जैसे कि आहारों के स्वरूप में तामस आहार का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टं चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम्॥

Food which is half-cooked hicipid, pubid, stale and pulluted and also impure is dear to the Tamsic type of men.

जो भोजन अर्धपक्व, विकृत, दुर्गन्धमय, बासी, गला-सड़ा, जूठा और अपवित्र है वह तामस प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय होता है।

गीता की भाषा में तामस लोग उन्हें कहा गया है जिनमें तमो-गुण की प्रधानता होती है। सत्व, रजस तथा तमस इन तीन गुणों में तमो-गुण आच्छादक माना गया है। इस गुण का स्वरूप गीता में इस प्रकार वर्णन किया गया है। जैसे कि—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

Arjuna ! with the Growth of Tamas, Obtuseness, Inactivity, Carelessness and stuper, all these appear in the mind and senses.

जिस अन्तःकरण में तमोगुण की प्रधानता होती है, हे अर्जुन ! वहां अज्ञान, अक्रियता, प्रमाद तथा मोह का बाहुल्य होता है। गीता

में इसके साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जीवन में तमोगुण का प्राधान्य होने से व्यक्ति की बुद्धि भी तामस बन जाती है। उस तामस बुद्धि का उल्लेख करते हुए श्री कृष्ण ने कहा है कि—

अधर्मं धर्ममिति य मन्यते तमसावृता,
सर्वार्थान्विपरीतश्च बुद्धि सा पार्थ तामसी।

That reason which is enveloped in ignorance, thinks the wrong to be right and regards all things contrary is Tamsic, Arjuna.

अज्ञानयुक्त वह बुद्धि जो धर्म को अधर्म तथा असत्य को सत्य कहती है और इस तरह समस्त तत्वों को जो विपरीत ही मानती है हे अर्जुन! उसे तामसिक बुद्धि कहा जाता है।

गीता हिन्दुओं का तो धर्मग्रन्थ है ही, इसके लिए प्रायः सारी दुनिया के दिलों में श्रद्धा तथा विश्वास है, क्योंकि इसका दर्शन व्यक्ति के जीवन का दर्शन है। इसका चिन्तन साम्प्रदायिक नहीं है, न इसमें किसी का खण्डन है और न किसी के पक्ष का मण्डन है। इसमें तो जीवन के धर्मयोग तथा कर्मयोग का केवल निदर्शन है। गीता के दर्पण में अपने आप को निहारना मानो भगवान श्री कृष्ण के चरण-कमलों में बैठकर अपने आचार-विचार के बारे में फैसला लेना है।

जो लोग मांसाहार करते हैं वे गीता के ही आलोक में अपने को देख लेवें तो उन्हें पता लग जायेगा कि उनका आहार गीता की दृष्टि में किस कोटि का है? मांस निश्चित ही दुर्गन्धमय होता है, शीघ्र ही उसमें अन्य जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, इसलिए यह विकृत कहा जाता है। रज तथा शोणित से ही इसकी उत्पत्ति होती है, इसलिए यह अपवित्र भी है। जिस कपड़े को रज तथा वीर्य का दाग लग जाये उसे कोई भी पवित्र नहीं कहता तो फिर मांस कैसे पवित्र हो सकता है और उसको खाने वाला भी कैसे पवित्र माना जायेगा?

गीता ने चेतावनी दी है कि मांस का आहार निश्चित रूप से तामस है। इससे जीवन में तमोगुण की वृद्धि होती है। मांस के खाने से जीवन में अज्ञान, निष्क्रियता, प्रमाद तथा मोह जैसे दुर्गुण पैदा होते हैं और मांसाहारी की बुद्धि तमोगुण के सांचे में ढल कर तामसी बन जाती है।

कोई भी व्यक्ति यहां शंका उठा सकता है कि ऊपर जो कुछ भी कहा गया है यह व्यवहार तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है, क्योंकि हम देखते हैं कि मांसाहारी लोग भी दुनिया के बहुत बड़े विचारक तथा महान् चिन्तक हुए हैं और अब भी हैं। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में दुनिया के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं। उन्होंने अपने देश तथा अपनी जाति के लिये बड़े-बड़े बलिदान तथा अपनी निष्काम सेवाएं देकर दुनिया में नाम पैदा किया है। संसार में बहुत से कवि, लेखक तथा वक्ता भी ऐसे हुए हैं जिनके कवित्व, वक्तृत्व तथा जिनकी लेखनी का दुनिया के लोग लोहा मानते रहे हैं। उनकी प्रतिभा तथा उनका चिन्तन बहुमुखी है। दीन-दुखियों के प्रति उनके दिल में करुणा तथा दया भी रहती है। जहां कहीं वे अन्याय तथा अत्याचार को देखते हैं वहां वे अपना सर्वस्व दे कर भी उसका प्रतिकार करते हैं। जहां किसी गरीब का पसीना गिरता है वहां वे अपना रक्त बहाने के लिए तैयार रहते हैं।

दूसरी तरफ हम तस्वीर का दूसरा रुख भी देख रहे हैं। वह यह कि बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो मांस तो नहीं खाते, किन्तु उनके जीवन के थैले में अन्य सब दोष भरे रहते हैं। बात-बात में वे क्रोध करते हैं। सहन-शक्ति का उन में नाम तक नहीं मिलता। दूसरों की बढ़ोतरी तथा प्रतिष्ठा को देख कर वे नाग की तरह बल खाने लगते हैं। उनके विचारों में भी स्पष्टता नहीं रहती। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में वे वक्र गति से चलते हैं। दोष-दृष्टि का भी उन में काफी बाहुल्य रहता है। वे निन्दा में भी किसी से पीछे नहीं रहते।

बहनें प्रायः मांस नहीं खातीं और फिर ऊंचे कुल तथा ऊंची जाति की धार्मिक वृत्ति की बहनें तथा माताएं तो इसे देखने में भी पाप समझती

हैं, किन्तु निन्दा, पर-परिवाद, कलह, अभ्याख्यान जैसे पापों से उनका अन्तःकरण मुक्त नहीं होता। एक दूसरे की व्यर्थ ही बातें बना-बना कर वे वातावरण को दूषित बनाती हैं। धर्म करने के लिए भी जहां पर बहनें बैठ जायेंगी वहां इधर-उधर की हांकने लगेंगी। इधर मुंह पर मुखपत्ती रहेगी और एक हाथ में रहेगी माला और सारी सामायिक में जबान कैंची की तरह उनकी चलती रहेगी। इस तरह से वे बहुत से दिलों में वैमनस्य पैदा कर देती हैं। एक दूसरे में झगड़ा करा देती है। उनके वचन कभी ऐसे परशुराम के बाण बन कर निकलते हैं कि वे दूसरे के कलेजों को छलनी-छलनी कर के रख देते हैं। अपने घरों में भी ये बूढ़ी माताएं शान्ति से नहीं रह पातीं। छोटी-छोटी बातों पर झगड़ा टंटा खड़ा कर देती हैं। कहने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि जो मांस का सेवन नहीं करते उनके जीवन में भी सात्विकता कहां है? ठीक है कि वे मांस का सेवन नहीं करते तो फिर दूसरे तमोगुणो दोष उनमें क्यों होते हैं? मांस न खाने वाले व्यक्ति अपने व्यावसायिक तथा सामाजिक जीवन में क्या कुछ नहीं करते?

हम देखते हैं कि बहुत से शाकाहारी लोग भी शिवजी की गद्दी पर बैठ कर कम नापने और कम तोलने में बड़े कुशल होते हैं। झूठे दस्तावेज बनवाते हैं। दोहरे खाते रखते हैं। चीजों में मिलावट कर के दूसरों की जिन्दगियों से खिलवाड़ करने में वे कोई गुनाह नहीं समझते। झूठी गवाही देने में उनको कोई संकोच नहीं होता। धन के लोभ में देव, धर्म, गुरु, शास्त्र तथा अपने पुत्र तक की झूठी कस्में खा लेते हैं। जहां कहीं देश में अकाल का स्थिति बन जाती है तो ये लोग चीजों का मूल्य बढ़ा देते हैं। माना कि दुर्भिक्ष पड़ने के अनेकों कारण होते हैं, किन्तु उनमें से एक व्यापारी वर्ग की संग्रह-वृत्ति भी प्रधान कारण है। उधर लोग अन्न के एक एक दाने के लिए तरसते हैं, कई गरीब माताओं के लाल तो तड़प-तड़प कर ही प्राण दे देते हैं, अनेक लोगों के जीवन-दीप बुझते रहते हैं और उधर जिन धन के लोभियों ने अपने भण्डार भर कर रखे हैं उनके घरों में घी के दीपक जलते रहते हैं, क्योंकि अपने माल की चार गुणा कोमत होने की आशा जो है। फिर

देखिये विवाहों में भी ये लोग क्या कम अन्याय तथा शोषण करते हैं। विवाह जैसे मंगल-कार्य को भी इन्होंने सौदागीरी ही बना लिया है। वे दूसरे का सब कुछ छीन कर अपनी तिजोरी भर लेना चाहते हैं। समाज में इन्होंने दहेज को अपनी नाक, शोभा तथा गौरव का प्रश्न बना रखा है। दूसरों के दुख को दूर करने की बजाय उसे और बढ़ा देना क्या यही अहिंसा-धर्म है। क्या करुणा, सहानुभूति तथा सहयोग की यही परिभाषा है? यदि कन्या-पक्ष वरपक्ष वालों के मनोरथ पूरा न कर सके तो फिर वे उस अबला पर ही भारी बन जाते हैं तो क्या यह मानवता है? मेरी शंका यह पूछना चाहती है कि जब मांसाहार करने से तमोगुण पैदा होता है और बुद्धि बन जाती है तामसी, तो शाकाहारियों की हृदय-स्थली में यह तमोगुण की काली छाया कहां से आती है, जबकि वे मांस नहीं खाते? जबकि कुछ मांसाहार करने वाले इन दोषों से कोसों दूर पाये जाते हैं। जबकि वे शाकाहारी नहीं होते। यह क्या माजरा है कुछ समझ में नहीं आता है।

"मांस तामसिक भोजन है और यह तमोगुण को पैदा करता है" यह बात मैं अपने अधिकार से नहीं लिख रहा, बल्कि विश्व के सर्वमान्य ग्रन्थ गीता ने ऐसा कहा है। जो धर्म-शास्त्र निष्पक्ष होकर सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करता है वह अवश्य सत्य एवं यथार्थ होता है। केवल अपने अपरिपक्व ज्ञान तथा अपूर्ण स्वाध्याय के कारण उस के शाश्वत सत्य तक पहुंचने में हमें थोड़ी कठिनाई होती है। मनुष्य की आखिर बुद्धि भी कितनी है? जितना चिड़िया की चोंच में पानी आता है उतना ही ज्ञान मानव की बुद्धि में समा सकता है। ज्ञान का सागर तो अनन्त है। हम उसमें से चिड़िया की तरह एक दो बिन्दु ही ग्रहण कर पाते हैं। इसलिए कभी-कभी मानव शंका के बीहड़ वनों में भटक जाता है। ऐसी स्थिति में वह किसी से मार्ग पूछले तो कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि भटका हुआ ही रास्ता पूछता है और जिसे जितना मालूम है वह उतना ही बता पाता है।

गीता ने मांस-भक्षण के कुप्रभाव के सम्बन्ध में जो मन्तव्य रखा

है उस पर थोड़ा विचार करना उचित रहेगा ताकि उपर्युक्त शंकाओं का समाधान हो सके।

पहली बात तो यह समझने की है कि जब कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति मांसाहारी है तो इसका यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं होता कि वह केवल मांस ही मांस खाता है, शाकाहार करता ही नहीं। प्राय: जितने भी सभ्य समाज में मनुष्य हैं वे सब शाकाहारी तो हैं ही। उनके मांसाहार का मतलब केवल इतना ही होता है कि मांसाहार भी कर लेते हैं। यद्यपि धार्मिक दृष्टि से उसमें वे पाप भी समझते हैं फिर भी कम से कम उन्हें माँस से घृणा नहीं है। फिर दूसरी बात यह है जन्म से तो मनुष्य शाकाहारी ही है, मांस खाना तो वह बहुत बाद में अपने घरवालों को देख कर या सग-दोष के कारण सीखता है और सबसे अधिक सोचने की बात यह है कि मांसाहारी मनुष्य भी जीवन में अधिकतर शाकाहार ही करता है। जिस घर में कभी मांस पकता है क्या उस घर में रोटी नहीं बनती? और उसके साथ एक दो शाक तो उस रसोई में बनते ही हैं। दाल-भात भी वे खा लेते हैं।

बहुत से लोग महीने में एक दो बार ही मांस का सेवन करते हैं और कुछ सप्ताह में बस एक ही बार। वे बहुत कम लोग हैं जिनका मांस नित्य का आहार बन गया है। इसलिए मनुष्य के मन - मस्तिष्क पर इसके प्रभाव का हिसाब मांस की मात्रा, रुचि तथा आसक्ति के आधार पर ही लगाया जा सकता है। दूसरी बात शाकाहार मांसाहार के प्रभाव को मन्द भी करता रहता है। मनुष्य को मलिन बनाने में उसके अनेक कारणों में से मांस भी एक कारण है न कि वह एक मात्र कारण है। पूर्व जन्म के संस्कारों, कुल तथा जाति की वृत्तियों, संस्कारों के असर, शिक्षा तथा सोसायटी के प्रभाव आदि कारणों से यदि स्वच्छता, शुभता तथा निर्मलता रहे तो व्यक्ति के चरित्र में उच्चता एवं नैतिकता रह सकती है। यदि हम उन्हें भारतीय संस्कृति तथा धर्म के गज से नापें तो फिर उन्हें पवित्र नहीं कह सकते। मांस खाने वाले जीव हिंसारूप पाप के भागी तो बनते ही हैं। जब मांस का एक टुकड़ा किसी धर्म-स्थान को अपवित्र कर सकता है तो फिर मांस मुंह

के रास्ते से पेट में जा कर और फिर शरीर के अंग-प्रत्यंग में परिणत हो कर मनुष्य के मन को क्यों अपवित्र नहीं बनाएगा ? अवश्य अपवित्र बनायेगा ही ।

अब रही बात, प्रसिद्ध कवि, लेखक तथा वक्ता होने की। जैन धर्म के अनुसार ये उपलब्धियां व्यक्ति के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का परिणाम हैं। जैन धर्म का चिन्तन इस विषय में यह है कि जीव के ज्ञान गुण को ज्ञानावरणीय कर्म ने आच्छादित कर रखा है। उसका जितना उपशम एवं क्षय होता जाता है व्यक्ति की बुद्धि उतनी ही बढ़ती जाती है और उसकी प्रतिभा तेज होती जाती है और जीव का मति-ज्ञानावरणीय कर्म जितना गाढ़ या प्रगाढ़ होता जाता है, मनुष्य का बौद्धिक ज्ञान उसकी अपेक्षा से मन्द एवं मन्दतर होता जाता है। मनुष्य के आहार के साथ उसका विशेष सम्बन्ध नहीं। हां, एक बात अवश्य है कि आहार जैसे विचारों की शुभता तथा अशुभता को प्रभावित करता है ऐसे ही आहार बुद्धि की स्वच्छता तथा मलिनता पर भी असर डालता है, किन्तु बुद्धि की मन्दता तथा प्रखरता से आहार का दूर का भी कोई वास्ता नहीं है।

जैसे दुनिया में शाकाहारी कवि, वक्ता तथा लेखक पाये जाते हैं वैसे ही हो सकता है कि कोई मांसाहारी इन उपलब्धियों में उनसे भी आगे बढ़ा हुआ हो, किन्तु आप उनकी वाणी तथा लेखनी के अन्तरङ्ग में उतर कर देखेंगे कि दोनों के विचारों की गन्ध उनके आहार के अनुसार भिन्न ही रहेगी। शाकाहारियों के विचारों में आपको मांसभक्षियों की अपेक्षा करुणा एवं शान्त रस की पुष्टि अधिक मिलेगी और वीर एवं श्रृंगार रस कम। शाक-पात खाने वालों के विचार-कणों में विनय, सरलता, कोमलता, क्षमा तथा शान्ति के तत्त्वों का प्राधान्य रहेगा और आमिष-सेवियों के चिन्तन बिन्दुओं से उग्रता, आवेश, अहंकार, प्रतिकार, वक्रता तथा कठोरता टपकती हुई नजर आयेगी।

इसे हम पाशविक आहार का दोष कह सकते हैं। अब हम पाठकों को शंका के दूसरे पहलू पर थोड़ा विचार करेंगे। शंका है कि जो लोग

मांस नहीं खाते उनमें भी नैतिक बुराइयां पाई जाती हैं, उसका क्या कारण है ? इसका उत्तर इतना ही है कि यह उनका वृत्तिदोष है। जैन धर्म ने कहा है कि जिनमें कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्या का बाहुल्य रहता है उनके विचार मलिन होते हैं। लेश्या का अर्थ है भाव-वृत्ति। वे लोग चाहे शाकाहारी ही हों, किन्तु वे अपने वृत्ति-दोष के कारण मन, वाणी तथा शरीर से हमेशा गलत रहते हैं। यह भी नहीं कि उन्हें ज्ञान नहीं होता, धर्म, कर्म तथा उसके महत्व तथा फल को भी वे समझते हैं तथा उस पर विश्वास भी रखते हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी उनके अन्तरङ्ग की वृत्ति तथा राजसी प्रकृति उन्हें असत् मार्ग पर ले ही जाती है। गीता ने इस विषय के समाधान में बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया है, जैसे कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

Moto impelled by what, Krishna, does this man commit sin even involuntarily as though driven by some force.

कृष्ण! किस शक्ति से प्रेरित हो कर व्यक्ति न चाहता हुआ भी पाप में प्रवृत्ति करता है ?

श्री कृष्ण जी ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए क्या ही सुन्दर कहा है—

काम एष क्रोध एष राजोगुण - समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

It is desire, it is wrath, begotten of the element of Rajas. Insatiable and guessly wicked. Know this to be the enemy in this case.

अर्जुन ! यह काम तथा क्रोध ही हैं जो रजोगुण से उत्पन्न हो कर मनुष्य को पाप के मार्ग में प्रवृत्ति कराते हैं। कभी न शान्त होने वाले

ये जीवन के सबसे बड़े दोष हैं तू इन्हें अपना शत्रु समझ।

गीता के इन दो श्लोकों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि जिनके जीवन में काम तथा क्रोध का बाहुल्य रहता है वे शाकाहारी होते हुए भी अनैतिक तथा अधार्मिक बन सकते हैं। मांस न खाना तो धार्मिक पुरुष का मुख्य धर्म है ही, किन्तु विशुद्ध धार्मिक होने के लिए जीवन में केवल शाकाहार ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ जीवन में अन्य नैतिकता के आधारों का होना भी परम आवश्यक है। जिसके जीवन में रजोगुण की प्रधानता होती है वह व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिकता के पवित्र सिद्धान्तों की अवहेलना करने लगता है। यही कारण है कि धर्म-स्थानों में बैठ कर तथा पूजा-पाठ करते हुए भी ऐसे लोग अनैतिकता का प्रदर्शन करते रहते हैं, जिस गली और बाजार से वे गुजर जाते हैं वहाँ भी अपने दुर्गुणों की दुर्गन्ध फैला देते हैं। जिस सभा या मीटिंग में वे पहुंच जाते हैं वहां बिना मतलब का संघर्ष छेड़ कर कलह की चिनगारियां बिखेरने लगते हैं। समाज में संघर्ष हमेशा से रहे हैं और कभी परिस्थितियां ऐसा मोड़ ले लेती हैं कि न चाहते हुए भी अधर्म, अन्याय तथा अत्याचार को रोकने के लिये तथा जो लोग उस अन्याय एवं शोषण के शिकार हो रहे होते हैं उनकी जीवन-रक्षा के लिये तथा समाज के प्राङ्गण में धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिये संघर्ष अनिवार्य हो जाता है, किन्तु याद रखें कि जो लोग निःस्वार्थ भाव से ऐसे संघर्षों में प्रवृत्त होते हैं, वे सात्विक भावों के स्वामी होते हैं, वे अपने घटिया स्वार्थों से ऊपर उठे हुए और धर्म के लिए समर्पित होते हैं, किन्तु जो लोग केवल दूसरों के अधिकार तथा प्रभुता तथा सत्ता हथियाने के लिए ही लड़ाई लड़ते हैं, या दूसरों के मार्ग में रोड़े अटकाने के लिए व्यर्थ ही संघर्षों में उलझते रहते हैं उनके जीवन का कोई सिद्धान्त नहीं होता। ऐसे लोग स्वार्थ के अग्निकुण्ड में जीवन के अहिंसा तथा सत्य जैसे समस्त महान् आदर्शों की आहुति देने के लिए तैयार रहते हैं। ऐसे लोगों में रजोगुण की प्रधानता होती है और उनके चिन्तन, सम्भाषण तथा जीवन के अन्य सभी व्यवहार आसुरी गुणों से आक्रान्त होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे लोग आमिष

भोजी भी अवश्य हों। बहुत से लोग शाकाहारी होते हुए, अहिंसा जैसे धर्म को परम धर्म मानते हुए, वीतराग प्रभु के भक्त होते हुए तथा रामायण गीता, वेद एवं उपनिषदों की ज्ञान भरी बातें करते हुए तथा अपने विश्वास एवं श्रद्धा के अनुसार समस्त धार्मिक कृत्यों का बाह्यरूप से पालन करते हुए भी उनका मन आसुरी सम्पदा के प्रभाव में रहता है। गीता में आसुरी सम्पदा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

दम्भोदयोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

Hypocrisy, arrogance, pride, anger, harshness and ignorance, these Arjuna ! are the marks of one who is born with demoniacal properties.

कपट, अहंकार, अभिमान, क्रोध एवं भाषा तथा व्यवहार की कठोरता और अज्ञान ये सब आसुरी संपदा से आक्रान्त मनुष्य के लक्षण हैं।

इन आसुरी गुणों का बीज है रजोगुण। यहीं से आसुरी गुणों के अंकुर निकलते हैं। वैसे गीता के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के जीवन में सभी गुणों का सद्भाव रहता है, किन्तु एक समय में एक ही गुण प्रधान होता है, अन्य गुणों का तिरोभाव रहता है और उसे उस समय गौण कहा जाता है। इसलिए दुनिया के ऊंचे दर्जे के सात्विक पुरुषों में भी कभी-कभी मोह, आवेश तथा आसक्ति की झलक आ जाती है। इसका कारण वास्तव में यही है कि उनमें सतोगुण अवश्य मुख्य है, किन्तु रजोगुण भी तो वहां गौण रूप में बैठा है जो कभी-कभी ऊपर उछलता है और मनुष्य की सात्विकता के लिए काला बादल बनकर कुछ क्षणों के लिए चित्त पर छा जाता है, किन्तु जब विवेक एवं सद्ज्ञान का पवन चलता है तो रजोगुण का बादल फटने लगता है और सात्विकता का चन्द्रमा फिर अपनी शीतलता से मन एवं मस्तिष्क को ठंडा कर देता है। ठीक इसी तरह संसार में बुरे लोग भी हैं उनके हृदय के किसी

कोने में कहीं आंशिक रूप में सात्विकता भी अवश्य छिपी रहती है। उनमें सतोगुण की एक भी चिनगारी न हो तो ऐसे लोग सत्संग पा कर कभी सुधर नहीं सकते, किन्तु हम यह देखते हैं कि बुरे से बुरे लोग भी महात्माओं के संसर्ग में आकर महान बने हैं। ऐसा क्यों होता है? वास्तव में इसमें यथार्थता यही है कि उनके अन्तस्तल पर पड़ी हुई सतोगुण की चिन्गारी सत्संग पाकर प्रज्वलित हो जाती है और वह रजोगुण तथा तमोगुण के दोषों के सब कूड़े-कचरे को जला कर राख बना देती है।

वैसे यह एक अलग विषय है, किन्तु मांसाहार के संदर्भ में जो शंका उठाई गई है कि जब मांस खाने से जीवन में तमोगुण बढ़ता है तो शाकाहारी लोगों के जीवन सात्विक ही क्यों नहीं होते? केवल इस शंका के समाधान में मैंने इस गुण तथा संपदा के विषय का स्पर्श किया है, केवल यह स्पष्ट करने के लिए कि व्यक्ति पूर्व जन्म तथा अपने वंशानुगत संस्कारों के कारण तथा व्यसनी लोगों के संग में बैठ कर या अधार्मिकता तथा कुशिक्षा के प्रभाव में आकर कुछ लोग आसुरी प्रकृति के वन जाते हैं।

वैसे दुनिया में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे सब शाकाहारी ही हुए हैं। जिन ऋषि मुनियों ने ईश्वरीय ज्ञान को इस धरती पर उतारा है वे सब शाकाहारी ही थे। क्या आपको मालूम नहीं कि जब भगवान् श्री कृष्ण दुर्योधन के पास पांडवों का संधि - प्रस्ताव लेकर गये थे और उस अहंकार के पुतले दुर्योधन ने श्री कृष्ण के उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया तो श्री कृष्ण ने उसके घर पर भोजन करना उचित नहीं समझा। तब उन्होंने विदुर का आमन्त्रण मान कर उसके घर आहार ग्रहण किया था। उन्होंने वहां जाकर क्या खाया था? उसका पता हमें एक गीत के निम्न चरण से अच्छी तरह मिल सकता है जैसे कि—

दुर्योधन का मेवा त्यागो, साग विदुर घर खायो।

इस चरण से यह भी पता चल जाता है कि दुर्योधन के घर में तथा विदुर के घर में जो भोजन तैयार किया गया था, वह भी शाक-

पात तथा विविध फलों एवं मेवा-मिष्ठान्नों पर ही आधारित था।

भगवान् राम के सम्बन्ध में भी किसी ने एक ऐसा ही गीत लिखा है। उसका एक चरण कुछ इस प्रकार है—

कन्द मूल फल खाये, कुशा के आसन पर सोए।

वनवास-काल में भगवान् राम ने शाक एवं फल खा कर ही जीवन के चौदह वर्ष व्यतीत कर दिये और तपोधन ऋषि जनों की तरह भूमि-शयन करते रहे।

अभी पिछले दिनों दिनांक ९-५-१९८२ के उर्दू पत्र हिन्द समाचार में शाकाहार के समर्थन में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख का शीर्षक था —

अकलो दानिश का रास्ता 'शाकाहार'

इसे हिन्दी में हम ऐसे कह सकते हैं कि— बुद्धि तथा दूरदर्शिता का मार्ग — शाकाहार।

इसका लेखक निष्काम कर्म-योगी प्रतीत होता है, क्योंकि उसने अपने लेख में लिखा है कि भारत में भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध गुरु नानक देव, महात्मा कबीर, चैतन्य महाप्रभु, विवेकानन्द, स्वामी राम तीर्थ, स्वामी दयानन्द आदि जितने भी धर्म-संस्थापक तथा अध्यात्म-योगी हुए हैं वे सब परम शाकाहारी ही थे। शाकाहार से ही व्यक्ति ध्यान-योग कर के ईश्वर के निकट पहुच सकता है।

इसके अतिरिक्त जितने भी बड़े-बड़े राजनेता हुए हैं वे भी प्रायः शाकाहारी ही थे। जैसे कि महात्मा गान्धी, लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक, पं० मदन मोहन मालवीय, डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० राधा कृष्णन, राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि तथा श्री लाल बहादुर शास्त्री। ये सभी हमारे देश के भाग्य-विधाता अपने जीवन में कट्टर शाकाहारी ही रहे हैं। इन्होंने कभी भी मांस को हाथ नहीं लगाया।

उस लेख में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि विदेशों में भी जितने बड़े-बड़े लोग हुए हैं वे भी सब शाकाहारी ही थे। जैसे कि—

पीथा गोरस, अरस्तू, भोंड विल्टन, पोप, हक्स, वाल्टर, शेमिओ न्यूरिओ, न्यूटन, टालस्टाय और बरनार्ड शा आदि।

श्री वी. वी. गिरि ने एक बार इसी आधार पर कहा था कि "मेरा दृढ़ विश्वास है कि संसार के सभी बड़े-बड़े सात्त्विक पुरुष शाकाहारी ही हुए हैं।" टाल्सटाय ने मांसाहार के विरोध में यहां तक कह दिया था कि—"मांस खाना यह एक भयानक जंगलीपन का प्रमाण है।"

लेखक महोदय ने अपने लेख में अफ्रीका का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया है कि जब मानव-सभ्यता का विकास नहीं हुआ था उस समय मनुष्य पशु का तो क्या वह साथी मनुष्य तक का कच्चा मांस खा जाता था। धीरे-धीरे उसने मांस को पका कर खाना सीखा। सभ्यता का चरण जब और आगे बढ़ा तो उसने नर-मांस खाना छोड़ दिया। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जब मनुष्य ने धर्म-कर्म तथा पाप-पुण्य के स्वरूप को समझा तो वह मांसाहार को छोड़ कर शुद्ध शाकाहारी बन गया।

भारत के महान् पुरुषों की प्रतिभा तथा दूरगामी चिन्तन को देख कर विदेशी लोगों की यह धारणा बन गई है कि यदि बुद्धिमान् बनना है तो शाकाहारी बनो। विदेशों के लोग धीरे-धीरे मांस खाना छोड़ते जा रहे हैं।

अभी तो शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से ही मांस की हेयता पर विचार किया गया है, अब थोड़ा धार्मिक दृष्टिकोण से भी इस पर विचार कर लें तो अच्छा रहेगा। धर्म का सूर्य सबसे पहले भारत के ही क्षितिज पर उदित हुआ था। यदि कहीं इस धरती पर धर्म-सूर्य की कोई किरण है भी तो वह केवल इसी सूर्य की है। मांस-भक्षण पर धार्मिक दृष्टि से विचार करने का तात्पर्य है भारत के धर्म-ग्रन्थों के आधार पर यह देखना कि क्या मांस उनकी दृष्टि में ग्रहणीय है या कि वर्ज्य है। वेद भारत के बहुत प्राचीन धर्मशास्त्र हैं। उन्हीं वेदों का उद्घोष है—"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

यजुर्वेद के १०वें अध्याय के २३वें मन्त्र में कहा है कि—

"पृथिवि मातर्मा मा हिंसी, मा अहं त्वाम्—अर्थात् हे पृथिवी माता! न तू मेरी हिंसा कर और न मैं तेरी हिंसा करूं।

इसी वेद के १२वें अध्याय के ३२वें मन्त्र में फिर कहा गया है कि "मा हिंसीस्तन्वा पुनः"—तू अपने शरीर से किसी को भी पीड़ित न कर।

और १६वें अध्याय तथा तीसरे मन्त्र में इसी वेद में आदेश दिया गया है कि—"मा हिंसी पुरुषं जगत्," अर्थात् पुरुष तथा जंगम पशुओं की हिंसा न करो।

जो वेद इस प्रकार जोरदार शब्दों में हिंसा का निषेध करते हैं वे मांस खाने की बात कैसे कह सकते हैं? क्योंकि मांस का समर्थन तो एक तरह से हिंसा का उपदेश ही है। वेदों में हम सर्वत्र देखते हैं कि इन्द्र आदि देवताओं से अपने दीर्घ एवं सुखी जीवन की कामना की गई है और अपने लिए यश, कीर्ति, सद्बुद्धि, शुद्ध मन तथा उदार भावना और इसके साथ-साथ प्रिय मित्र, सुयोग्य पुत्र, धन-धान्य, गाय, घोड़ा आदि पशुओं की वृद्धि तथा ऋद्धि की प्रार्थना की गई है। उपासक इस प्रकार की मंगल-कामनाएं तथा उत्तम मनोरथ तो स्थल-स्थल पर करता हुआ देखा जाता है, किन्तु कहीं ऐसा देखने में नहीं आया कि किसी ने ऐसी प्रार्थना की हो कि "हे प्रभो! हमारे घर में मछलियां हों, अण्डे हों और मांस के ढेर लगे रहें।" इसलिए यह तथ्य सुनिश्चित है कि मनुष्य के लिए मांस खाना तो दूर रहा इसका संकल्प भी मनुष्य-मन के लिए महापाप है।

मनुस्मृति में तो मांस खाने वाले को कसाई के तुल्य ही माना गया है और मांस का अर्थ करते हुए कहा गया है कि मांस शब्द ही बताता है कि 'मां' जो मुझे खायेगा 'स' अर्थात् मेरे द्वारा एक दिन वह भी अवश्य खाया जाएगा। इस का तात्पर्य यह है कि मांसाहारी को एक दिन उसका बदला चुकाना ही पड़ता है।

श्रीमद् भगवद्गीता में तो मांस को तामस आहार में ही गिना गया है और यह भी कहा गया है कि इसका सेवन केवल तामसिक वृत्ति के लोग ही करते हैं।

जैन धर्म ने नरक के चार कारणों में मांस को नरक का प्रधान कारण माना है, किन्तु नरक-गति के दूसरे पञ्चेन्द्रिय - वध, महारम्भ तथा महापरिग्रह आदि कारण इस मांस-भक्षण के साथ ही जुड़े रहते हैं, क्योंकि पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध किये बिना मांस प्राप्त नहीं होता। जीव-हिंसा तो स्वयं ही महारम्भ है। यदि मूर्च्छा का नाम परिग्रह है तो मांसाहार की आसक्ति को महापरिग्रह भी कहा जा सकता है, इसलिए यह माना जा सकता है कि मांस खाने वाला नरक के चारों ही कारणों का उपार्जन कर लेता है। ऐसा कोई भी कारण शेष नहीं रहता जो नरकगामी न बनाता हो।

जैन धर्म ने यह भी स्पष्ट कहा है कि बाल जीव अर्थात् अज्ञानी प्राणी ही मांस का उपभोग करते हैं, ज्ञानी नहीं और इस मांस के खाने से मांसाहारी के जीवन में हिंसा, मृषावाद, कपट, पिशुनता तथा शठता आदि दोषों का आविर्भाव होता है। जैसे कि गाथा कह रही है कि—

हिंसे बाले मुसावाइ, माइल्ले पिसुने सठे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेय इति मन्नइ॥

और फिर आश्चर्य की बात यह है कि यह बाल मूर्ख मनुष्य सब प्रकार के दुष्ट कर्म करता हुआ भी उसमें अपना हित, मंगल तथा कल्याण समझता रहता है।

इस तरह धार्मिक जगत् के झरोखे से भी यदि देखा जाए तो भी मांस किसी भी व्यक्ति के लिए भक्षणीय नहीं है।

अब रही बात आत्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि-बिन्दुओं से इसे देखने की। आत्मिक दृष्टि का अर्थ है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से जगत् के प्राणियों के सुख-दुःख को अपने ही समान समझना और "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" के अनुसार जो स्वयं को इच्छित नहीं वह अन्यों के लिए कदापि नहीं चाहना—यही

आत्मवाद है। जो लोग धार्मिक होते हैं वे आत्मवादी भी होते हैं। आत्मवाद तथा मांस का कहीं सामञ्जस्य नहीं बैठता। मांस की आसक्ति मनुष्य को जीव-हिंसा के लिए बाध्य करती है। हत्या तथा हिंसा से सब प्राणियों को भीषण एवं असह्य वेदना होती है। मांस के लोभ में मनुष्य बेगुनाह, मूक प्राणियों को तड़पाता है और उनके हृदय-विदारक चीत्कारों को सुनकर भी पत्थर की शिला बन कर खड़ा रहता है। इस ज़बान के क्षणिक स्वाद के लिए मांस, के चार टुकड़े हासिल करने के लिए जितना दुःख और जितनी पीड़ा वह दूसरे प्राणियों को देता है क्या उतना ही कष्ट तथा उतनी ही यन्त्रणा यदि उसे दी जाए तो क्या वह उसके सामने खड़ा रह सकेगा? उस समय उसकी अपनी क्या दशा होगी? क्या उसने कभी अपने हृदय पर हाथ रख कर यह सोचा है? जिनकी आंखों के आगे से अज्ञान का पर्दा हट गया है वे ही लोग दूसरों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझ सकते हैं। ऐसे लोग जब दुख को अपने लिए अप्रिय समझते हैं तो वे दुनिया में किसी भी प्राणधारी को अपने स्वार्थ के वशीभूत हो कर कभी भी दुःख देने का प्रयत्न नहीं करते।

अब अन्तिम बात रही मांस-सेवन पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने की। यह बात तो स्वतः-सिद्ध है कि जो कृत्य धर्म तथा आत्मा के विरुद्ध है वह आध्यात्मिक रूप से सम्यक् एवं समीचीन कैसे हो सकता है?

हमेशा स्मरण रखिये कि मांस-सेवी कोई भी व्यक्ति योग-विद्या का साधक नहीं बन सकता। शाकाहार योग-साधना की पहली सीढ़ी है। पतञ्जलि ने अपने अष्टांग योग-मार्ग में सबसे पहले यमों की साधना अनिवार्य बताई है। यमों में अहिंसा प्रथम यम है, अर्थात् महाव्रत है। इसके बिना कोई भी साधक योग-साधना में प्रगति नहीं कर सकता। आहार-विज्ञान के अनुसार आहार का साधारण सा दोष भी साधक के मन को विचलित कर देता है तो फिर मांस जैसा पर्वत के समान आहार-दोष क्या मन को स्थिर एवं शान्त बना रहने दे सकता है? कभी नहीं।

इस सन्दर्भ में यह बात शंका के रूप में कही जा सकती है कि कुछ ऐसे तान्त्रिक लोग देखने में आए हैं जो मांस-मदिरा का खुला प्रयोग भी करते हैं और ऋद्धि-सिद्धि के वे खूब धनी भी होते हैं, उनके पास बड़े-बड़े चमत्कार भी रहते हैं। भला वे लोग आध्यात्मिक मार्ग पर इतने आगे कैसे बढ़ जाते हैं ?

किन्तु वास्तव में ये ऋद्धियां-सिद्धियां तो योग-मार्ग में विघ्न हैं—बाधाएं हैं। जीवन के लिये सब चमत्कार केवल माया-जाल हैं, ये सब तो मदारी के खेल हैं। इस इन्द्रजाल का योग-साधना के साथ दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे माखन के साथ छाछ उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही योग-साधना में संलग्न साधक को अणिमा-लघिमा आदि सिद्धियों का साक्षात्कार भी हो जाता है, किन्तु वह इनके व्यामोह में न फंस कर अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य कैवल्य को पाने के लिए आतुर रहता है। वह अपनी उपलब्धियों का प्रचार नहीं करता। जो लोग प्रसिद्धि के चक्कर में पड़ जाते हैं वे एक दिन योग से भ्रष्ट हो जाते हैं। आपको मालूम होना चाहिये कि तान्त्रिक लोग योग के साधक नहीं होते, वे केवल तन्त्र-साधना से दैवी शक्तियों को अपने आधीन करके उनसे काम लेने के प्रयत्न करते हैं।

सभी दृष्टि-विन्दुओं पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मांस किसी भी दृष्टि से मनुष्य का आहार नहीं है। उसके लिए प्रकृति की गोद में खाने को बहुत कुछ है, फिर उसे पेट भरने के लिए चाहिए भी कितना केवल दो रोटियां और इस पेट के लिए इतना पाप ? इस पर एक शायर ने दो शब्द ऐसे लिखे हैं—

पेट भर सकती हैं जब तेरा फक्त दो रोटियां।
क्यों ढूंढता फिरता है फिर तू बेजुबां की बोटियां॥

शायद कोई इस पर बोल उठे कि यदि इन्सान इतना संतोषी बन जाए और इतनी दया और करुणा ले कर जीवन में चले तो दुनिया का काम कैसे चल सकता है ? मैं कहता हूं कि यदि सभी मनुष्य परम कारुणिक एवं दयालु बन जायें तो फिर दुनिया में कोई दुःख,

अशान्ति तथा समस्या ही न रहे। संसार में समस्यायें तो हमेशा स्वार्थी उग्र तथा क्रूर प्रकृति के लोग ही खड़ी करते हैं। उसके लिए फिर शान्ति-प्रिय लोगों को भी वीरता तथा शौर्य की बात सोचनी पड़ती है। यदि सबके मन में एक दूसरे के प्रति स्नेह तथा दया ही भरी हो तो निर्बल तथा बलवान् का संघर्ष तथा मुकाबला क्यों होगा? दुःख तो यही है कि सभी के मन में करुणा भगवता का वास नहीं है।

जब तक बच्चा बोलता नहीं और अपना सुख-दुख कह नहीं सकता, तब तक मां उसका ध्यान अधिक रखती है। ठीक इसी तरह ये सब मूक पशु अपना सुख-दुख व्यक्त नहीं कर सकते। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं उनके भावों को समझे, उनके आहार-पानी का पूरा ध्यान रखे, किन्तु बड़े ही दुख की बात है कि यह मनुष्य जबान के स्वाद में अन्धा होकर स्वयं उन्हीं को अपना आहार बनाने लग गया है। यह उनके प्रति कितना बड़ा अन्याय है?

कुछ लोगों का कहना है कि ये सब बकरे-बकरियां आदि प्राणी आखिर किस काम आएंगे? यदि इन्हें मांसाहारी लोग न खाएं तो इनकी संख्या इतनी हो जायेगी कि धरती पर मनुष्य को रहने के लिए कहीं स्थान ही नहीं मिलेगा। इसका उत्तर केवल यही है कि इस दुनिया में बहुत से ऐसे प्राणी हैं जिनका मांस मनुष्य नहीं खाता, किन्तु उनसे यह पृथिवी भरपूर हो रही है क्या? काक जैसे पक्षियों का मांस मनुष्य नहीं खाता तो क्या सारा आकाश कौओं से ही भर गया है। वहां क्या दूसरे पक्षियों के उड़ने के लिए कोई जगह नहीं रही? क्या सारे आकाश में कौए ही कौए उड़ रहे हैं? वस्तुतः इस तर्क में कोई भी बल नहीं है। यह अपने असत् पक्ष को कुतर्क के द्वारा सत्य सिद्ध करने का केवल एक दुष्प्रयास मात्र है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में मृत्यु तथा जन्म के बीच संतुलन बनाये रखने का दायित्व मानव ने अपने हाथ में ले लिया है। माना कि वह कुछ सीमा तक अपने कृत्रिम उपायों से इसमें साफल्य प्राप्त कर सकता है; किन्तु इसकी सम्पूर्ण सत्ता तो प्रकृति के ही पास है। इस धरती का भार जब अत्यधिक बढ़ जाता है तो उस पाप के भार को

कम करने के लिए महायुद्ध, भूकम्प तथा महामारी आदि के रूप में इस पृथिवी पर कोई न कोई विनाश का कारण बन जाता है और धीरे-धीरे जन्म और मरण के दोनों पलड़े बराबर हो जाते हैं।

हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये एक प्रकार से इस प्रकृति की सार्वभौम सत्य शक्ति के ही तीन नाम हैं। इस प्रकृति की अनन्त एवं अपार शक्ति को भगवान् या ईश्वर को संज्ञाएं दी गई हैं। ये तीनों देव, सृजन, पालन तथा प्रलय के प्रतीक माने गये हैं। इसका अर्थ यह है कि इस संसार के उपर्युक्त तीनों कार्य प्रकृति के हैं न कि मनुष्य के। मनुष्य तो मिथ्या-ज्ञान के कारण इसमें कर्तृत्व का अहंकार मात्र करता है। उसके इस अज्ञान को दूर करने के लिए ही गीता ने उसे यह समझाने का प्रयत्न किया है कि वह केवल अपने आपको निमित्त समझे. कहीं अपने को कर्त्ता न मान बैठे। उसका कर्तव्य उसकी प्रकृति में है न कि बाहरी व्यवहार में। गीता ने इस आधार पर यह नियम स्थिर कर दिया है कि जब धरती पर पाप अधिक हो जाता है या बढ़ते बढ़ते अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है तो इस धरती पर प्रकृति की रुद्र शक्ति सक्रिय होकर प्रकट होती है। वह जीवों के पाप-कर्मों के अनुसार प्रकृति की सार्वभौम सत्य शक्ति का केवल एक रूपान्तरण है। उसे ही हम आस्तिकता की भाषा में ईश्वरीय शक्ति कह देते हैं। इस लिये मनुष्य को इस धरती के सन्तुलन की जितनी चिन्ता है, इससे अधिक चिन्ता तो प्रकृति माता को है। वह अकेली ही इसके लिए बहुत है।

एक बात और भी है वह यह है कि जिस वस्तु का विनाश कम होगा, उसकी उत्पत्ति अपने आप कम हो जाती है। तब उसके अत्यधिक बढ़ने का कोई भय नहीं रहता है। यदि मांसाहारी लोग भेड़-बकरियों को मार कर खाना छोड़ दें तो उनकी संख्या मानव-जगत् के लिए निश्चित रूप से कोई संकट नहीं बन सकती।

मांसाहारियों की ओर से अपने पक्ष की पुष्टि में एक अड़ंगा और भी लगाया जाता है, वह यह है कि सिद्धान्त के अनुसार जीव तो सब में है, यदि पशुओं में आत्मा है तो वैसी ही आत्मा वनस्पति आदि में

भी है, तो फिर यदि मांस खाने में पाप है तो शाक-पात खाने में पाप क्यों नहीं ? सिद्धान्ततः सब्जी आदि खाने में भी तो पाप है। जो शाकाहार करते हैं वे भी तो सब एक प्रकार से जीवों का ही तो भोजन करते हैं। **"जीवो जीवस्य भोजनम्"** का सिद्धान्त आखिर किसी आधार पर ही तो बना है।

जीव सर्वत्र है, यह बिल्कुल सत्य है। मनुष्य को जीवित रहने के लिये आहार करना ही पड़ता है। यह भी निश्चित है तो फिर आहार में जीव-हिंसा अनिवार्य है, इसमें किसी के भी दो मत नहीं, किन्तु फिर भी ज्ञात होता है कि मांसाहारियों का इतना मात्र जीव-विज्ञान सत्य तक पहुंचने में पर्याप्त नहीं। वह अपरिपक्व एवं त्रुटिपूर्ण भी है। वैसे यह एक स्वतन्त्र विषय है, किन्तु आहार के सन्दर्भ में इस पर जितना आवश्यक है उतना ही चिन्तन करना उचित रहेगा।

जैन-धर्म तथा आज के विज्ञान के अनुसार अन्य प्राणियों के समान वनस्पति आदि में भी जीव की सत्ता है, किन्तु जैन शास्त्रों के अनुसार तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर देखा जाए तो पशु आदि के जीवन में तथा वनस्पति के जीवों में बहुत बड़ा मौलिक अन्तर रहता है। जैन आगमों के अनुसार पशुजाति (बकरीआदि) के जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं। वनस्पति का जीव एकेन्द्रिय है, उसमें केवल एक स्पर्श इन्द्रिय द्वारा संवेदन करने की शक्ति रहती है। पञ्चेन्द्रिय जीव अपनी पांचों इन्द्रियों से सुख-दुख की अनुभूति करता है। हिंसा जीव को मारने अर्थात् शरीर से जीव का वियोगीकरण करने तथा जीव में अन्य ९ प्रकार के प्राणों को पीड़ित तथा संक्लेशित करने में है। वह भी उस समय जब कि उसके परिणाम राग-द्वेष से प्रमत्त होकर सक्रिय हो रहे हों। नहीं तो हिंसा की कोई भूमिका नहीं बनती। जीव तो स्वभाव से अजर-अमर है, न वह मरता है और न उसे कोई मार सकता है। दूसरे शब्दों में संकल्प-पूर्वक जीव के प्राणों का वियोग या संक्लेशन हिंसा है—पाप है।

पञ्चेन्द्रिय पशु एकेन्द्रिय वनस्पति की अपेक्षा हनन के समय दुख की अत्यधिक तथा तीव्र अनुभूति करता है। इसलिए उसके मारने में पाप अधिक माना गया है। वनस्पति में वैसी अनुभूति नहीं होती।

वनस्पति के जीवों की वेदना अप्रकट तथा अव्यक्त होती है। जबकि पञ्चेन्द्रिय आदि त्रस जीवों की वेदना व्यक्त रहती है। कोई भी आंखों वाला प्राणी उसे देख कर उसका अनुभव कर सकता है। इसलिए पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा में मारने वाले के भाव अत्यन्त कठोर एवं निर्दयता पूर्ण रहते हैं। कोई भी कोमल-हृदय का व्यक्ति उस प्राणी को तड़पता हुआ देख नहीं सकता। उस बीभत्स दृश्य को देख कर कइयों को मूर्च्छा तक आ जाती है। इधर वनस्पति को विनारते तथा छोलते हुए व्यक्ति के परिणाम तनिक भी कठोर नहीं बनते। इसलिए एकेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा में समान-पाप के कथन का सिद्धान्त शास्त्र-विरुद्ध है।

हां, पाप थोड़ा बहुत शाकाहार के आरम्भ-मारम्भ में भी होता ही है, ऐसा अवश्य माना जा सकता है। ऊपर जो शंका की गई है उसी के उत्तर में एक अंग्रेज विचारक ने कितनी सुन्दर बात कही है कि यह ठीक है कि पाप सब प्रकार के आहारों में लगता है, किन्तु फिर भी

Killing beast is the Living Best

कम से कम हिंसा करना और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करना चाहिये। दुनिया के सभी बुद्धिमान् लोग महा हिंसा का मार्ग छोड़कर हमेशा अहिंसा या अल्प हिंसा के ही मार्ग पर चलने में अपना हित समझते हैं। मांसाहार महा हिंसा का मार्ग है। बुद्धिमान् लोग इस माग पर कभी भूल कर भी नहीं चलते।

कुछ लोग ऐसे हैं जो मांस तो नहीं खाते, किन्तु अण्डे तथा मछली खाते हैं। बंगाल तथा उड़ीसा के लोग प्रायः मत्स्य - भोजी ही हैं। उड़ीसा तो है ही मत्स्य-भोजी देश। मछली वहां का खाद्य बन गया है। तिलक धारी पण्डे लोग भी इसे खाने में कोई संकोच नहीं करते। वे लोग शायद इसे मांसाहार नहीं समझते, किन्तु अण्डा तथा मछली भी मांसाहार के ही अन्तर्गत हैं। जैसे मांस खाने में हिंसा तथा पाप है इसी तरह अण्डा तथा मछली खाने में भी उतना ही पाप समझना चाहिए जितना अन्य प्राणियों का मांस खाने में होता है।

शारीरिक दृष्टि से अण्डे तथा मछली का भोजन हानिकारक है, मांस की तरह उसमें भी कोलेस्ट्रोल, यूरिया तथा डी. डी. टी. जैसे विषैले तत्त्व पाये जाते हैं। यह तथ्य आज के आहार-विज्ञान-वेत्ताओं ने अपनी खोजों द्वारा सिद्ध कर दिया है। अपनी शोधों के आधार पर यह भी उन्होंने बताया है कि मानव-शरीर के लिए प्रोटीन जैसे जितने भी पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता रहती है वह मांस अण्डा तथा मछली जैसे अशुचिमय पदार्थों की अपेक्षा विविध शाकों तथा विविध दालों में अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। फिर भला मांस-मछली खा कर तथा अण्डे चबा कर अपना जन्म बिगाड़ने की क्या अवश्यकता है ?

कुछ लोग कहते हैं कि कुछ अण्डे ऐसे होते हैं जो निर्जीव होते हैं। उनमें से बच्चा नहीं निकलता। उन्हें वे Unfertilised eggs या Vegetable eggs अर्थात् शाकमय अण्डे कहते हैं। मैं अपने इस लेख में ऐसे अंडों की सजीवता या निर्जीवता की समीक्षा में उतरना नहीं चाहता, क्योंकि यह लेख पहले ही काफी लम्बा हो गया है। इसे और बढ़ाना नहीं चाहता, किन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि आखिर वह निर्जीव अंडा भी तो रज और वीर्य की धरती का ही उत्पादन है। उसके तामसी प्रभाव से मन और मस्तिष्क मलिन तो बनेंगे ही। फिर जो व्यक्ति एक अंडा खा लेता है वे दूसरे भी खा जाता है। आसक्ति के क्षणों में व्यक्ति निर्जीव व सजीव नहीं देखता।

मैं ऐसे लोगों से अर्ज करूंगा कि तर्क-वितर्क के बीहड़ वन में न भटक कर दाल-रोटी खाकर सत्कर्म करने और अपने जीवन के स्वर्णिम सांसों को प्रभु-भजन में लगाने में ही उनका हित है—भला है और इसीमें जीवन का सच्चा सुख है।

शिकार

मांसाहार के सम्बन्ध में मेरी लेखनी में अपने तुच्छ अध्ययन के अनुसार काफी लिख दिया है। अब मैं दो शब्द शिकारियों के लिये भी कहना चाहता हूं, क्योंकि जैन-धर्म में शिकार को भी कुव्यसन की सूची में ही रखा गया है और मांसाहार के साथ इनका अभिन्न सम्बन्ध है।

प्रायः मांस की आसक्ति ही मनुष्य को शिकार के लिए प्रेरित करती है। कुछ लोग मनोरञ्जन के लिए भी पशु-पक्षियों का शिकार खेलते हैं, किन्तु ये सब कुप्रवृत्तियां मनुष्य के कुसंग, अधर्म तथा उसके अज्ञान के कारण ही उसके जोवन में आती हैं। यदि मनुष्य में ज़रा भी विवेक हो तो वह समझ सकता है कि एक चींटी से लेकर हाथी तक जीवन सबको प्रिय है। भगवान महावीर ने कहा है कि—

सव्वे जीवा इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जिसके मन में जीवन का इतना मात्र विवेक जागृत हो जाए क्या वह कभी निर्बल असहाय तथा मूक पशु-पक्षियों पर बाण या गोलियां बरसा कर कभी अपनी झूठी वीरता तथा मिथ्या शौर्य का प्रदर्शन कर सकता है? कभी नहीं। रण-भूमि में यदि शत्रु मुंह में तृण लेकर सामने आ जाये तो वीर योद्धा उस पर वार नहीं करते, क्योंकि वह शरणागत समझा जाता है, तो फिर ये पशु-पक्षी तथा मृग आदि तो सदा ही तृण खाकर अपना गुजारा करते हैं, इनके मुंह में तो सदा ही तृण रहता है, फिर इन पर ये बाणों के प्रहार क्यों? ये सब प्रकृति का सौंदर्य हैं, मनुष्य का ये कुछ बिगाड़ते भी नहीं हैं, बल्कि किन्हीं बातों में ये मनुष्य का भला ही करते हैं। अपना आहार प्रकृति के प्राङ्गण में से ढूंढ़ कर ही अपना उदर भर लेते हैं बेचारे। फिर मनुष्य के लिए प्रकृति के इस अनुपम सौंदर्य को नष्ट करना एक बड़ा गुनाह है। एक शायर ने इस पर कितना अच्छा कहा है कि—

कुदरत के सब खिलौने हैं, इनको मिटा न तू।
हाथ से और जुबान से, इनको सता न तू।

भारत जैसे देश में मांसाहार, शिकार तथा अंडा एवं मछली आदि का बढ़ता हुआ प्रचार धार्मिक जगत के लिए अत्यन्त शोचनीय है और उससे अधिक चिन्तनीय है स्कूल के पाठ्य-क्रमों में इसको प्रेरणा धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में यह धार्मिक जगत के साथ सरासर अन्याय है।

शराब और उसके दुष्परिणाम

मैंने ऊपर जूआ, मांस तथा शिकार, इन तीन कुव्यसनों के विनाशकारी प्रभावों पर अपने कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं, एक दृष्टि से यहीं अनेक दृष्टि बिन्दुओं से इस पर चिन्तन देने का मैंने प्रयत्न किया है। अभी कुछ अन्य कुव्यसनों पर विचार करना शेष है। उन पर भी कुछ सोचना है कि वे सब मनुष्य के नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को किस सीमा तक प्रभावित कर के उसे पावन से पतित बना देते हैं।

किसी भी गन्दी आदत का जीवन में आ जाना जितना सुगम होता है, उतना उसके चक्कर से मुक्त होना सरल नहीं होता। मनुष्य समझता है कि उसका कुछ समय और प्रयोग कर छोड़ दूंगा, किन्तु वह व्यसन निर्बल से बलवान् होता जाता है, जैसे कोई व्यक्ति पुनः-पुनः काम करने से उस काम में कुशल बन जाता है, ठीक इसी तरह मनुष्य का यह मन तथा उसकी चञ्चल इन्द्रियां एक व्यसन को बार-बार सेवन करने से उसमें दिन प्रतिदिन प्रवीण होती जाती हैं। जोंक शरीर से लग कर फिर भी छूट जाती है, किन्तु लगे हुए व्यसनों की पकड़ जोंक से कहीं अधिक मजबूत होती है, ये तो क्षय-रोग के कीटाणुओं की तरह मानव-मन के सदाचार को अन्दर से खोखला कर देते हैं। वैसे तो सभी कुव्यसन एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर हैं, फिर भी यह मदिरा-पान का व्यसन सबसे अधिक भयानक है। मैंने द्यूत के सम्बन्ध में कहा था कि यह व्यसनों का राजा है तो यहां यदि यह कह दिया जाए कि 'मदिरा' उस राजा की रानी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जुआरी लोग प्रायः मद्यपायी होते ही हैं। कोई ईश्वर की कृपा से बचा हुआ हो तो अलग बात है। नहीं तो सब के मुंह से बोतल लगी ही रहती है। मांस और मदिरा ये तो जुड़वां भाई-बहन ही हैं। शराब पीने वालों को मांस की लत भी लग जाती है। वह न भी खाना चाहे तो भी उसके साथी उसके मुंह में एक ग्रास तो डाल ही देते हैं। मदिरा मनुष्य की काम-वासना को प्रदीप्त कर के उसे अमि-

यन्त्रित कर देती है, इससे कुलीन घरों के युवकों एवं युवतियों के चरित्र की नींव हिल जाती है और वे निरंकुश हो कर दुराचार के मार्ग पर चल पड़ते हैं। इससे उनके जीवन में पर-स्त्री-संग तथा गणिका-गमन जैसे कुव्यसन धीरे-धीरे अपना स्थान बना लेते हैं। कुछ ही समय में बड़े-बड़े अच्छे सेठ-साहूकारों के लड़के इन कुव्यसनों के चक्रव्यूह में फंस कर कंगाल हो कर भीख मांगने लगते हैं और फिर वे धीरे-धीरे चोरी जैसे अनैतिक अपराध करने लग जाते हैं। जीवन में एक व्यसन को बुलाना सबको निमन्त्रित करना है। सभी व्यसन परस्पर घनिष्ठ मित्र हैं। जहां एक जाता है वहां ये सभी पहुंच जाते हैं और जहां से एक निकलता है वहां से सब भागने लगते हैं। मद्य-पान एक ऐसा कुव्यसन है जिससे दूसरे व्यसन शीघ्र ही जीवन पर छा कर अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं, क्योंकि इन कुव्यसनों को रहने के लिए अन्धकारमय प्रदेश चाहिए। एक मदिरा ही ऐसी है जो एकदम व्यक्ति के अन्तरङ्ग के ज्ञान, प्रज्ञा तथा विवेक के दीपक बुझा कर उस के जीवन को अन्धकारमयी गुफा बना देती है और ये सब कुव्यसन बड़े आराम से उस अन्धेरी गुफा में जाकर बैठ जाते हैं। ये सब कुव्यसन तो धीरे-धीरे ही व्यक्ति के मन और मस्तिष्क को प्रभावित कर के उसकी जड़ें उखाड़ते हैं, किन्तु मदिरा मुंह को लगते ही तथा गले से नीचे उतरते ही मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देती। उसे देखते ही देखते मानव से दानव बना देती है। जिस मुंह से फूल झरते हैं वही मुंह बाणों का तूणीर बन जाता है। अमृत का कलश विष का घड़ा प्रतीत होने लगता है। स्तम्भ जैसी सीधी मजबूत टांगें हवा में हिलती घास की तरह लड़खड़ाने लगती हैं। मां, बेटी तथा बहन के सामने उसकी लज्जा नंगी हो कर नाचने लगती है। पिता तथा गुरु जनों के सन्मान को क्रोध तथा अविवेक के शस्त्रों से उखाड़-उखाड़ कर फेंकने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता! आप ही सोचिये कि जिस मनुष्य का मन मलिन और मस्तिष्क विकृत होगा उसके जीवन में पाप तथा कलह के अतिरिक्त और क्या बढ़ सकता है? शराब का व्यसन धन का नाश तो करता ही है, साथ में पीने वाले की बुद्धि तथा धन की भी बड़ी

हानि होती है। इस पर एक कितना अच्छा दोहा किसी ने कहा है कि—

अनगुण कहूं शराब का, सुजन जन सुनि लेहि।
मानुस से पशवा करे, द्रव्य गांठ का लेहि॥

बुद्धिमान् लोग शराब के अवगुण समझें। इसे पीने का मतलब है जेब खाली कर के अपने आपको मनुष्य से पशु बनाना।

शराब का तो अर्थ ही शरारत का पानी है। जो इसे पी लेता है उसे व्यर्थ में ही शरारतें सूझने लगती हैं। अंग्रेजी में एक ही वाक्य में इसके सम्बन्ध में सब कुछ ही कह दिया गया है कि

Wine in and wit out

शराब भीतर जाती है तो अक्ल बाहर आ जाती है। पशु और मनुष्य में एक अक्ल का ही तो अन्तर है, जब वह ही बाहर आ जाये तो फिर मनुष्य को पशु क्यों नहीं कहा जाये गा ?

एक गुलाब के फूल को तेजाब से सींचने का जो फल होता है वह ही फल मद्य-पान करने से इस शरीर को भोगना पड़ता है। दूसरे शब्दों में शरीर का स्वास्थ्य एवं सौंदर्य सब नष्ट हो जाता है। शरीर रोगों का घर बन जाता है, आंतड़ियों और फेफड़ों को इससे अत्यन्त हानि होती है, मद्यप किसी न किसी असाध्य रोग का शिकार हो ही जाता है। इसका प्रभाव मनुष्य के मन और बुद्धि पर किस रूप में पड़ता है ? यह तो प्रत्यक्ष ही है। उसके लिए तो कुछ भी कहने के आवश्यकता ही नहीं, किन्तु फिर भी आगम सबके लिए प्रमाणभूत होता है। जरा उसके निकट जा कर देख लें कि इसके सम्बन्ध में उसकी क्या राय है।

भगवान् महावीर ने तो शराब और मांस को बाल-कर्म कहा है, अर्थात् बाल प्राणी ही इसका सेवन करते हैं। जैन-धर्म के उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें मृगापुत्रीय अध्ययन में सुरापान के कटु फल का निर्देशन स्वयं मृगापुत्र के मुख से ही कराया गय

मृगापुत्र की मां अपने प्रिय पुत्र को संयम-मार्ग की कठिनाइयां समझा कर उसे प्रव्रजित होने से रोकना चाहती है। इस दृष्टि से उसने मृगापुत्र के सन्मुख त्याग-पथ पर आनेवाले विविध प्रकार के परीषहों का चित्र खींचा तो मृगापुत्र उसका उत्तर देते हुए अपने किसी विगत जन्म में भोगे हुए नरक के कष्टों का वर्णन करने लगा। इस संदर्भ में उसने अपनी मां से कहा कि "मां! नरक-लोक में शराब पीने वाले लोगों को वहां के यमपुरुष क्या कहते हैं? और उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह मैं तुम्हें बताता हूं। वे कहते हैं—

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पज्जिओ मि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य॥

तुझे सुरा, सीधु, मेरक तथा मधु नाम की (७१) गाथा मदिरा बहुत प्रिय थी न? यह कह कर उन्होंने मुझे अग्नि की तरह लाल-लाल चर्बी तथा रुधिर पिला दिया।

इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि मदिरा-पान यदि आसक्ति के क्षणों में विवेक-हीन होकर किया जाये तो व्यक्ति इस दोष के प्रभाव से नीच कर्म करके नरक-गामी भी बन जाता है।

सुरा, सीधु, मेरक तथा मधु ये सब शराब की जातियां हैं। शराब कोई भी हो उसमें मनुष्य के मन और मस्तिष्क को भ्रमित करनेवाली मादकता तो रहती ही है।

प्रत्येक शराब को सुरा कहा जा सकता है, यह एक प्रकार से मदिरा का पर्यायवाची शब्द ही है, किन्तु शराब के नाम पदार्थ-विशेष से उत्पन्न होने के कारण रखे जाते हैं, जैसे कि तालवृक्ष के रस से बनने वाली शराब को "सीधु" कहते हैं। इसे बिहार में ताड़ी बोलते हैं। बिहार प्रान्त में इसका प्रचलन बहुत है। मेरक वह मदिरा है जो दूध तथा अंगूर जैसे उत्तम फलों के रस से तैयार होती है और मधु महुआ के फूलों से बनती है। यह तो हुई मदिरा के प्रकारों की बात, किन्तु यदि इनके विकारों को देखें तो सभी एक दूसरे से दो पग आगे ही हैं। मच्छर मलेरिया का हो या फाइलेरिया का, जब उसके डंक शरीर

में लगेंगे तो वे शरीर को रोगी बनाएंगे ही। शराब कोई भी हो, है तो जीवन का महादोष ही।

भगवान् बुद्ध ने भी अपनी वाणी में शराब की कड़े शब्दों में भर्त्सना की है, जैसे कि दीर्घ निकाय में कहा है—

> सन्दिट्ठिका धनजानि कलहप्पवड्ढनी रोगाणं आयतनं।
> अकित्ति सञ्जननी कोपीन विधंसनी पञ्जाय दुब्बलिकरणी॥

शराब धन का नाश करती है, कलह को उत्पन्न करती है, यह रोगों का घर है, अपयश को जन्म देती है, लज्जा को नष्ट करती है और बुद्धि को दुर्बल बनाती है। बुद्ध-धर्म ने इस प्रकार शराब को अनेक दोषों की जननी कहा है।

अतीत के लोक में यदि जाकर आप देखें तो आपको मालूम होगा कि इस मदिरा ने आज तक न गरीब का भला किया और न किसी अमीर का या किसी बादशाह का। जहां भी इसकी दृष्टि पड़ी वहीं से यश, कीर्ति, गौरव तथा लक्ष्मी को विदाई लेनी पड़ी। बड़े-बड़े साम्राज्य इन लाल-पीली बोतलों के पानी में बह चुके हैं। शराबी लोगों के घर की सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। वे अपने परिवार पर अपना नियन्त्रण खो बैठते हैं। उनकी सन्तान भी उनका अनुकरण करके व्यसनी बन जाती है। घर में उनका कोई भी शासन नहीं रहता, व्यापार भी ऐसे लोगों का चौपट हो जाता है। उनके यार दोस्त भी खाने-पीने वाले ही उनके पीछे लग जाते हैं जो जोंक की तरह उनको चूसते रहते हैं। एक आदर्श गृहस्थ जीवन के लिए यह शराब बहुत बड़ा कलंक है। ऐसे लोग अपने घर में ही अपना सन्मान खो बैठते हैं। तो फिर अड़ोस-पड़ोस के लोगों की दृष्टि में उनका सन्मान कैसे रह सकता है? वे लोग भी शराबियों को मुंह लगाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि वे भी समझने लगते हैं कि इनके अधिक संसर्ग से हमारे जीवन में भी वही दोष कहीं न आ जायें। यदि एक मिन्ट के लिए यह भी मान लिया जाय कि उनके पास बैठने-उठने से हम अप्रभावित ही रहेंगे तो भी शराब की बोतलों में रखी हुई दूध की बोतल भी शराब की ही

बोतल समझी जाएगी, ठीक इसी तरह दुनिया के लोग शराबी के पास बैठने वाले को भी वैसा ही समझने लगेंगे और फिर बच्चे तो इतने समझदार नहीं होते। संग-दोष का उन पर प्रभाव तो कभी भी हो सकता है। इसलिये शराबी से उसके आस-पास के लोग भी कोसों दूर ही रहते हैं।

यह तो बात हुई एक साधारण जन-जीवन की। अब बात आती है राज-कुलों की। भारत में राजाओं का युग अब समाप्त हो गया है। दुनिया के अन्य कई भागों में अभी हैं भी शाह तथा शहनशाह। कुछ राजा लोग भी अवश्य ऐसे हुए हैं जो सुरा तथा सुन्दरी का स्पर्श तक भी नहीं करते थे। महाराजा रणजीत सिंह, महाराजा छत्रसाल, छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप ऐसे ही प्रजा-वत्सल धर्मनिष्ठ तथा प्रभु-भक्त आदर्श राजा थे, किन्तु बहुत से राजा ऐसे भी हुए हैं जो दिन-रात सुरा के सागर में ही डूबे रहते थे। उन्हें अपनी प्रजा के दुख-दर्द का कुछ भी पता नहीं रहता था। उनके आस-पास के चाटुकार लोग उनकी झूठी प्रशंसा करके उनको ठगते थे। कभी-कभी वे उस राजा को अपदस्थ करके स्वयं शासन सम्भाल लेते थे या कभी कोई अन्य राजा उस पर आक्रमण करके उसे भगा देता और उसके राज-पाट का मालिक बन बैठता। जो सुरा और सुन्दरी के गुलाम बन जाते हैं वे कभी स्वामी बन कर नहीं रह सकते। वे तो वास्तव में गुलामों के भी गुलाम हो जाते हैं। विलासी राजा समय पर अपनी रक्षा नहीं कर सकते, फिर प्रजा उनसे अपनी रक्षा की आशा कैसे कर सकती है? विलास शौर्य का वह कीड़ा है जो उसे घुण की तरह खा कर अन्दर से खोखला कर देता है। सुरा को विलासिता का बीज कहा जा सकता है। जहां यह बीज होगा वहां से दुराचार के अंकुर तो निकलेंगे ही।

इतिहास साक्षी है कि यदुवंश के विनाश के तीन ही कारण थे और वे थे मांस, मदिरा और व्यभिचार। शराब में उन्मत्त होकर ही यदुवंशियों ने ऋषियों का अपमान किया था और उस अपमान का फल यदुवंश के सम्पूर्ण विनाश के रूप उन्हें भोगना पड़ा।

आपको मालूम होना चाहिये कि महात्मा गान्धी जब विदेश जाने

लगे थे तो उनकी मां उन्हें एक जैन मुनि के पास ले गई थी। उन्होंने गान्धी जी से कहा था कि "मनुष्य इस धरती पर कहीं भी रहे, यदि वह कभी भी धर्म को न भूले, फिर उसे कोई दुःख नहीं हो सकता। वैसे सुख-दुख अपने कृत-कर्म का भोग हैं, किन्तु धर्मी पुरुष उन सब पर विजय पा लेता है। दुखों के कांटे भी उसके लिए सुन्दर फूल बन जाते हैं। व्यक्ति किसी भी इष्ट को माने और कोई भी मन्त्र पढ़े, किन्तु जीवन के शुद्धाचार के तीन मौलिक सूत्र सदैव स्मरण रखने चाहिये—

मांस कभी न खाये, शराब कभी न पीये, पर-स्त्री-गमन से सदैव दूर रहे।

गांधी जी ने ये तीनों प्रतिज्ञाएं हृदय से ग्रहण कीं। विदेश की धरती पर जा कर भी उन्होंने इन नियमों का दृढ़ता से पालन किया। फलस्वरूप एक दिन वे इस देश के केवल बापू ही नहीं, बल्कि एक महान् पुरुष बन गये।

बड़े दुख की बात है कि भारत के लोग अपनी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। धर्म दिखावे के रूप में नजर आता है, किन्तु आचरण से वह विलुप्त होता जारहा है। शिक्षा से मनुष्य की बुद्धि बढ़ी है, किन्तु आचरण का तेज फीका हुआ है। केवल उसकी आज की शिक्षा से बाहर की दुनिया की जानकारी बढ़ी है, किन्तु आत्म-बोध की आभा मन्द हो गई है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह भौतिकवादी बन कर चलने में अपनी शान समझता है। शराब उसके जीवन का शौक बन गया है, अशिक्षित व्यक्ति तो अज्ञान के अन्धकार में भटकता है और उनके सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि यदि वे कुछ विद्या-सम्पन्न होते तो शायद वे अपने जीवन के हिताहित को समझ सकते, किन्तु मैं तो यह देख रहा हूं कि बहुत से शिक्षित लोगों का हाल उनसे भी बुरा है। पढ़ लिख कर भी वे अपने भले-बुरे को नहीं जानते। वे शिक्षा का दीप हाथ में लेकर भी ठोकरें खा रहे हैं। शराब को वे शराब नहीं कहते, वे तो उनके लिए संदल के शरबत से बढ़ कर है। दही की लस्सी, छाछ तथा फलों के रस ये सब तो शराब के सामने उनको फीके लगने लगते हैं। जैसे लोग कहते हैं कि हाथी के पांव में

सबके पांव सभा जाते हैं, ऐसे ही शराबी कहता है कि दुनिया के सब रस एक सुरा के रस में ही आ जाते हैं।

पहले ज़माने के लोग कहते थे कि 'भोजनान्ते पिवेत् तक्रम्' अर्थात् भोजन के बाद छाछ पीना लाभदायक होता है और अब आज के युवक कहने लगे हैं—"वाह ! छाछ पीने में क्या मज़ा है, अब तो नया युग आ गया है। ये सब बातें पुराने जमाने की बातें हैं। आज इनमें कुछ भी सार नहीं रहा। हर नये युग का नया नियम होता है। इस युग का नियम अब यह है कि भोजनान्ते पिवेत् सुराम्—भोजन के बाद शराब पिओ। जिसे हम कलिकाल कहते हैं उसकी पहली निशानी यही है कि कलि-काल के लोगों का चिन्तन, सम्भाषण तथा आचरण सब विपरीत हो कर पापमय हो जाता है।

बड़े ही दुख की बात है कि श्री राम, श्री कृष्ण तथा महावीर जी के देश के लोग माखन छोड़ कर मांस खाने लगे हैं और शरबत छोड़कर शराब पीने लगे हैं। जिन्हें किसी कारण से अपने घर में स्वतन्त्रता से यह सब खाने-पीने का अवसर नहीं मिलता, वे होटलों में जाकर मन-चाहे ढंग से खूब जी भर कर खाते हैं और पीते हैं। होटलों में बैठ कर वे अपने आपको निर्भय समझने लगते हैं और यह भी समझते हैं कि यहां कौन देखने आता है ?

वास्तव में बाहर के प्रतिबन्ध तथा भय ऐसे लोगों के सामने तो सूत के कच्चे धागों की तरह ही हैं। जो बड़ों की आज्ञा, कुल की मर्यादा तथा लोक-लज्जा का जीवन में कुछ भी मूल्य नहीं समझते वे लोग आज्ञा को पराधीनता, मर्यादा के बन्धन तथा लज्जा को अपने जीवन का दौर्बल्य कहते हैं। जिन लोगों को अपनी आत्मा का तथा उस भगवान का तथा अपने पाप-कर्म का भय है उनके लिए तो किसी बाहरी नियन्त्रण की ज़रूरत ही नहीं। वे इस धरती पर कहीं भी रहें और कैसे भी लोगों में रहें, वे तो गङ्गा के पानी की तरह सदैव पवित्र ही रहते हैं। उन्हें कोई अपनी बातों के प्रभाव में लेकर अपने व्यवहारों तथा आचारों से दूषित करना चाहे तो कदापि नहीं कर सकता। जिस

को अपनी नीयत खराब है उसके आगे प्रतिबन्ध क्या करेगा ? वह अपनी वासना की पूर्ति का कोई न कोई मार्ग ढूंढ ही लेता है। मनुष्य का संकल्प सर्वत्र बलवान् रहता है। वह जब अवरोध से टकराता है तो वह अवरोध ढह जाता है और मनुष्य का विचार, वह भद्र हो या कि अभद्र वह विजयी होकर आगे बढ़ जाता है।

सदाचार इस धरती का सबसे बड़ा नैसर्गिक विधान है जो मन-वाणी तथा शरीर से सदाचार के नियमों का श्रद्धा एवं निष्ठा से पालन करता है उसके लिए किसी भी प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं रहती। मनुष्य द्वारा जब सदाचार के नियमों का विखण्डन होता है तो फिर उसकी रक्षा के लिए कानून सामने आता है।

मेरा ख़याल है कि कई राज्यों की ओर से शराब-बन्दी का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। देश में इसका प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ता हो जा रहा है। छोटे से छोटे गांवों में भी इसकी एकाध दुकान मिल ही जाती है और फिर अवैध ढंग से भी यह धन्धा काफी चलता है। आवश्यकता है मानव-समाज की सदाचार में निष्ठा बनाने की। विवाह जैसे शुभ अवसरों पर इसका प्रयोग खुले आम होने लगा है। शराब के नशे में धुत्त कुछ सिर-फिरे युवक अश्लील वचन बोल-बोल कर केवल नाचते ही नहीं, बल्कि निर्लज्जता का घिनौना प्रदर्शन भी करते हैं। पुराने बूढ़े लोग यदि कहीं उनको रोक बैठें तो वे युवा लोग उनकी पगड़ियां उछालने में भी पीछे नहीं रहते। वधू पक्ष वाले बारातियों की इन हरकतों को यदि बुरा भी समझते हों तो वे विचारे कुछ बोल नहीं सकते। अपने दिल को पत्थर बना कर ही वे खड़े रह जाते हैं। क्या करें ? वे डरते हैं कि कहीं रंग में भंग न पड़ जाये और कोई ऐसा उपद्रव न खड़ा हो जाये, जिससे लड़की द्वार पर ही बैठी रह जाये। यह सब विवशताएं उन्हें सहनशील बना कर रखती हैं।

समाचार पत्रों में कई बार ऐसे समाचार भी आए हैं कि बाराती लोग शराब पीकर लड़की वालों के घर में उपद्रव करने लगे। उनकी

कमीनी हरकतों को देख कर लड़की ने शादी करने से इन्कार कर दिया और बारात को बैरंग वापिस आना पड़ा।

किन्तु देखना यह है कि इस प्रकार के साहसिक कदम उठाने वाली बहनें कितनी हैं और वे परिवार कितने हैं? बहुत कम। आजकल अक्सर प्रायः वर तथा वधू पक्ष में इसके सम्बन्ध में पहले से ही बात-चीत हो जाती है और लड़की वाले इन काली-पीली नशीली बोतलों का प्रबन्ध करके रखते हैं। लोग पहले सोडा वाटर पीते थे, आजकल उसका स्थान इन शरारती बोतलों ने ले लिया है।

अब बारातियों के खाने-पीने का प्रबन्ध प्रायः होटलों में होने लगा है, वहां तो शराब का दौर और भी जोरों से चलता है। जैन लोग भी ज़माने की इस हवा से अछूते नहीं रहे। जिसके शास्त्र कंद-मूल के खाने में भी पाप मानते हैं वे ही कुछ लोग आज मांस खाने में भी कोई पाप नहीं समझते। जिस धर्म में बिना छाना पानी पीने में भी पाप कहा गया है, आज उस धर्म को मानने वाले कई युवा शराब पीने में भी कोई दोष नहीं समझते। क्या जैन समाज के लिए यह दुःख एवं लज्जा की बात नहीं है?

कुछ महानुभाव कहते हैं कि महाराज! सभा-सोसायटी में बैठ कर अपने मन के विरुद्ध भी कभी कुछ करना पड़ता है। क्या करें समय के साथ चलने के बगैर काम नहीं चलता। संसार में सब तरह के खेल खेलने पड़ते हैं। जिन लोगों से काम लेना होता है उनके साथ हिल-मिल कर भी रहना पड़ता है।

शायद किसी की दृष्टि में ये सब बातें ठीक हों, किन्तु धर्म-मर्यादा तथा नियम की दृष्टि से यह सब ठीक नहीं लगता। मेरा अपना विश्वास है कि कोई भी सोसायटी किसी को अपने असूलों से कभी नहीं गिरा सकती। यह सब अपने मन की दुर्बलता है—चारित्र की कमज़ोरी है।

दुनिया के बड़े-बड़े लोग सब तरह के लोगों के सम्पर्क में आ कर भी अपनी प्रतिज्ञा तथा गृहीत व्रतों पर पक्के रहे हैं। उनका प्रभाव घटा नहीं, बल्कि बढ़ा ही है और न ही उनको कोई अपने प्रण से

विचलित कर सका है। जो वृक्ष अपनी जड़ों से हिल जाता है उसको तो हवा के हलके झोंके भी धराशायी कर देते हैं। जिनको स्वयं ही अपने पर भरोसा नहीं उनको तो दूसरों की ज़रा सी प्रेरणा तथा उत्तेजना भी अपने पथ से डांवाडोल कर देती है और जिन्हें अपने धर्म और व्रतों पर दृढ़ निष्ठा है वह तूफानों में भी कभी हिलते नहीं।

इस सम्बन्ध में एक प्रसंग लिखना पाठकों के लिए प्रेरक होगा। एक सज्जन ने मुझे अपनी आत्म-कथा सुनाते हुए कहा था कि मेरे एक मुस्लिम दोस्त थे। एक दिन किसी आवश्यक कार्य के लिए उनके पास जाना पड़ा। कुछ लोग और भी वहां बैठे थे। इतने में उसने शराब की एक बोतल मंगवा कर सामने टेबल पर रख दी और मेरी तरफ संबोधन कर के बोला—'दोस्त! तुम मेरे मित्र तो बने, किन्तु अभी सच्चे मित्र नहीं बने, क्योंकि मित्र तो वह होता है जो हम नवाला और हम प्याला हो, आप मेरे साथ कभी खाते नहीं और मेरे साथ पीते नहीं। काहे के दोस्त हुए आप ?

वह बोला कि मैंने इसके उत्तर में कहा कि मैंने तो दोस्त के बारे में ऐसा सुना है कि दोस्त वह होता है जो मुसीबत में काम आए।

A friend in need is a friend indeed

और मित्र के सम्बन्ध में दूसरी बात यह कही गई है कि वैभव मित्र बनाता है और कष्ट उस मित्र की परख कराता है।

Prosperity makes a friend and adversity tries it.

भगवान न करें कि मुझ पर या आप पर कोई मुसीबत आए, किन्तु फिर भी सुख-दुख जीवन में धूप-छाया की तरह आते-जाते हो रहते हैं। उस समय मेरी भी पहचान हो जाएगी और आपकी मित्रता की भी कसौटी हो जायगी।

वह इतना सुन कर मज़ाक की मुद्रा में बोला—"कब मुसीबत आएगी और कब पहचान होगी। तुम्हारी और हमारी, लो यह बोतल पड़ी है, मैं इसे पीने के लिए नहीं कहता, तुम केवल इसे मुंह लगा कर खोल कर मुझे दे दो तो बस मैं समझूंगा कि तू मेरा वफादार दोस्त है। इसमें तुम्हारा ईमान भी नहीं जायेगा और मेरी बात भी रह जायेगी।"

उस सज्जन ने अपने उस दोस्त को जो जवाब दिया वह सभा-सोसायटी में जा कर अपनी मजबूरी की बात करने वाले सभी सज्जनों के लिए एक प्रेरक आदर्श है। उसने उसको समझाया कि—"यह ठीक है कि इस बोतल को मुंह लगा कर खोलने में विशेष कोई हर्ज नहीं, क्योंकि खोलने का मतलब कोई पीना नहीं होता, किन्तु यदि मैं ने आपके प्रेम में आकर ऐसा कर दिया तो भविष्य में मैं यह नहीं कह सकूंगा कि मैने बोतल को कभी मुंह नहीं लगाया। अभी तो मैं छाती ठोक कर कहता हूं कि मैंने आज तक कभी शराब को न हाथ लगाया है और न कभी इसे मुंह ही लगाया है।

इतना कहते ही उस मुस्लिम दोस्त का सर उसके कदमों में झुक गया। अपनी आखों में अकीदत के आंसू भर कर उसने कहा कि "आप जैसे दोस्त को पाकर मैं फखर समझता हूं।"

जो लोग सोसायटी की दुहाई दे कर अपनी कमजोरी को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, वे वास्तव में उस व्यसन के स्वयं शिकार होते हैं। नहीं तो कोई किसी का धर्म भ्रष्ट नहीं कर सकता। हां, इतनी बात अवश्य मानी जा सकती है कि धर्मात्मा लोगों को आज घर से बाहर सर्वत्र खाने-पीने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि बहुत से भोजनालयों का वातावरण असात्विक ही रहता है, क्योंकि दुकानदार तो वह ही माल अधिक रखेगा जिसकी मार्कीट में मांग अधिक होगी। असात्विकता यह सिद्ध करती है कि देश में मांस और शराब का व्यवहार अत्यधिक बढ़ गया है और यदि इस दुष्प्रवृत्ति को संगठित होकर न रोका गया तो देश की दशा इससे भी अधिक दयनीय एवं शोचनीय हो सकती है, क्योंकि भारत दूसरे देशों की तरह भौतिकतावादी देश नहीं है, यह अध्यात्मवादी देश है। मांस और शराब के प्रचार का बढ़ जाना इस देश के अध्यात्मवाद के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। इस बढ़ते हुए प्रवाह को रोकने के लिए हम कैसे सफल हो सकते हैं? इस विषय पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाये तो कोई गलत नहीं होगा।

(१) बात तो मैं पहले भी लिख चुका हूं कि प्रत्येक राज्य की ओर

से राज्य भर में पूरे तौर पर नशाबन्दी होनी चाहिये और उसका कठोरता से पालन भी करवाया जाना चाहिये। इसके लिए सबसे पहले ऊपर से लेकर नीचे तक सबको आपको तैयार करना होगा तभी इस दिशा में कुछ अच्छे एवं संतोष-जनक परिणामों की आशा हो सकती है।

(२) डाक्टर लोग भी इस दिशा में काफी सहायक हो सकते हैं, यदि वैद्य तथा डाक्टर अपने रोगियों को सलाह दें कि शराब पीने से रोग बढ़ते हैं, इसे छोड़ देने से आप जल्दी स्वस्थ हो सकते हैं, तो मेरा ख्याल है कि इस प्रकार डाक्टर लोग अपने देश के चरित्र-निर्माण में महत्वपूर्ण काम कर सकते हैं।

(३) स्कूलों में यदि बालक तथा बालिकाओं को आरम्भ से ही शराब की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सामाजिक हानियों के सम्बन्ध में सावधान कर दिया जाये तो वे बड़े होकर कभी इसको हाथ न लगायेंगे। शिक्षा का उद्देश्य केवल दुनिया भर के ज्ञान को मस्तिष्क में ठसाठस भरना ही नहीं है, बल्कि इसका वास्तविक लक्ष्य तो छात्र तथा छात्राओं के चरित्र का निर्माण करना है। अध्यापक लोग यदि इस ओर ध्यान दें तो इस शराब के कुव्यसन को जड़मूल से ही नष्ट किया जा सकता है।

अब आती है बात सन्त-साध्वियों द्वारा शिक्षा तथा उपदेश और मार्ग-दर्शन की। देश के चरित्र-निर्माण का दायित्व साधु-सन्तों पर भी कम नहीं है।

उनके उपदेश इस दिशा में सर्वाधिक लाभदायक तथा उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। संसार में चाहे कितना भी भौतिकवाद बढ़ गया है, किन्तु भारत की जनता में अभी भी साधु-सन्तों पर श्रद्धा है और वे उनके वाक्य को ब्रह्म-वाक्य समझ कर शिरोधार्य करते हैं। यदि भारत का साधु-समाज स्वयं को तप और त्याग में स्थिर करके और लोभ और प्रलोभनों से ऊपर उठकर निष्काम भावना से जन-मन का मार्ग-दर्शन करे तो निश्चित रूप से मांस और शराब जैसे कुव्यसनों का मूलोच्छेदन हो सकता है और यह हमारा देश फिर स्वर्ग का नन्दन-वन बन सकता है।

पर-स्त्री-लम्पटता : गणिका-गमन चौर्य



शराव की वुराइयों पर तथा उसकी रोक-थाम के उपायों पर अपने विचार लिख कर अब मैं अन्य शेष कुव्यसनों के सम्बन्ध में कुछ लिखना उचित समझता हूं।

विद्वानों ने कहा है कि ईंधन जैसे अग्नि को भड़काता है वैसे ही शराब इन्द्रियों के विषयों को उत्तेजित करती है। मनुष्य की इन्द्रियां तो स्वभाव से ही चञ्चल हैं। यौवन के झूले में बैठी हुई वे इधर-उधर हिचकोले खाती ही रहती हैं। ऊपर से फिर शराब का प्याला मिल जाए तो फिर उनकी उच्छृङ्खलता की क्या सीमा हो सकती है? एक तो बन्दर स्वभाव से ही चंचल होता है और यदि ऊपर से उसे मदिरा पिला दी जाये फिर तो कुशल मदारी की रस्सी भी उसको एक मिनिट के लिए कावू नहीं रख सकती। ऐसा बन्दर तो कभी-कभी मदारी पर ही हावी हो जाता है!

इन्द्रियों का अधिक चाञ्चल्य व्यक्ति को विषयों की दलदल में फंसा देता है। जीवन का यह दोष कुछ अनैतिक अवाञ्छनीय सम्बन्धों को जीवन में लाकर उसके गृहस्थ जीवन की पवित्रता को नष्ट कर देता है।

जिसे हम विवाह कहते हैं, वह एक तरह से गृहस्थ-जीवन में वासना का सन्तोष बिन्दु है। इस संसार में विषय का विकार जिसे जैन धर्म ने 'वेद' कहा है वह मोहनीय कर्म का विकार है। जो प्रत्येक स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक में रहता है। जैन धर्म में उसका स्त्री - वेद, पुरुष-वेद, तथा नपुंसक-वेद के नाम से वर्णन हुआ है। स्त्री के मन में पुरुष की इच्छा स्त्री-वेद है और पुरुष के मन में उठी स्त्री-समागम की अभिलाषा को पुरुष-वेद कहा जाता है।

नपुंसक वेद यह स्त्री तथा पुरुष दोनों के प्रति आसक्ति रखता है। जैन-धर्म ने इन्हें कषाय संज्ञा तो नहीं दी, किन्तु इन्हें कषाय कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि ये कषायों के सहचारी भाव हैं। कषायों तथा इनका अविना - भाव सम्बन्ध रहता है। कभी-कभी ये कषायों को इतना उत्तेजित कर देते हैं कि बड़े-बड़े साम्राज्य इस वासना की आग में जल कर राख बन जाते हैं। काम इस सारी सृष्टि का मूल है। दुनिया के एक साधारण व्यक्ति से लेकर संसार के महापुरुष कहलाने वाले महापुरुषों में भी इसका वास होता है, किन्तु वे ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा इस काम-वासना का दमन कर के अपने उस तेज के बल से ऊर्ध्व-गमन करते हैं। उसीसे उनको अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है। धीरे-धीरे यही ऊर्ध्व-गमन उन्हें परमात्मा से मिला देता है। साधारण मनुष्य इस काम के वशीभूत होकर नर से नारायण बनने की बजाय मानव से दानव बन जाता है। जैन धर्म ने आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह इन चार संज्ञाओं से मनुष्य में मैथुन संज्ञा की अधिकता बताई है। उसने यह स्पष्ट किया है कि पशुओं में दूसरों जीवों की अपेक्षा आहार-संज्ञा का आधिक्य रहता है। नारकीयों में भय बहुत पाया जाता है, क्योंकि शास्त्रों के कथन के अनुसार नरक में वेदना उत्कट एवं बड़ी ही भीषण होती है। वहां के दृश्य बड़े ही भयानक होते हैं।

यम-पुरुषों के अपने रूप भी बड़े डरावने होते हैं, इसलिए वहां के नारकी जीव सदा ही भयाक्रान्त रहते हैं। एक क्षण के लिए भी उन्हें भय से त्राण नहीं मिलता। परिग्रह-संज्ञा देवों में अधिक होती है और मनुष्य में सबसे अधिक रहती है मैथुन-संज्ञा। स्त्री में पुरुष की अभिलाषा और पुरुष के मन में स्त्री की अभिलाषा को वेद कहा गया है। यह दूसरे अर्थों में संज्ञा है, इन दोनों अभिलाषाओं का संगम ही मैथुन है। मनुष्य के चित्त में रहने वाला काम इस मैथुन का मूल है। मनुष्य का अर्थ है मनुष्य जाति अतः उपलक्षण से स्त्री तथा नपुंसक भी ग्रहण हो जाते हैं। मैथुन की भूमिका पर आने से पहले मनुष्य अपना जीवन कितनी ही विकृत स्थितियों से गुजारता है। विद्वानों ने उसका एक स्पष्ट

चित्रण इसलिए प्रस्तुत किया है ताकि मनुष्य पतन के गर्त्त में गिरने से पहले अपने चित्त की अवस्थाओं का अवलोकन कर के अपने आपको सम्भाल सके। यह विश्लेशण बड़ा ही वैज्ञानिक है। प्रत्येक व्यक्ति उस दर्पण में अपने मन के विकारों की परछाई देख कर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है। जैसे कि कहा है—

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्य-भाषणम्
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया-निष्पत्तिरेवच।

जिनके स्मृति लोक में सुन्दर स्त्रियों के चित्र सदैव उतरते रहते हैं, जिनकी वाणी उनकी रूप-प्रशंसा के गीत गाने में व्यस्त रहती है। स्त्रियों के साथ क्रीड़ाएं करने में जिन्हें कभी संकोच नहीं होता, जो कामुक नेत्रों से स्त्रियों को निहारते रहते हैं, एकान्त में जिनका प्रेमालाप भी चलता रहता है, जो अपने मन में संयोग का निश्चय कर लेते हैं, वे फिर उस अध्यवसाय से प्रेरित हो उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परिणाम स्वरूप वे मैथुन की भूमिका पर पहुंच कर ब्रह्मचर्य से स्खलित हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य योगियों का एक महाव्रत है। इस व्रत का पालन प्रत्येक व्यक्ति के वश का काम नहीं है। यह सृष्टि जीव और प्रकृति का एक परिणाम है, यह सत्य है, किन्तु यह भी असत्य नहीं है कि धर्म की मर्यादा के बिना यह काम नरक का ही द्वार है।

दुनिया में दुःख, कलेश तथा सब तरह की अशान्ति का यह मूल है। गीता में—

त्रिविधं नरकस्येदम् द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मात् एतद् त्रयं त्यजेत्॥

नरक के तीन ही द्वार हैं अर्जुन! काम, क्रोध और लोभ, ये तीनों आत्मा के शाश्वत स्वरूप का हनन करते हैं, इसलिए इन तीनों को छोड़ देना ही उचित है।

गीता में इन तीनों को रजोगुण का ही परिणाम कहा गया है। इस

काम का मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर शासन संसार के विनाश की लाल झंडी है।

शास्त्रकारों ने इस दुर्जेय काम को वश में करना एक दुस्तर सागर को भुजाओं से तैरने के समान कहा है। यह कार्य संसार का कोई महर्षि ही कर सकता है, बाकी तो इसके एक ही वार से घायल हो कर बेभान हो जाते हैं।

गृहस्थ जीवन में काम का त्याग नहीं, बल्कि काम की मर्यादा होती है। मर्यादा इस दुनिया के सुख और शान्ति का सबसे बड़ा विधान है। यह सारी प्रकृति मर्यादा पर ही खड़ी है।

साधु काम-त्याग का व्रत लेता है और गृहस्थी काम की मर्यादा करता है, क्योंकि सम्पूर्ण काम-विजय उसके लिए दुष्कर है। उस दुष्कर को सुकर बनाने के लिए इसमें एक मर्यादा की रेखा खींची गई है, जिसे हम गृहस्थ आश्रम कहते हैं। मनुष्य यदि पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सके तो वह एक सद्-गृहस्थ तो बन कर रहे। एक सद् गृहस्थ बनने के लिए कितने ही धार्मिक एवं नैतिक गुणों की अपेक्षा रहती है, किन्तु उसके गृहस्थाचार का सबसे आवश्यक पक्ष है स्व-स्त्री में संतोष रखते हुए पर-स्त्री का सर्वदा त्याग करना। अपने जीवन में "मातृवत् परदारेषु" की भावना को सदैव परिपुष्ट बना कर रखना। संसार की प्रत्येक स्त्री को अपनी माता, बहन तथा पुत्री के समान देखना, यह गृहस्थ का ब्रह्मचर्य व्रत है। यह जीवन की शोभा है—शान्ति और यश का भण्डार है। ऐसा व्यक्ति सारे संसार का पूज्य बन जाता है। सारी दुनिया के गृह-द्वार उसके लिए सदैव खुले रहते हैं और उस के घर का द्वार भी सबके लिए अभय का द्वार बन जाता है।

सदाचार जीवन का सच्चा शृंगार है। जो लोग इस व्रत की महिमा और गरिमा को समझते हैं, वे कभी अनाचार के निकट नहीं जाते। वे जानते हैं कि दुराचार अपयश का मूल तो है ही यह रोगों का घर भी है। इससे लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी।

शास्त्रों ने जीवन और जगत् को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य के जीवन में पुरुषों के लिए "एक स्त्री सन्तोष व्रत" तथा स्त्री के लिए "एक पति सन्तोष व्रत" की मर्यादा की प्राचीर बना दी है। काम वह आग है जो सीमा से बढ़ कर अतिकाम का रूप ले लेता है। उससे कभी-कभी अपने घर तो जलते ही हैं और वही आग दुराचार के रूप में दूसरों के घरों में पहुंच कर उन्हें भी जला कर राख कर देती है, दुराचारी मनुष्य की आंखों में सदैव अपवित्रता ही रहती है। वह गङ्गा - स्नान करके तथा मन्दिर में भगवान का दर्शन करके भी मलिन का मलिन ही बना रहता है। शायद इसीलिए किसी विद्वान् ने कहा है कि—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" अर्थात् चरित्रहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। ऐसे लोग धर्म-स्थानों में जाकर भी अपने आंखों के बाणों से रूप और सौन्दर्य का शिकार ही खेलते रहते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में राजुल और रथनेमि के संवाद में राजमती ने उस तपस्वी की कड़े शब्दों में भर्त्सना करते हुए कहा था—

"हे अपयश के कामी ! तुम्हें धिक्कार है, जो तू वमन किये हुए को पुनः खाना चाहता है। यदि तेरे मन की यही दशा रही तो तू उस जड़ों से हिले वृक्ष की तरह हो जायेगा जो साधारण सी हवा के झोंकों में भी डावाँडोल हो जाता है। इस तरह तू जिस-जिस भी स्त्री को देखेगा तेरा यह मन काम की आंधियों से विचलित हो जायेगा। तू कहीं भी स्थिर होकर शान्ति नहीं पा सकेगा।

जो मनुष्य अपनी चीज़ पर सन्तुष्ट नहीं होता वह ही दूसरों की चीजों पर नजर डालता है। उस लालसा का परिणाम यह होता है कि मनुष्य लोभान्ध होकर अपना विवेक खो बैठता है और दूसरों की वस्तुओं पर स्वामित्व जमाने के लिये अनधिकार चेष्टाएं करने लगता है। कभी-कभी उन्हें बलात् हथियाने का प्रयत्न करता है और कभी तो उसका लोभ इतना चरम सीमा पर पहुंच जाता है कि वह उनके अपहरण करने का भी दुस्साहस कर बैठता है।

जीवन की यही स्थिति कामी व्यक्ति की भी रहती है। जब

उसे अपने घर में सन्तोष नहीं होता तो वह आस-पास हाथ फैलाता है, किन्तु इधर-उधर भटकने से भी क्या होता है ? इससे उसका असन्तोष और अधिक बढ़ता है और वह अपने चारों ओर के वातावरण को बिगाड़ देता है।

जब पुरुष का अनुराग अपनी पत्नी के प्रति कम होता है तो पत्नी के मन में भी अपने पति के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि वह अपने पति के दुराचार को सहन करती है तो इससे उसे और बढ़ावा मिलता है। यदि वह रोष प्रकट करती है तो फिर घर में क्लेश होता है। इससे घर की शान्ति तो भंग होती ही है, लोगों में भी निन्दा की दुर्गन्ध बिखरती है, जिससे कुल का गौरव क्षतिग्रस्त हो जाता है। इसी तरह धीरे-धीरे गृहस्थ-जीवन में कटुता अन्दर ही अन्दर बढ़ती रहती है। जीवन के अभिन्न साथी एक दूसरे से बहुत दूर चले जाते हैं। जब पुरुष का मन किसी रूप-केन्द्र में उलझ जाता है तो फिर स्त्री का मन भी कहीं अन्यत्र उलझने लगता है। जिस मन पर उसका अधिकार होने लगता है, उस मन पर विवाह के समय से ही जो अधिकार बना हुआ है उस अधिकार का हनन होने से एक ओर जीवन तड़प उठता है। इस तरह एक और परिवार गृह-क्लेश की ज्वालाओं में जलने लगता है।

कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस प्रकार दुराचार के कारण कितने ही कुलों का गौरव वासना की आग में जल कर भस्मीभूत हो जाता है। ऐसे दुराचार के कीड़े अपने ही घरों में कुसंस्कारों के ऐसे कटु बीज बो देते हैं कि वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं। इस प्रकार अच्छे-अच्छे कुलों की कुलीनता जाती रहती है। लोगों के दिलों में उनका सन्मान घट जाता है। लब्ध-प्रतिष्ठ लोग उनके पास बैठने और उनसे सम्पर्क रखने में भी संकोच करने लगते हैं। जिस जीवन की समाज में गरिमा गिर जाए वह जीवन निर्गन्ध किंशुक की तरह कहीं भी आदर नहीं पाता।

भारत के ऋषियों ने ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की तरह गृहस्थ को भी एक आश्रम ही कहा है। आश्रम का भाव काफी

ऊंचा है। जहां अपने मन तथा इन्द्रियों को संयम-पूर्वक कर्त्तव्य-पथ पर चल कर मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है उसे आश्रम कहा जाता है। मनु ऋषि ने गृहस्थ-आश्रम को किसी दृष्टि से अन्य आश्रमों की अपेक्षा महान् कहा है। उन्होंने कहा कि जैसे सब नदियां घूम फिर कर समुद्र में जाती हैं, इसी तरह सभी आश्रमों के लोग अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए गृहस्थ के द्वार पर जाकर खड़े होते हैं।

जिस गृहस्थ के जीवन में धर्म-नीति, न्याय, त्याग, सन्तोष तथा सदाचार के भाव जितने अधिक होंगे उसका आदर्श उतना ही ज्यादा उज्ज्वल होगा। वह सच्चे एवं खरे रूप में दूसरों के लिए सहायक बन सकेगा। जिस घर में जीवन के सद्गुणों के फूल नहीं खिलते वहां कलह तथा अशान्ति के कांटों के सिवाय और क्या मिल सकता है? ऐसे गृहस्थों का अन्न खा कर वानप्रस्थ तथा संन्यास जैसे आश्रम-वासियों की संयम-वृद्धि भी कैसे हो सकती है? ऐसे लोगों के घरों में जाकर तो आत्मा के उन साधकों को अपने पथ से भ्रष्ट होने का सदा भय ही बना रहता है।

साधु-सन्तों के उपदेश भी प्रायः वासना-ग्रस्त हृदयों पर बे-असर होते हैं, क्योंकि सब जानते हैं कि काले रंग पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। जैन-धर्म ने गृहस्थ आश्रम को अपने चतुर्विध तीर्थ में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। साधु और साध्वी की तरह श्रावक-श्राविका भी तीर्थ हैं। भगवान ने कहा है कि यदि गृहस्थ अपनी मर्यादा में रहे और सदाचार के नियमों का सम्यक् परिपालन करे तो वह भी संसार-सागर से तर सकता है और दूसरों को तार भी सकता है। विपरीत इसके यदि वह सदाचार से भ्रष्ट हो जाए तो वह स्वयं डूब जाता है और दूसरों को भी डुबो देता है।

पाश्चात्य जगत् की तरह भारत का गृहस्थ जीवन कोई विषय-वासना का सौदा नहीं है, जो केवल क्षणिक वैषयिक सुख से प्रेरित हो कर किया जाता है। भारत की दृष्टि में विवाह वासना का संक्षेपीकरण है। इसमें विषयोपभोग के अन्तरंग में सन्तोष भी पलता है और

यही सन्तोष है जो व्यक्ति को बाहर के काम-प्रलोभनों से बचाता है और उसे अपने सदाचार में स्थिर रखता है। उसे जीवन के रपटीले पथ पर कहीं भी गिरने नहीं देता।

पाश्चात्यों के दाम्पत्य जीवन में कहीं स्थिरता नहीं, आज एक स्त्री एक की पत्नी है तो कल वह किसी दूसरे की जीवन-सहचरी बन जाती है। आज एक पुरुष किसी का पति है तो कुछ हो दिनों में वह किसी और का स्वामी बन जाता है। जहां जीवन में इतनी अस्थिरता हो वहां शान्ति कैसे ठहर सकती है? ऐसी स्थिति में तो एक दूसरे पर कभी विश्वास रहता ही नहीं और स्मरण रहे कि अविश्वास के अन्तरङ्ग में प्रेम का वास कभी नहीं होता।

भारतीय पति-पत्नी धर्म के एक शाश्वत केन्द्र से बन्धे रहते हैं। इसीलिए वे अपने कर्त्तव्यों के मूल्य को समझते हैं। कर्त्तव्य का अर्थ है, जीवन की प्रत्येक स्थिति में अवश्य करणीय कार्य। कर्तव्य की यह भावना वहीं हो सकती है जहां अपने सुख को अपेक्षा दूसरे के दुख का अधिक ध्यान हो। यह चिन्तन जीवन में आत्मीय गुणों के जागृत हुए बिना कभी नहीं आता। आत्मा के प्रसुप्त स्वभाव को राग-द्वेष जैसे विकारों से मुक्त करने की क्षमता केवल एक धर्म में ही है। इसी लिए भारतीय जीवन के प्रत्येक व्यवहार को धर्म के सूत्र में जोड़ा गया है, ताकि वह इधर-उधर हट कर अपने वास्तविक स्वरूप से कहीं भटक न जाए।

यही कारण है कि भारत के स्त्री-पुरुष जीवन-पथ के दो सच्चे साथी बन कर चलते हैं। सुख-दुख के झंझावातों में भी उनके मन और पग एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। एक दूसरे का सहयोग और सहायता करना उनका एक परम धर्म बन जाता है। वे एक दूसरे को असहाय छोड़ कर सुख-भोग के लिए अपने को किसी के समक्ष समर्पित नहीं करते, बल्कि एक साथी अपने अन्य साथी के सुख, हित एवं सेवा के लिए अपने दैहिक सुखों को बलिदान करने के लिए तैयार रहता है।

पाश्चात्य देशों में रूप और सौन्दर्य की जीवन में प्रधानता रहती

है। जबकि भारतीय जीवन में उसे नश्वर, अनित्य एवं क्षणिक कह कर उसे हेय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ताकि मानव उसी में उन्मत्त हो कर न रह जाए, क्योंकि यह काम और सौन्दर्य का उन्माद व्यक्ति को सब कुकृत्य करने पर वाध्य कर देता है। यह रूप ही व्यक्ति के जीवन-गगन के सदाचार रूपी चान्द का कलंक बन जाता है। वाहर के देशों में रूप और रंग के पुजारी स्त्री-पुरुषों के जीवांगन लड़ाई-झगड़ों के अखाडे बने रहते हैं। वहां सदैव एक दूसरे से अपने अधिकारों की मांग होती रहती है। जहां मांग है वहां संघर्ष के बीज तो पड़ ही जाते हैं। जीवन में वहां सदैव दंगा-फसाद की स्थिति बनी रहती है। बहुत से दम्पती अपनी मांगें पूरी करवाने तथा अपने अधिकार पाने के लिए न्यायालयों के द्वारों पर बैठे रहते हैं। यह न्याय करवाने की स्थिति वहीं बनती है जहां अधिकारों का विसर्जन नहीं होता। जहां दूसरे के प्रेम में अपने अधिकारों का ही त्याग कर दिया जाता है वहां कौन किसी के आगे कोई न्याय के लिये झोली पसारेगा ? जहां धर्म और सत्य से व्यक्ति की आस्था समाप्त हो जाती है वहां से इस धरती का कानून शुरू होता है। वह भी व्यक्ति की समस्याओं का आंशिक समाधान ही कर पाता है पूरा सन्तोष वह भी उसे नहीं दे सकता। सच्चा सुख तो प्रेम-पथ पर त्याग करने से ही व्यक्ति को मिल सकता है। भारत की धरती पर जीवन का यही सच्चा एवं सब से ऊंचा आदर्श है। इस आदर्श में सदाचार का सिद्धांत भी समाहित हो जाता है।

पश्चिमी देशों में सदाचार का स्तर काफी निम्न रहता है। अपने देश को वह मान्य नहीं है, क्योंकि उसमें स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे के साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, नाचने-गाने, घूमने-फिरने तथा आमोद-प्रमोद करने की पूरी आजादी रहती है। भारत का धर्म उसे स्वच्छन्दता समझता है। उसने अपने सदाचार का साध्य जिस शिखर पर स्थापित किया है वह लक्ष्मण - रेखाओं में ही सुरक्षित रह सकता है। जीवन की अनियन्त्रित स्वच्छन्द प्रवृत्तियों में नहीं। बाहर के देशों में मनुष्य की किसी भी प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाना उसके

अधिकारों का हनन माना जाता है, किन्तु भारत का चिन्तन उन्हें मानव के अधिकार की संज्ञा न देकर उन्हें काम-वासना का खुला एवं नग्न प्रदर्शन कहता है। जिस में जीवन और जगत का उसे विनाश नज़र आता है। पाश्चात्य सभ्यता के उपासक बाहर के झूठे ऐन्द्रिक सुखों के व्यामोह में फंस कर अपने जीवन में कितनी ही उलझनें पैदा कर लेते हैं जिससे वे आत्म-शान्ति से भी बहुत दूर चले जाते हैं, और भारतीय सभ्यता के श्रद्धालु मानस वैषयिक सुखों की मृग-मरीचिका में दौड़ न लगा कर अपने ही श्रद्धा के केन्द्र की कुटीर में संतृप्त होकर बैठे रहते हैं। इस तरह वे कितने ही कष्टों से अपने आप को बचा लेते हैं। व्यर्थ के पाप से तो वे बचते ही हैं साथ ही वे आत्म-शान्ति के अक्षय धन से भी सदैव मालामाल रहते हैं।

ये सब बातें मुझे उन महानुभावों के लिये लिखनी पड़ी हैं जिनके मन में पश्चिमी सभ्यता के प्रति अधिक अनुराग है और अपने धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता के प्रति जिनके मन में विशेष आदर नहीं है। मैं उन बन्धुओं से कहूंगा कि बाहर के मायावी आकर्षणों से अपने आपको दूर रख कर ज़रा सदाचार तथा उसके बाह्य विधि-विधानों में अपने मन को स्थिर करके देखें। उन्हें भारतीय संस्कृति की यथार्थता स्वतः ही मालूम हो जाएगी।

जीवन के पुष्प में सदाचार का सौरभ भरने के लिए शास्त्र ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख भी किया है। जैसे कि

(१) सुसंस्कार (२) सुशिक्षा (३) सुसंगति (४) धर्म-शास्त्रों का श्रवण (५) सात्त्विक भोजन (६) सादा रहन-सहन (७) स्वाध्याय (८) तपस्या

इन साधनों में सुसंस्कार तथा सुशिक्षा को सदाचरण का बीज कहा जा सकता है। सुसंगति स्वाध्याय एवं शास्त्र-श्रवण की सद्प्रेरणा देकर संस्कारों के बीजों को अंकुरित करती है। उन्हें पुष्पित एवं पल्लवित करके उनकी चिर समय तक रक्षा भी करती रहती है। सत्संग से जीवन में विनय और विवेक आता है। स्वाध्याय मन को संयम

में स्थिर कर देता है। ज्ञान वह दीपक है जो आंधी और तूफानों में भी मन के मन्दिर में जलता रहता है और जीवन को दुराचार की खाइयों में गिरने से बचाता है।

शास्त्र-श्रवण भी एक सत्सग ही है, किन्तु यह जीवन में अपना एक अलग वैशिष्टय रखता है। एक सज्जन व्यक्ति से सम्बन्ध रखना और उसी के सद्विचारों की शीतल छांह तले बठना सत्संग है। यह गली बाजार दुकान तथा गृहाङ्गण में सदैव सम्भव है, किन्तु शास्त्र-श्रवण का सम्बन्ध गुरु तथा विद्वान् पुरुषों के चरणों में बैठ कर उनकी अमृत-वाणी सुनने से रहता है। वह सामूहिक होता है और उसके लिए एक विशेष समय नियत रहता है। कोई एक धर्म-शास्त्र उसका आधार रहता है। उसे नियत समय पर नियमित रूप से दत्तचित्त हो कर सुनना होता है। उसमें वक्ता एवं प्रवचनकार के अपने अनुभव भी सम्मिलित रहते हैं। शास्त्र किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं होता और न ही उसमें जीवन के किसी एक विशिष्ट पहलू का विवेचन रहता है, वह जातीयता तथा देश-काल की परिधियों में सीमित भी नहीं होता। वह तो जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बंधित जातिवाद तथा देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठ कर सार्वभौम सत्य का निरूपण प्रस्तुत करता है। जो केवल जैन, बौद्ध, सनातन, हिन्दू या मुस्लिम के लिए नहीं,वलिक वह मानव-मात्र के जीवन-कल्याण के लिये होता है। सदाचार की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिये शास्त्र-श्रवण का अकथनीय योगदान रहता है।

सात्त्विक भोजन—सभी शास्त्रों ने इस तथ्य को एकमत से स्वीकार किया है कि भोजन अल्प हो और वह भी सात्विक हो तो उससे व्यक्ति के सदाचार को बल मिलता है, भोजन जीवन में ईन्धन का काम करता है। जैसे ईन्धन अग्नि को भड़काता है, ठीक इसी तरह भोजन यदि राजस और तामस हो और वह भी अति मात्रा में सेवन किया जाए तो वह इन्द्रियों के विषयों को भड़का देता है। ऐसे व्यक्ति के लिए फिर सदाचार के व्रत में पक्के रहना कठिन हो जाता है।

राजसी और तामसी भोजन तो ऋषियों के मन को भी विषयोन्मुख बना देता है, फिर गृह-वासियों के मन का तो कहना ही क्या है? वह तो पहले से ही विषयातुर रहता है। "एक करेला दूसरा नीम चढ़ा" ऐसी बात बन जाती है, स्मरण रहे कि आत्म-शान्ति के लिए भोजन तथा अन्य सुख-साधनों का त्याग ही तप है। इसका सेवन सदाचार के लिए रामवाण-औषध का काम करता है। तप भोजन-रूपी ईन्धन को रोक कर इन्द्रियों की विषयोत्तेजना को इस तरह मन्द कर देता है, जैसे चूल्हे से खींचा हुआ ईंधन दूध के उबाल को शान्त कर देता है। ऐसा व्यक्ति स्व के अधिकार में सिमट कर रहता है। वह न इधर-उधर आंख उठाता है और न दूसरे का कुछ हथियाने के लिए हाथ बढ़ाता है। अधिक न लिख कर इतना ही कहूंगा कि उपर्युक्त सभी बातें साधक को सदाचार व्रत की साधना में पर्याप्त सहायता दे सकती हैं, किन्तु शर्त यह है कि ये सभी स्वर्णिम सूत्र साधक के जीवन-पथ पर सदैव प्रस्तुत रहने चाहिये।

शास्त्रों में वर्णित छे कुव्यसनों के सम्बन्ध में कुछ विचार देने के पश्चात् अब अन्त में चौर्य के सम्बन्ध में कुछ लिख रहा हूं। वैसे जूए की बुराइयों के सम्बन्ध में लिखते हुए मैं यह लिख आया हूं कि जूआ खेलने वाला अपना सब कुछ खो कर, फिर चोरी जैसा घृणित अपराध भी करने पर उतारू हो जाता है। यह एक सामान्य कथन था। इस कुव्यसन पर स्वतन्त्र रूप में लिखना भी आवश्यक है।

चोरी को यदि कुव्यसनों का सम्राट् कहा जाए तो गलत नहीं होगा। इसका जिकर अन्त में इसलिए कर रहा हूं कि जिस व्यक्ति के जीवन में ये कुव्यसन अपना स्थान बना लेते हैं, वह प्रायः चोरी के कुव्यसन में फंस ही जाता है। पहली बात तो यह है कि जो मांस-मदिरा आदि कुव्यसनों में अति आसक्त हो जाता है वह परिवार और समाज की नजरों से बचकर सब कुछ चोरी-चोरी करने लगता है। कोई काम अपने अभिभावकों की आज्ञा के बिना करना भी तो चोरी ही है। यहीं से चोरी का जीवन में बीज पड़ता है।

जैन-धर्म ने चोरी को अदत्तादान कहा है। स्वामी अर्थात् मालिक की आज्ञा के बिना और उसके बिना दिये कुछ भी लेना अदत्तादान है। साधु अपने महाव्रत के रूप में इस अदत्तादान का तीन करण और तीन योग से परित्याग करता है। श्रावक इसे तीन योग और दो करण से छोड़ता है। चोरी एक नैतिक अपराध तो है ही, धर्म की दृष्टि से यह घोर पाप और अधर्म भी है।

चोरी करना सारी दुनिया में गुनाह माना गया है। पहले ज़माने में दूसरे की चीज़ उठाने वाले का हाथ काट दिया जाता था, ताकि वह फिर किसी की चीज़ उठाने का साहस न करे। कभी ह्यनसांग नाम का एक चीनी सफीर भारत में आया था। उसने लिखा है कि "भारत के लोग बड़े ही ईमानदार हैं। लोग रात को घरों के द्वार बन्द करके नहीं सोते। फिर भी कोई किसी की चीज़ नहीं उठाता। भारत के ऋषियों ने "परद्रव्येषु लोष्ठवत्" कह कर जीवन का एक ऊंचा आदर्श उपस्थित किया है, उन्होंने कहा है कि दूसरे की चीज़ को मिट्टी के समान समझो, अर्थात् उसे कभी भी हाथ न लगाओ।

चोरी का अर्थ केवल किसी की चीज उठाना ही नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार से किसी के साथ ठगी करना भी चोरी है। तस्करी का व्यापार भी इसी में सम्मिलित है। बिना टिकट के सफर करना, राज्य सरकार का कर आदि मारना, किसी की धरोहर आदि हज़्म कर जाना, किसी की गुम हुई वस्तु मिलने पर उसे अपने पास रख लेना, किसी से कुछ मांग कर या उधार लेकर फिर उसे वापिस न देना यह सब चोरी के ही अंग हैं।

श्रावक के इस "अदत्तादान" व्रत के पांच अतिचार बताए गए हैं, अर्थात् जो गृहस्थ इन पांच दोषों का आचरण करता है, उसे चोरी का पाप लगता है। वह नैतिक और धार्मिक दृष्टि से भ्रष्ट कहा जाता है। इनकी आलोचना करके ही वह शुद्ध होता है। वे अतिचार हैं—

स्तेन-प्रयोग—चोरों को चोरी करने के लिए प्रेरित करना। यह श्रावक के व्रत का पहला दोष है।

स्तेनाहृतादान—चोर के द्वारा चुराई हुई चीजें सस्ते दामों पर खरीदना, क्योंकि चोर बड़ी-बड़ी मूल्यवान् वस्तुएं कम मूल्य पर बेच देते हैं। व्यापारी लोभ के वश होकर उन्हें कम मूल्यों पर ले लेते हैं। लोभ पाप का बाप तो माना ही गया है।

बनिये के घर के द्वार पर और उसकी बही पर शुभ और लाभ लिखे रहते हैं। भले ही उसके तथा किसी अन्य के मन में इसका आशय कुछ भी हो, किन्तु मैं यह समझता हूं कि इसका एक अर्थ यह भी बन सकता है कि दुनिया में बस लाभ ही शुभ है और कुछ भी शुभ नहीं। शायद इसी भाव को ले कर बनिया सदैव लाभ की ही बात सोचता है।

विरुद्ध-राज्यातिक्रम—सरकार ने जो कानून बनाए हैं, उनके विरुद्ध चलना। न्याय और धर्म की रक्षा के लिए किसी नियम के भंग का इसमें निषेध नहीं है, बल्कि किसी भी निजी स्वार्थ एवं आर्थिक लाभ से प्रेरित हो कर सरकार के कानून का उल्लंघन करना चोरी कहा गया है।

हीनाधिक-मानोन्मान—न्यूनाधिक तोल-माप करना भी चोरी ही है। ऐसे लोग व्यवहार में कभी प्रामाणिक नहीं माने जाते। वे लोग कितने नादान हैं कि कुछ पैसों के लोभ में अपने विश्वास गंवा बैठते हैं। जिसकी साख नहीं, भला उसकी सुन्दर कञ्चन काया का भी क्या मूल्य है? उससे तो वे काले कलूटे लोग अच्छे हैं जिनके हृदय स्वच्छ हैं और जो किसी के साथ छल-कपट का व्यवहार कभी नहीं करते। पैसा आदमी को कर्म-फल से नहीं बचा सकता। इससे असाध्य रोग नहीं मिटता। पैसे के बल पर व्यक्ति मृत्यु से भी बच नहीं सकता। न यह पैसा व्यक्ति को दुर्गति के दुखों से ही बचा सकता है, फिर भी पता नहीं क्यों व्यक्ति इस पैसे के मोह में पागल हो कर अपने ही भाई बन्धुओं से दगा करने से नहीं डरता। ऐसे ही लोगों को सद्बुद्धि देने के लिए ही शायद किसी ने कहा हो कि—

> **खोटा करे तोल-नाप, इकट्ठा करे बहु पाप॥**
> **पल-पल पे बुरा भाव, भव-जल में डूबे नाव॥**
> **साख खोये पाई पावे, मुंह न उसे कोई लगावे॥ १॥**

बिगड़ें उनके बाल गोपाल, होवे सब का बुरा हाल ॥
लगें उनको रोग घणे, पड़ें चबाने नाकों चने ॥ २ ॥

विश्वास गिरे व्यापार चले न, कोई समझे उन्हें भले न ॥
हर कोई उन्हें बुरा बतावे । कोई न सौदा लेने आवे ॥३॥
दुष्ट मरे वह दुखी हो के, दुर्गति के वह दुख भोगे ॥

यह है न्यूनाधिक तोलने एवं नापने वाले अनैतिक लोगों की दुर्दशा का चित्र । शास्त्र ने इसे श्रावकाचार का महादोष कह कर उसकी घोर निन्दा की है । आगे पांचवां अतिचार है ।

तत्प्रतिरूपक व्यवहार—इसे दूसरे शब्दों में मिलावट करना कहते हैं । जो लोग खरी में खोटी चीज़ मिला कर बेचते हैं वह भी ठगी है और इसके पीछे भी अर्थ-लिप्सा जैसी तुच्छ एवं क्षुद्र मनोवृत्ति ही काम करती है, ऐसे लोग अपने तुच्छ लाभ के लिए जनता के जीवन एवं स्वास्थ्य से खेलते हैं । यह एक प्रकार की सामाजिक हिंसा है । नैतिक दृष्टि से मिलावट करना अपराध माना गया है, धार्मिक दृष्टि से इसे पाप कहा गया है । ऐसे लोगों के बाहर के धार्मिक अनुष्ठान भी केवल ढोंग ही होते हैं । चोरी को कुव्यसन कह कर शास्त्रकारों ने इसकी हेयता को स्पष्ट किया है और चेतावनी दी है कि इस कुकृत्य के सेवी को लोक में तथा परलोक में कहीं सुख और शान्ति नहीं मिल सकती ।

धार्मिक जगत में प्रवेश पाने के लिए इन सात कुव्यसनों के चगुल से निकलना और इनसे सर्वथा दूर रहना नितान्त आवश्यक है । कुव्यसनी लोगों से ही संसार में सब प्रकार के भय, आतंक तथा युद्ध आदि की विभीषिका उत्पन्न होती है । यह मनुष्य कितना मूढ़ है जो अपनी ही बेसमझी से, अपने कुकृत्यों से, अपने स्वर्गिक संसार को भी नरक बना लेता है । स्वयं दुखी होता है और दूसरों को दुखी करता है ।

मनुष्य ! तू क्यों सुकृत की ओर ध्यान नहीं देता । यह तेरा सच्चा साथी है । जो सच्चे साथी की उपेक्षा करता है और बुरे पर विश्वास

करता है वह सच्चे मित्र के लाभ से वंचित हो जाता है और बुरे मित्र की बुराइयों के दुष्परिणामों से उसे जीवन में भयंकर दुख उठाने पड़ते हैं, ठीक इसी तरह जो कुव्यसन रूपी दुष्ट मित्रों की संगति करता है उसे भी नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। अधिक नहीं लिखना चाहता। दो ही शब्द लिख कर अपने लेख को विश्रान्ति देता हूं। वे दो शब्द हैं—

समझ लो ये कुव्यसन, आमन्त्रण हैं विनाश का।
भ्रष्ट हो जाती है इनसे, आत्मा की सब प्रभा॥
दुर्भाग्य से बन कर भिखारी, वह ठोकरें खाता रहे।
अपमान, निन्दा, शोक, भय, दुख नित्य ही पाता रहे॥
जो हैं बुद्धिमान इनके, पास भी जाते नहीं।
कुव्यसनियों के हाथ का, वे अन्न भी खाते नहीं॥





वालोपयोगी धर्म-शिक्षा के केन्द्र

कल्पवृक्ष सूख रहे हैं

सच कहता हूं मैं और आप भी सच ही मानिये! क्या? कि कल्पवृक्ष जिसके प्राङ्गण में उगें वह कभी दरिद्र नहीं रह सकता, स्वर्ग के वृक्ष अन्न-कीट के घर में? आश्चर्य ही तो है, किन्तु पुण्योदय जब होता है तो असम्भव भी सम्भव होने लगता है, कल्पवृक्ष को देखते ही दु:ख, क्लेश तथा विपत्तियां स्वयं ही भाग जाती हैं, समृद्धियां खेलने लगती हैं, शान्ति वहां निवास करने लगती है और सद्गुणों के समूह वहां विचरने लगते हैं, किन्तु ये कल्पवृक्ष केवल मनुष्य की कामनाओं की क्षणिक पूर्ति हो कर सकते हैं, पर युग-युग से शान्ति के लिये तरसती तृषित आत्मा को चिर शान्ति तथा तृप्ति नहीं दे सकते। वे कल्याण तथा निश्रेयस का द्वार उन्मुक्त नहीं कर सकते। वे विषम जीवन को विकास का सुप्रशस्त पथ कदापि प्रदान नहीं कर पाते, अत: जीवन के सृजन के लिये आध्यात्मिक कल्पवृक्षों की आवश्यकता है। मैं समाज का ध्यान उन आध्यात्मिक-कल्पवृक्षों की ओर ही आकर्षित करना चाहता हूं।

आज से लगभग बारह वर्ष पूर्व आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की सुप्रेरणा से लुधियाना में सर्वप्रथम "जैन-शिक्षा निकेतन" के रूप में एक ऐसा कल्पवृक्ष लगाया गया जो समाज के नौनिहालों को धार्मिक संस्कारों के सुमधुर फल दे कर उनके चरित्र का निर्माण करे।

समाज के नन्हें मुन्नों को मार्ग-दर्शन देना और उन्हें पारिवारिक-सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्वों तथा कर्त्तव्यों का भान कराना ही इस शिक्षा-निकेतन का पुनीत लक्ष्य है।

आप देख रहे हैं कि भौतिकता की आग में झुलसते आज के युग में बहुत तेज गरम हवा चल रही है। देश के होनहार अपनी संस्कृति तथा दर्शन को भूल कर जीवन की अन्धेरी गलियों में भटक रहे हैं। भोगवाद की अति उष्ण लू के झोंकों में ये कोमल किसलय देखो तो सही कैसे म्लायमान हो रहे हैं, अमृत-कलशों में कुसंस्कारों के विष-बिन्दु गिर रहे हैं। इन दोषों को जीवन से निरस्त करना ही शिक्षा-निकेतनों का वास्तविक ध्येय है।

निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आज का बालक कल का विश्व-निर्माता हो सकता है, किन्तु पहले समाज को बालक के जीवन का निर्माण करना होगा। समाज के जीवन में व्यक्ति के जीवन की प्रतिच्छाया होती है। वस्तु का बिम्ब सर्वत्र सुन्दर ही पड़ता है, यदि वस्तु अपने आप में सुन्दर हो। असुन्दर वस्तु की वास्तविक छाया कदापि सुन्दर नहीं होती। समूचे समाज को सुसंस्कारी बनाने के लिये पहले उसके बीज रूप बालकों व बालिकाओं को सुन्दर संस्कारों से सुशोभित करना चाहिये, तभी संसार के उज्ज्वल भविष्य के द्वार खुल सकते हैं और उसमें नैतिकता का सौंदर्य झलक सकता है। शिक्षा-निकेतन इस उद्देश्य की पूर्ति के अमर साधन हैं।

आज समाज के जीवन में निष्क्रियता आ गई है। हाथ पैर हिलाये बिना ही 'खुल जा सिम सिम' की तरह एक छू मन्त्र चला कर हम समाज के उत्थान की कल्पना कर रहे हैं। गृहस्थ वर्ग सत्य धर्म की अपेक्षा धन को अधिक प्रश्रय दे रहा है और आलस्य तथा प्रमाद में पड़ा-पड़ा वह निर्माण के सुनहरी स्वप्न देखा करता है। केवल हवाई घोड़े दौड़ाने से कोई घुड़सवार नहीं बन सकता। केवल हवाई किले बना देने से शत्रुओं से अपनी रक्षा नहीं हो जाती। खयाली पुलाव पकाने से किसी अल्हड़ रसिक को पुलाव का मजा नहीं आ सकता।

कथनी से करनी सदा ऊंची होती है। समाज को शेखचिल्ली की आदत छोड़ कर अपनी भावी पीढ़ी के निर्माण के लिये सक्रिय रूप से कार्य-क्षेत्र में उतरना होगा और जिन संस्थाओं के सामने समाज - हित का एक ठोस कायक्रम है उन्हें हार्दिक सहयोग देकर ऊंचा उठाना होगा।

सुन्दर संस्कारों के बिना विचारों में सौंदर्य नहीं आ सकता और बिना श्रेष्ठ विचारों के श्रेष्ठ चरित्र की सृष्टि नहीं हो पाती। जीवन की आभा उसका चरित्र ही है। यह जीवन को रोढ़ है जिसके बिना जीवन बेकार हो जाता है। ये शिक्षा – निकेतन जीवन में चारित्रिक सौरभ भरने के लिये हो स्थापित किये गये हैं। आज के युग में बालकों के लिये शिक्षा-निकेतनों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी एक जीवन को जीवित रखने के लिये प्राणवायु की अपेक्षा होती है।

स्कूलों की शिक्षा-पद्धति आपके सामने है। इन स्कूलों में अब धार्मिकता का तो क्या नैतिकता का भी कोई स्थान नहीं रहा। धर्म-निरपेक्षता का बुरी तरह दुरुपयोग किया जा रहा है। खेद ही नहीं, वल्कि अतिदु:ख की बात है कि आज शिक्षा के द्वारा निरंकुशता, अविनय, अनुशासन-हीनता, विलासिता, मांसाहार अनैतिकता तथा दुराचार के सहस्रों कीटाणु माता के दूध की तरह आरम्भ से जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर भला कैसे कल्याण हो सकेगा इस मानव समाज का ? ये विषैले कीड़े जीवन को क्षय रोग की तरह खा रहे हैं। जीवन का बगीचा वीरान हो रहा है। भारतोय ऋषियों ने 'सा विद्या या विमुक्तये' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि विद्या वास्तव में वह ही है जो जीवन को सब दाषों से मुक्त कर दे। आत्मा में दिव्य गुणों का विकास करे। केवल स्कूली परीक्षा में ही नहीं, वल्कि जीवन की कठिन सें कठिन परीक्षा में भी व्यक्ति को उत्तोर्ण होने के योग्य वना दे। जो पशु को भी मनुष्य और मनुष्य को फिर पुरुषोत्तम वन ने की क्षमता प्रदान करें। असली अर्थ में वही विद्या सच्चो शिक्षा कही जा सकतो हैं। 'विद्या ददाति विनयम्' के अनुसार विद्या विनय आदि महानतम देवी गुणों से जीवन को विभूषित करती हैं, उसे सुशील सदाचारी तथा

कर्त्तव्यनिष्ठ बनाती है और न्याय तथा सद्नीति की प्रतिष्ठा करती है। जो जीवन को—

तमसो मा ज्योतिर्गमय।
असतो मा सद् गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

इन ऋषि-वचनों के अनुसार अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर मोड़ दे—वास्तव में वही विद्या है—शिक्षा है, इसमें कोई संदेह नहीं। अन्य सब तो शिक्षाभास हैं। आज जब कि कुशिक्षा के द्वारा देश के नव रक्त में विष का संचार हो रहा है और इसके पैरों के नीचे देश का भविष्य पिसा जा रहा है तो ऐसी स्थिति में समाज को स्वयं अपने बालकों को सुसंस्कारित करने का प्रयत्न करना ही होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए शिक्षा-निकेतनों की नगर-नगर में स्थापना करना आवश्यक ही नहीं, वल्कि अति आवश्यक है। जीवन के पवित्र क्षेत्र में उत्तम विचारों की सिंचाई करने के लिये ये शिक्षा-निकेतन सच्चे आध्यात्मिक ट्यूब वेल्ज (Tube wells) हैं।

श्रद्धेय आचार्य म० जी की हार्दिक इच्छा थी कि समाज में बच्चों के हित में कुछ ठोस कार्य किया जाये। आप श्री जी को सद्प्रेरणा तथा आशीर्वाद से इस दिशा में मैंने अपना ध्यान केन्द्रित किया। सर्व प्रथम लुधियाना में एक शिक्षा-निकेतन खोला गया। फिर कुछ समय के पश्चात् महिला-शिक्षा-निकेतन स्थापित किया गया। धीरे-धीरे समाज ने इन निकेतनों की उपयोगिता को सम्मान दिया और फलस्वरूप मालेर-कोटला, खन्ना, रोपड़, नवां शहर, होशियारपुर, अम्बाला छावनी, करनाल, सफीदों मण्डी, डेराबसी आदि पंजाब के अनेकों शहरों में शिक्षा-निकेतन-योजना को क्रियान्वित रूप दिया गया।

आचार्य श्री जी की पावन स्मृति में १९६३ में एक "आचार्य श्री आत्माराम जैन-शिक्षा-निकेतन बोर्ड" स्थापित किया गया। इसका प्रधान कार्य समस्त शिक्षा-निकेतनों की परीक्षाओं का प्रवन्ध करना

तथा सभी निकेतनों को एक सूत्र में संजो कर उन्हें अधिकाधिक विकास की ओर अग्रसर करना है। इसका मुख्य कार्यालय लुधियाना में रखा गया है।

जो साधु-साध्वी इस पुनीत कार्य में अपना सहयोग देते रहे हैं वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। सहयोगी गृहस्थ वर्ग भी अपनी प्रदत्त सेवाओं के लिये सराहना के योग्य हैं। वैसे कर्त्तव्य-पारायणता धन्यवाद की भूखी नहीं होती, किन्तु फिर भी किसी के प्रति अकृतज्ञ होना भी मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं है।

बोर्ड के स्वर्गीय शिक्षापति श्री हंसराज जी जैन तथा डा० मुलखराज जैन, भ्राता फूलचन्द जैन आदि के अनथक परिश्रम से ही यह प्रदीप अभी तक अपनी नन्ही शिखा की नन्ही रश्मियां समाज के तमसावृत मार्ग पर बिखेर रहा है, किन्तु इसकी लौ जितनी ज्योतिर्मय होनी चाहिये उतनी अभी हुई नहीं। इस प्रदीप को अभी बहुत अधिक तैल-दान की अपेक्षा है और आवश्यकता है इसे तूफानी हवाओं से बचाने की।

शिक्षा-निकेतन-योजना को व्यापक रूप देने के लिये लुधियाना, मालेर कोटला, अम्बाला, करनाल, देहली, कानपुर तथा कलकत्ता जैसे महानगरों में शिक्षा-सम्मेलनों का आयोजन किया गया। भाषण संगीत तथा नाटक प्रतियोगिताओं द्वारा शिक्षा-निकेतनों की झांकी जन-मानस में उतारने के हार्दिक एवं सफल प्रयास किये गए, जनता के सहयोग तथा सराहना ने इन कल्प-वृक्षों के मूल में वस्तुतः अमृत-सिंचन किया, जिससे ये कल्पतरु सचमुच पुष्पित तथा पल्लवित होकर लहराने लगे थे।

मैं कुछ वर्षों से पंजाब से दूर विचर रहा था, फिर भी इन निकेतनों के प्रति मेरा मनोयोग कभी कम नहीं हुआ, किन्तु प्रवास में होने से प्रेरणा का स्रोत अवश्य ही कुछ मन्द हो गया था। यह मेरी विवशता थी, कोई अपराध नहीं। दूरस्थ होने पर भी स्थान-स्थान पर सम्मेलनों का कार्य-क्रम रखा जाता था ताकि ये लहलहाते कल्पवृक्ष कहीं सूख न जायें, इनमें सलिल-सिंचन होता रहे और ये अपनी शीतल-छाया तथा मधुर फलों से समाज को लाभान्वित करते रहें।

अब कभी-कभी मेरे कानों में आवाजें आती हैं—

"ये कल्प वृक्ष सूख रहे हैं, शाखाएं टूट रही हैं, पत्ते झड़ रहे हैं, प्रतिवर्ष सहस्रों फल प्रदान करनेवाले वृक्ष अब कहीं बड़ी मुश्किल से सौ-डेढ़ सौ फल ही दे पाते हैं। (पहले हजारों धर्म-छात्र परीक्षा देते थे अब सैंकड़ों) **कुछ कीजिये इनके लिये।"**

मेरे कानों में जब ये अमंगल स्वर पड़ते हैं तो मेरा हृदय सुबक उठता है। मैं जो कुछ इनके लिये कर सकता हूं करता ही हूं, किन्तु प्रत्येक संस्था के पीछे समूचे समाज का योग-दान ही उसके भाग्य के द्वार खोल सकता है। केवल प्रशंसा तथा वाह! वाह!! संस्था में प्राण नहीं डाल सकती। इसके लिये तो तन, मन तथा धन बलत्रय की अपेक्षा रहती है। मन की भावना, तन की सेवा तथा धन का सहयोग ये सब मिल कर ही संस्था में जीवन का संचार कर सकते हैं। ज्ञात होता है कि समाज के नेता अभी इस संस्था की उपयोगिता को पूरी तरह समझ नहीं पाए। नहीं तो इस महान संस्था को उपेक्षित नेत्रों से देखने का कोई कारण नहीं हो सकता। जिस बालक को मां का प्यार नहीं मिलता वह कभी पोषण नहीं पाता। ठीक शिक्षा-निकेतन मां के दुलार से वंचित जैसी स्थिति का अनुभव कर रहे हैं।

मैं कुछ समाज के मार्ग-दर्शकों से सविनय पूछना चाहता हूं कि क्या वे इसे वैयक्तिक-संस्था समझते हैं? यदि ऐसा कुछ ख्याल किसी का है तो वह एकदम मिथ्या है, गलत है। वस्तुतः यह समाज की संस्था है, समाज के हित के लिये ही इसका निर्माण हुआ है और समाज के द्वारा ही इसकी संस्थापना हुई है। मेरा अपना इसमें कुछ नहीं। समाज के लिये जीनेवाले महानुभाव यदि इस ओर अपना ध्यान द तो जैन-शासन की बहुत बड़ी सेवा हो सकती है। ज्ञान-दान से उत्तम कोई दान नहीं। शास्त्रों ने अभयदान को अवश्य बड़ा माना है, किन्तु अभय-दान ज्ञानी ही कर सकता है। अज्ञानी और असंस्कारी किसी को अभय तो क्या करेगा? वह तो उल्टा अभय को भी भयभीत कर देता है।

ये शिक्षा-निकेतन ज्ञान के साक्षात् ज्योति - स्तम्भ हैं। स्वर्गीय आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के सच्चे स्मारक हैं।

इनकी उपेक्षा आचार्य श्री जी की उपेक्षा है। ये निकेतन उनके ध्येयों की पूर्ति करते हुए उनके दृष्टि-बिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके पावन-संकल्पों को साकार रूप देने के लिये ही इस संस्था का जन्म हुआ है, इसलिये मैं यह कह सकता हूं कि यदि वे संघ का गौरव थे तो ये शिक्षा-निकेतन उनका गौरव हैं। इनकी रक्षा आचार्यश्री के गौरव की रक्षा है।

जो आचार्य महाराज की श्रद्धा तथा भक्ति का दम भरते हैं, किन्तु यदि वे इन अध्यात्म-कल्पवृक्षों को उपेक्षित नेत्रों से देखते हैं तो फिर कहा जा सकेगा कि उनकी भक्ति केवल कोरा प्रदर्शन ही है।

युगल-काल के कल्पवृक्ष जीवन की ऐहिक आवश्यकताओं को ही पूरा करते थे, ये अध्यात्म-कल्पवृक्ष तो आत्मा की भूख को मिटाते हैं। वे वृक्ष जब सूख गये तो कृषि तथा अन्य भिन्न-भिन्न नवीन कलाओं से उसकी पूर्ति हो गई, किन्तु समाज की उपेक्षा से ये शिक्षा-निकेतन रूप कल्पवृक्ष यदि क्षीयमाण होकर गिर गये तो समाज के पास इसका क्या विकल्प है? क्या उत्तर है? समाज मेरे इस प्रश्न पर शांत मन से विचार करे। मुझे आशा है कि आप सबका गम्भीर चिन्तन शिक्षा-निकेतन-योजना की उपयोगिता को अवश्य स्वीकार करेगा। केवल स्वीकार करके ही नहीं रह जायेगा, बल्कि अपने-अपने नगरों में इस योजना को मूर्त रूप देने का पूर्ण प्रयास भी करेगा, यह मेरा विश्वास है।



सत्संग सिन्धु के रत्न

साड़ी का मूल्य

●

बाह्य वेश में सन्त को पहचानना अत्यन्त कठिन है। एक संस्कृत का कवि कहता है—

क्वचिच्छिष्टाः क्वचिद् भ्रष्टाः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।

कुछ सन्त शिष्टाचार एवं सभ्यता के पूरे हामी और अनुगामी होते हैं, कुछ का बाह्य जीवन सभ्यता और शिष्टाचार से दूर होने के कारण वे भ्रष्ट से लगते हैं और कुछ तो संसार के प्रचलित जीवन से चेष्टा. कर्म और स्थिति बिल्कुल विपरीत रखने के कारण भूत या पिशाच का रूप ही धारण किए रहते हैं, लेकिन फिर भी उनमें कुछ बातें ऐसी विशिष्ट होती हैं कि वे सन्त-कोटि में गिने व माने जाने लायक मालूम होते हैं।

जहां विश्व में वेश-विशेष या सम्प्रदाय विशेष में मान्यता प्राप्त सन्त आसानी से पहचाने व पूजे जा सकते हैं, वहां कई सन्त साधारण रूप में गृहजीवी होते हैं। गृह-जीवियों की तरह रहन-सहन, आजीविकोपार्जन व कुटुम्ब-पोषण की प्रवृत्तियों में सामान्य जन व उनके जीवन के बीच कोई भेद-रेखा नहीं खिच पाती, परन्तु कुछ घटनाएं उनके विशिष्ट चिन्तन और स्वभाव को प्रकट करके उन्हें असाधारण व्यक्तित्व-सम्पन्न मानने के लिये जन-मन को विवश कर देती हैं और

समय के साथ-साथ उनके उस असामान्य स्वरूप को लेकर जन-मन उन्हें सन्त कहने के लिए बाध्य हो उठता है।

ऐसी ही विरल विभूति थे—दक्षिण भारत के सन्त तिरुवल्लुवर। वे अपने जीवन-निर्वाह के लिये वस्त्र बुन कर बेचा करते थे। उनके जीवन की ऐसी ही घटनाओं में से एक घटना इस प्रकार है—

एक बार तिरुवल्लुवर अपने हाथ की बनी साड़ियों की टोकरी सिर पर उठाए आंध्र के एक प्रसिद्ध नगर की गलियों में चक्कर लगा रहे थे। नगर के लोग कई दिनों से इस प्रकार घूमते उस साड़ी-विक्रेता से काफी परिचित हो गए थे।

लोग उसकी विचित्र चितवन, चेष्टाओं और बालों से उसके अनोखेपन का आभास पा चुके थे। उसके बारे में एक बात सारे शहर में प्रसिद्ध हो चुकी थी कि उसे किसी भी परिस्थिति में क्रोध नहीं आता, सभी उसकी विशेषताओं पर विस्मित थे।

थोड़े ही दिनों में तिरुवल्लुवर श्लाघापूर्ण चर्चा का विषय बन गया था, परन्तु एक हठीला युवक उसकी उस प्रशंसा को सहन न कर सका।

"मैं भी अगर उसकी सारी पोल-पट्टी खोल न दूं तो अपना नाम बदल लूंगा।" उसका अहं उसके साथियों के बीच बोल उठा।

मन मनुष्य की सभी गतिविधियों की प्रेरक शक्ति है।

वह मनचला सवेरे ही सवेरे उस शान्तात्मा को क्रुद्ध करने के उपाय सोचता हुआ निकल पड़ा। इधर फेरी लगाते सन्त भी उधर ही आ निकले।

"ऐ! फेरीवाला, रुक, इधर आ क्या बेचता है? माल दिखा बढ़िया माल होना चाहिए, बोगस माल देगा तो मार खाएगा। बड़े रूखे और नवाबी-ढंग की बद-ज़बानी करते हुए उसने एक साथ कई तीर फैंक दिए।

तिरुवल्लुवर बड़े शान्त ढंग से रुक गया और साड़ियों का टोकरा उपयुक्त स्थान पर रख कर दम लेने लगा। तभी युवक की कर्कश-ध्वनि हवा में तैरने लगी —

"ऐ! उल्लू की माफिक देखता क्या है? अरे! अम तुमारा बाप का नऊकर नहीं है। अमकू दूसरा पन काम करने का है। अरे! वाह!" उसकी उद्दण्डता बढ़ती जा रही थी। "ऐसा सुस्ती में धन्धा होता क्या? वाह रे वाह! क्या थाट में काम करता! अरे! बेकार आदमी! अम बोलता जल्दी कर!" जल्दी! युवक एक ही सांस में कितनी ही चुनिंदा गालियां भी दे गया।"

तिरुवल्लुवर टोकरी खोलने में व्यस्त था। युवक की गालियां सुनने या उसकी उद्दण्डता पर टोका-टाकी करने की मानो उसे फुर्सत ही नहीं थी।

"लीजिए साब! यह माल है मेरे पास।" उसने आश्वस्त भाव से कहा और एक सुन्दर-सी साड़ी युवक की ओर बढ़ा दी। "सस्ता अउर मजबूत, सिरफ दो रुपया किम्मत।" उसने बात पूरी की।

युवक ने बड़े नाटकीय ढंग से साड़ी को उलट-पलट कर देखा और हाथ से नापने का बहाना करते हुए दोहरी करके ठीक बीचों-बीच से फाड़-कर दो टुकड़े कर दिए, फिर बड़े चुटीले ढग से तिरुवल्लुवर से पूछा—

"इस आधा साड़ी का क्या मोल?"

स्वाभाविक था यदि कोई और होता तो इतने पर बुरी तरह बिगड़ उठता, किन्तु तिरुवल्लुवर किसी और ही मिट्टी का बना था।

'एक रुपया बाबू"। उसने सहज-भाव से कहा।

उद्दण्ड युवक के अब तक के सारे प्रयत्न और प्रहार विफल हो चुके थे, पर वह भी जल्दी-जल्दी हार मानने वाला नहीं था।

कोई भी वस्तु-विक्रेता अपने ग्राहक की और सब गर्मी-सर्दी बर्दाश्त

कर सकता है, परन्तु ग्राहक के द्वारा चीज का छिन्न-भिन्न होना उसे कभी सह्य नहीं होता और इसी मनो-विज्ञान के आधार पर उसे आशा थी कि वह उसकी उपर्युक्त ख्याति नष्ट करने में सफल हो जाएगा, लेकिन अपना सबसे बड़ा प्रहार भी व्यर्थ गया देख कर वह ठिठका।

लेकिन तिरुवल्लुवर शायद यह सोच कर शान्त रह सका हो कि "दो टुकड़े हो जाने से क्या बिगड़ा है? कम जरूरत के दो ग्राहकों को आधे दाम पर बेच कर वही पैसे वसूल किए जा सकते हैं।"

युवक ने कुछ सोचा और अपना कार्यक्रम आगे बढ़ाने के लिए उन दो में से एक के फिर दो टुकड़े करते हुए छोटे टुकड़े की कीमत पूछी।

'आधा रुपया।' उसी सहज भाव में तिरुवल्लुवर ने उत्तर दिया।

"और इसका ?" उसके भी दो खण्ड करते हुए युवक ने पूछा।

"चार आना" तिरु पूर्ववत् अविचलित रहा।

"अऊर इसका ?" फिर दो टुकड़े करके चिढ़ाने की पूरी कोशिश करते हुए युवक ने फिर पूछा।

"दो आना।" तिरु ने युवक को विस्मित कर दिया, किन्तु जल्दी ही उसका विस्मय आवेश में परिवर्तित हो गया और उसने उस दो आने वाले टुकड़े के क्रमश: कई खण्ड करके कीमत पूछी। लेकिन तिरु की आत्मा एक सन्त की आत्मा थी। उसने तार-तार हुए खण्ड की भी हिसाब से बराबर कीमत बताई। अब युवक ने हथियार डाल दिये।

तिरु का महामना रूप अब उसे भलीभांति उपलब्ध हो चुका था। अब तिरुवल्लुवर उसका श्रद्धा-भाजन बन गया। अपने श्रद्धेय के प्रति अपने ही दुर्व्यवहार का स्मरण कर वह खेद और अनुताप से भर गया।

उसने दीनता पूर्वक कहना शुरू किया—"महात्मन्! आज मैंने अपने जीवन में भयंकरतम अपराध किया है! आपके प्रति अशिष्ट व्यवहार करके।" युवक का गला रुन्धा जा रहा था।

"मैंने अपनी उद्दण्डता के द्वारा आपकी आन्तरिक शान्ति का अपहरण करने के प्रयास में जो कुछ किया उसके लिये अत्यन्त लज्जित हूं।" रोआंसे स्वर से उसने अपना कथन जारी रखा।

"बेशक! उससे आपकी कोई हानि नहीं हुई, किन्तु मैंने अपनी ओर से उसमें कोई कसर नहीं छोड़ी!!"

"उस हानि का परिशोध तो मैं नहीं कर सकता, परन्तु यह साड़ी जो मैंने अपने पागलपन में तार-तार कर दी है, उसका मूल्य चुकाना तो जरूरी ही है। इससे आप जिस आर्थिक संकट में पड़ गये हैं, मेरे लिये अब वह असह्य है, इसलिये कृपा करके ये दो रुपए तो स्वीकार कर ही लीजिए!" कांपते हाथों से दो रुपये प्रस्तुत करते हुए उसने कहा।

सन्त की आंखों में गम्भीर सौम्यभाव छलक रहा था। उसने आश्वासन के स्वर में कहा—"युवक! तुम तो कहते हो कि तुमने मेरी हानि की है, पर मैं समझता हूं कि आज मुझे अपूर्व लाभ हुआ है। विजय विश्व के किसी लाभ से कम नहीं और आज मेरे द्वारा भ्रम पर सत्य की विजय हुई है! मेरा आज तक का साड़ियां वेचने का परिश्रम सफल हुआ है वत्स!"

सात्त्विक वात्सल्य से विभोर हो सन्त बोलता चला गया—"साड़ियां बेचना तो मात्र एक माध्यम था। वास्तव में तो मैं तुम्हारे जैसे सत्यार्थी की खोज कर रहा था। आज मेरा प्रयोजन सिद्ध हुआ।" उसका स्वर दार्शनिक हो चला था।

"तुम जो करना चाहते थे वह नहीं कर पाए और मैं जो करना चाहता था उसमें सफल हुआ हूं न? यह मेरी विजय है। इसीलिए मेरी तो कोई हानि नहीं हुई, पर स्मरण रखो, तुम अपने अपराध का जिस प्रकार, दो रुपये देकर प्रायश्चित्त करना चाहते हो वह कभी नहीं हो सकता!" फिर यकायक रुक कर युवक पर अपने वक्तव्य की प्रतिक्रिया देखने लगा था।

युवक के ग्लानि से म्लान चेहरे पर चिन्ता और प्रश्न की मिली-जुली रेखाएं स्पष्ट दिखाई दे रही थीं।

'और वह इसलिए' सन्त ने पुनः नीरवता भङ्ग की,—"क्योंकि इस वस्त्र को प्रकृति के मौलिक तत्त्वों से इस रूप में लाने तक जिस-जिस का परिश्रम हुआ है तुमने उन सबका अपमान किया है।"

"जानते हो परिश्रम का अपमान चेतना का अपमान है और चेतना का अपमान आत्मा का अपमान है। इससे भी बढ़ कर, तुमने कला—जो राष्ट्र, देश, जाति, समाज और व्यक्तिगत जीवन की शान और आत्मा की अद्वितीय शक्ति का बेजोड़ चमत्कार है उसका भी अपमान किया है और भी आगे कहूं तो तुमने मानव की अभाव-निवारिणी प्रतिभा का अपमान किया है, जिससे तुम दो रुपये देकर दोष-मुक्त होना चाहते हो।"

'क्या यह सच नहीं कि इस साड़ी के लिए पहले-पहल भूमि तैयार करने में, बीज बोने में, सिंचाई करने में, समय-समय पर गुड़ाई करने मे और फसल तैयार होने पर उसकी रक्षा करने आदि में जिस और जितने परिश्रम से काम लिया गया और बिनौले रूई अलग करने, रुई से सूत कातने, सूत से वस्त्र तैयार करने तक जितनी कलाओं और उन कलाओं के मूल में जितनी प्रतिभाओं और अभाव-निवारिणी भावनाओं का योगदान हुआ है, वह सब जिस आत्म-शक्ति का चमत्कार है, उस सबका एक साड़ी को इस स्थिति में पहुंचा कर तुमने जो घोर तिरस्कार किया है, इसकी अपेक्षा रखने वाले लोगों को इसके उपयोग से वञ्चित करके जो अपराध किया है, मानव-जीवन की उत्तमता को जो ठेस पहुंचाई है एवं किसी के काम आने रूप सेवा करके इस वस्त्र की जो सफलता होती उसमें जो बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित किया है, वह सब कदापि क्षम्य नहीं हो सकता?'

एक क्षण सांस लेकर सन्त ने आगे कहा—

"ज़रा सोचो, क्या तुम्हारी धन देने की चेष्टा ऐसी ही नहीं कि

कोई किसी मां के युवा पुत्र के जीवन को छिन्न-भिन्न अर्थात् समाप्त करके उस मां को उस पुत्र के अब तक के लालन-पालन आदि में हुए सारे खर्च को चुकाना चाहे और यह सोचे कि उसने उस मां से उसका पुत्र छीन कर जो अभाव पैदा कर दिया है उसकी पूर्ति हो गई है ?"

"क्या ऐसा करके वह उस मां की अपराध-कोटि से बाहर हो सकता है ? या उस मां के जीवन भर के दुख को सुख में बदल सकता है ? अथवा उस पुत्र के जीवित रहते उस मां की जो प्रसन्नता होती, उसे लौटा सकता है ?"

"याद रखो, उस मां के जीवन में जो अभाव उसने पैदा कर दिया है वह किसी भी सूरत में उसे पूरा नहीं कर सकता।

ठीक उसी प्रकार अनेक उत्तम भावनाओं, प्रतिभाओं और परिश्रमों से जो साड़ी बनी थी उसका जरूरत-मन्द के द्वारा उपभोग एवं उपयोग ही उन सबकी सफलता थी। इसके विपरीत उसे विरूप करके तुमने जो अकार्य किया है, जो अभाव पैदा कर दिया है, उसकी पूर्ति दो रुपये तो क्या दो लाख रुपये देकर भी नहीं हो सकती। एक साड़ी के विरूप होने का प्रश्न नहीं, उन सब प्रतिभाओं, परिश्रमों और भावनाओं को ठेस पहुंचाने का प्रश्न है !"

"विचारशील युवक ! यह तार-तार हुई साड़ी तो फिर भी जोड़ कर उपयोगी बनाई जा सकती है और उस ठेस को राहत दी जा सकती है, लेकिन ऐसी आदतें डाल कर आत्मा का जो स्वास्थ्य बिगाड़ लिया जाता है एवं इससे जो आत्मा का पतन और अन्य अस्तित्वों की अव्यवस्था उत्पन्न होती है, समय रहते यदि उसकी सम्भाल न की जाए तो फिर वह कभी दोबारा उपयोगी या स्वस्थ बनने में जल्दी-जल्दी सक्षम नहीं होती। उस पतन से उभरना उसके लिए दूभर हो जाता है और आत्मा के लिए दुर्गति प्राप्त होना प्रकृति के महान् चमत्कार की सबसे बड़ी विडम्बना है।"

मैं तुमसे यही आशा करता हूं कि तुम्हारे द्वारा भविष्य में कभी ऐसी विडम्बना नहीं होगी। क्या विचार है तुम्हारा ?"

सन्त ने अपने वक्तव्य का उपसंहार करते-करते युवक से प्रश्न कर दिया।

"ऐसा ही होगा गुरुदेव !" युवक श्रद्धा-विह्वल हो गया। भीगे नयनों और भरे दिल के साथ युवक ने गुरु-चरणों में मस्तक रख कर दण्डवत् प्रणाम किया।

"तुम्हारी यह विवेक-ज्योति दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करे !" आशीर्वचन कहते हुए सन्त ने उसे उठा कर गले से लगा लिया।



जब से गये हो माली



इक बाग मैंने देखा, अभिराम व सलोना।
"आत्म-सुमन" से सुरभित, था उसका कोना-कोना !!

था हर सुमन के मन में, मधु का भरा खजाना।
पर दुख में हर कली को, आता था हा ! सहलाना ॥

वसन्ती हवा में पलती, जिस की सदा जवानी।
मिलती नहीं थी जिस में, पतझर की इक निशानी ॥

अब बाग से वह रौनक, सब दूर जा रही है।
पतझर की अब बिमारी, हर ओर छा रही है ॥

हर फूल बाग का अब, त्रिशूल बन रहा है।
मधु-कोष उसके दिल का, पग-धूल बन रहा है ॥

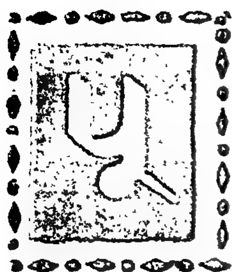
जब से गये हो माली, तुम छोड़ कर बगीचा।
हा ! प्यार से किसी ने, इस को नहीं है सींचा ॥

जो हर कली कली को, अमृत से सींचता था।
जो हर सुमन सुमन को, आंचल में थामता था ॥

अब है कहां वह माली, इस बाग का सयाना ?
भूला - हुआ विरह में, हा ! अमर 'कुमुद' गाना ॥

जो छोड़ कर गये वह, उद्यान अब कहाँ है ?
जो छोड़ कर गये थे, वह शान अब कहां है ?





वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्

(४१३-४४८)

महापुरुष की महानता में जाति, सम्प्रदाय एवं वेश का प्राधान्य नहीं रहता, उसमें प्राधान्य होता है उन अलौकिक गुणों को जो जीवन की सत्य-साधना से उद्भूत होते हैं। सत्य ही व्यक्ति को महापुरुष बनाता है और महापुरुष ही गुरु के सर्वोच्च आसन पर आसीन हो मानव-मात्र की हृदय-गुहा में प्रकाश बिखेरता है।





युग-द्रष्टा आचार्य-सम्राट परम-श्रद्धेय गुरुदेव

श्री आत्माराम जी महाराज



वैसे तो आचार्य श्री जी के व्यक्तित्व से सारा जैन समाज ही अच्छी तरह परिचित है, किन्तु गुजराती समाज श्रमण-संघ में सम्मिलित न होने के कारण उस महान् व्यक्तित्व से थोड़ा अपरिचित सा ही रहा है, परन्तु अब तो गुजराती समाज भी आचार्य श्री जी के अद्वितीय व्यक्तित्व से काफी परिचित हो चुका है।

किसी के भी जन्म-दिन पर किसी को स्मरण करने का उद्देश्य उसके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना होता है। जो इस दुनियां से चले गये हैं, उनको जब हम याद करते हैं तो उन महापुरुषों को तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होता, केवल उनके जीवन से कुछ प्रेरणा लेने के लिए हम उन्हें याद करते हैं और हम उनके जीवन पर दृष्टिपात कर यह देखते हैं कि उन्होंने अपनी जीवन-साधना द्वारा विश्व को क्या दिया था ? तथा उनके जीवन से हमको अपने जीवन का निर्माण करने के लिए क्या कुछ मिल सकता है ?

फूल का सौरभ फूल के साथ ही रहता है, चन्द्रमा की शीतलता उसके साथ ही रहती है, सूर्य का प्रकाश तथा तेज उसके साथ ही बन्धे रहते हैं, किन्तु महापुरुषों की गुण-सुगन्ध उनके साथ तो रहती ही है, किन्तु जब महापुरुष इस धरती से अपना काम करके—अपनी साधना और अपने कर्तव्यों का पालन करके चले जाते हैं, तो उनके जीवन

का सौरभ इस संसार में तो फैलता ही है, साथ ही उनके जाने के बाद भी वे युग-युगान्तरों तक इस संसार को सौरभान्वित करते रहते हैं। महापुरुष आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने हमको क्या दिया ? मैं इस सम्बन्ध में कुछ विचार आपके समक्ष रखूंगा।

आज से एक सौ दो वर्ष पूर्व पंजाब के एक छोटे से नगर 'राहों' में एक बालक ने जन्म लिया जिसका नाम 'आत्माराम' था। पिता का नाम "श्री मनसाराम" तथा माता जिसकी 'परमेश्वरी' थी, मानो 'परमेश्वरी' ने एक 'परमेश्वर' को ही जन्म दिया हो।

बालक आत्माराम को इस धरती पर शुरू से ही जीवन की कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। संयोग से उसे जैन सन्तों का सम्पर्क मिला, मन में वैराग्य की ज्योति जागृत हुई, धीरे-धीरे वैराग्य त्याग में बदल गया और बारह वर्ष की छोटी आयु में ही वह बालक संयम के मार्ग का पथिक बन गया। गुरुजनों के आशीर्वाद से विद्या-ध्ययन करने लगा।

विनय तथा भक्ति से वह आगे बढ़ता गया, संस्कृत, प्राकृत तथा जैन-आगमों का प्रगाढ़ अध्ययन करके सारे समाज में उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

जैन-धर्म पुरुषार्थवादी धर्म है। जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति पुरुषार्थ से अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है, यहां तक कि इन्सान भगवान भी बन सकता है। इस तथ्य को श्री आत्माराम जी महा-राज ने समझा और संयम-साधना के लिये अविराम पुरुषार्थ करना आरम्भ किया। केवल छत्तीस वर्ष की आयु में वे पंजाब सम्प्रदाय के उपाध्याय बन गये।

किसी समय पंजाब के महान् आचार्य श्री काशीराम जी महाराज विहार करके राजस्थान तथा गुजरात से होते हुए पंजाब से बम्बई पहुंचे। सारे भारत में धर्म का प्रचार करके जब वे वापिस अम्बाला आये तो एक लम्बी बीमारी के पश्चात् उनका देवलोक-गमन हो गया। उसके बाद पंजाब-संघ यह सोचने लगा कि पंजाब का नेतृत्व किस

महापुरुष को अर्पित किया जाये। बात यह है कि किसी को भी अधिकार देने से पूर्व उसकी योग्यता को देखना ही पड़ता है। शास्त्रों ने आचार्य को सारथी की उपमा दी है। जैसे सारथी रथ को चलाता है, ऐसे ही आचार्य संघ का सारथी होता है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ये शासन रूपी रथ के चार घोड़े हैं और इस शासन की बागडोर जिस महान् व्यक्तित्व के हाथ में रहती है उसको आचार्य कहते हैं। सारे शासन को सुचारु रूप से चलाना, नव दीक्षितों का मार्ग-दर्शन करना, वयोवृद्धों को सम्भालना, संघ को समय-समय पर ठीक गति देना, साधु-साध्वियों की ठीक सेवा हो और सभी क्षेत्रों में धर्म का ठीक-ठीक प्रचार हो, इस बात का जो पूरा-पूरा ध्यान रखे, जो सब तरह से योग्य, कुलीन तथा जातिवन्त हो, जिसका विविध भाषाओं पर अधिकार हो जो देशज्ञ तथा समयज्ञ भी हो—उसे ही आचार्य-पद से विभूषित किया जाता है।

पंजाब श्री-संघ की नजर श्रद्धेय श्री आत्माराम जी महाराज पर पड़ी जो उस समय पंजाब के उपाध्याय थे। सं० २००३ में सर्व-सम्मति से उनको लुधियाना नगर में आचार्य-पद से अलंकृत किया गया।

बहुत देर पहले से एक आचार्य की योजना चल रही थी। अजमेर सम्मेलन में इस दिशा में प्रयास किये गये, किन्तु उस समय यह स्वप्न साकार नहीं हो सका। सादड़ी में इस स्वप्न का फलादेश अति सुंदर एवं मंगलमय रहा। उस सम्मेलन में बत्तीस सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपना-अपना आचार्य-पद छोड़ा। आचार्य-पद पाकर फिर उसे छोड़ देना मुश्किल है। मानव में क्रोध अधिक नहीं माना गया है, 'क्रोध' नारकी में अधिक होता है, 'लोभ' देवता में अधिक होता है, माया तिर्यञ्च में अधिक होती है और 'मान' मनुष्य में अधिक होता है। मानव सब कुछ छोड़ सकता है; किन्तु मान को नहीं छोड़ पाता। 'मान' के लिए लाख रुपये का त्याग किया जा सकता है, यह ऊपरी दृष्टि से त्याग हो गया ? किन्तु त्याग का केन्द्र केवल किसी चीज़ को छोड़ देना

नहीं है, चीज़ को छोड़ देने के बाद लोभ-वृत्ति को भी छोड़ना चाहिए, यही वास्तविक त्याग है।

एक बड़ा वृत्त बनाया जाये और एक छोटा वृत्त बनाया जाये। हर वृत्त में ३६० अंश का कोण बनता है, चाहे वृत्त छोटा हो या बड़ा। इसी प्रकार पहले जिसका मोह एक लाख रुपये में फैला हुआ था, उसने एक लाख रुपये देकर 'मान' खरीद लिया। वह 'मान' दो पंक्तियों में आ गया। इसका अर्थ यह है कि उसका फैला हुआ 'मोह' संकुचित होकर एक मान के केन्द्र में आ गया, परन्तु अभी तक उसका 'मान' कहां छूटा है ? किसी भी व्यक्ति द्वारा मान छोड़ना कठिन है।

'मान' वही छोड़ सकता है जो अपमान को सहन कर सकता है, जो अपमान को सहन नहीं कर सकता, निश्चित ही उसके अन्तःकरण में मान विद्यमान है

बत्तीस सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने आचार्य-पदों का मोह छोड़ा और आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज को सारे भारत का आचार्य-पद प्रदान किया गया।

एक समय था जब कि बारह वर्ष का बालक अनथक पुरुषार्थ करके एक आदर्श साधु बना, फिर वह आदर्श साधु उपाध्याय पद पर आया, फिर पंजाब सम्प्रदाय का आचार्य-पद संभाला और फिर अखिल भारतीय स्थानकवासी समाज का वह प्रधानाचार्य बना। जिस महापुरुष के जीवन पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं, भला मैं छोटा सा साधु थोड़े से शब्दों में उसके जीवन की सारी झांकी आपको दिखा दूं, यह मेरे लिए बहुत कठिन होगा। उनके जीवन की जो कुछ महत्वपूर्ण बातें हैं, वही मैं बतला सकता हूं।

जिस महापुरुष ने नवकार मन्त्र के तीन पदों को अपनी साधना से प्राप्त किया, वह सन्त कितना महान होगा ? और लोगों के मनों में उसका कितना स्थान होगा ? यह आपको उसकी उपलब्धियों से ही ज्ञात हो सकता है।

मुझे उनके चरणों में जीवन के चौदह वसन्त व्यतीत करने का

सौभाग्य मिला। सबसे अन्त में उनके चरणों में स्थान पाने का श्रेय मुझ नाचीज़ को ही प्राप्त हुआ।

मैं इन शब्दों द्वारा यह कह रहा हूं कि उनके शिष्य-परिवार में मैं सबसे छोटा हूं और छोटा बहुत प्रिय होता है, छोटा सबके प्रेम का पात्र होता है। गृहस्थ जीवन में भी देखा जाता है कि माता-पिता हमेशा छोटे बच्चे से अधिक प्यार करते हैं। उनकी अपार कृपा के कारण ही मैं कुछ अध्ययन कर सका। मैं कभी थोड़ा प्रमाद भी कर जाता तो वे स्वयं मेरे कमरे में पहुंच जाते और कहते—"अरे मनोहर! तुम आज पाठ लेने के लिए नहीं आये, सूत्र-पाठ में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। लोग तो आते-जाते ही रहेंगे। मैं तुमसे कहता हूं कि अभी तुम जो पढ़ लोगे और मेरे रहते हुए तुम जो कुछ सीख लोगे तो यह अभी का सीखा हुआ कभी तुम्हारे काम आयेगा।" मैंने उनके चरणों के अति निकट बैठकर उनके जीवन को देखा है। मैं उनके जीवन की तीन बातें आपके समक्ष प्रस्तुत करूंगा।

१. आगम-साधना—

पहली साधना उनकी है "आगमों की साधना।" वह युग ऐसा था जब कि उपाश्रयों में आलोक नहीं होता था। अब तो उपाश्रयों का रंग-ढंग बहुत बदल गया है, पंखे तक भी उनमें आ गये हैं। एक वह समय था जब कि उपाश्रयों में एक दियासलाई का जलाना भी मना था, एक दिन मैं उनके चरणों में बैठा हुआ था तो वे कहने लगे—

"देखो, हमने ये आगम कैसे पढ़े हैं, तुम्हें मालूम है? हम दिन के समय एक कागज पर बड़े-बड़े मोटे अक्षरों में आगम के पाठ लिख लेते थे और चांदनी रात की प्रतीक्षा करते रहते थे। जब चांदनी रात आती तो उसके आलोक में बैठ कर हम आगमों के पाठों को कण्ठस्थ करते थे। तब चन्द्रमा की चांदनी में हमने एक-एक गाथा तथा एक-एक पाठ को रट-रट कर आगमों को कण्ठस्थ किया है। आगमों के पाठ उनको कण्ठस्थ थे। बड़ी उम्र में उनकी आंखों की ज्योति कुछ मन्द हो गई थी। मैं उनके चरणों में बैठ कर जब पढ़ता था और कभी शास्त्र का कोई स्थल निकालना होता था तो वे बोलते कि अमुक पृष्ठ

निकालो। मुझे जब निकालने में दो-चार मिनट लग जाते तो वे कहते कि—"क्या अभी तक पाठ ही नहीं निकला ?" तो वे शास्त्र अपने हाथ में लेकर अपने अनुमान से यदि ग्रन्थ-पृष्ठ को खोल देते थे तो वहीं से वह अभीष्ट पाठ निकल आता था। आगमों का अभ्यास उनका इतना प्रगाढ़ और प्रौढ़ था।

मैंने देखा है कि कहीं पर भी जब शास्त्रों के विषय में कोई चर्चा उठती थी तो उनके चरणों में शास्त्र-चर्चा के लिए कुछ व्यक्ति अवश्य भेजे जाते थे। उनका निर्णय अन्तिम होता था। सबसे पहले पंजाब श्री-संघ में शास्त्रों के अध्ययन और प्रकाशन का कार्य आचार्य श्री जी ने ही प्रारम्भ किया था।

पुराने समय में साधु लोग शास्त्र लिखते नहीं थे, उसमें दोष मानते थे। लेकिन आचार्य श्री जी ने पुराने युग में जन्म लेकर भी नये युग के साथ समझौता किया। वे कहा करते थे कि—'देशकाल के साथ जो धर्म नहीं चलता वह नष्ट हो जाता है। जीवन में आचार भी चाहिये और विचार भी चाहिए। वीणा के तारों को बहुत अधिक खींचा जाये तो तारें टूट जाती हैं, यदि उन्हें अत्यधिक ढीला छोड़ दिया जाये तो फिर भी आवाज़ नहीं निकलती। इसलिये वीणा के तारों को न अधिक खींचना चाहिये और न अधिक ढीला छोड़ना चाहिए। इसी तरह आचार को अधिक कड़ा कर देने से व्यक्ति में उदासीनता आ जाती है और आचार को अधिक शिथिल कर देने से उसका लक्ष्य साधक के जीवन से दूर चला जाता है।"

आचार्य श्री जी आचार तथा प्रचार दोनों के पक्ष में थे। वे कहते थे कि "प्रचार आचार के साथ होना चाहिये। व्यक्ति यदि आचार को छोड़ता जायेगा तो वह बिल्कुल आचारहीन हो जायेगा। जो व्यक्ति आचारहीन होगा वह क्या प्रचार करेगा? आचार के बिना प्रचार का प्रभाव नहीं होता और आचार का पालन करने लिये प्रचार की भी आवश्यकता रहती है।"

आचार्य श्री जी आचार और विचार का समन्वय चाहते थे।

पुराने युग के आचार्य हो कर भी वे नये युग के नये चिन्तन के साथ सदैव समन्वय करते रहे। जिस युग में शास्त्रों के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध था, संस्कृत पढ़ने का निषेध था, उस समय आचार्य श्री ज़ी ने शास्त्रों का सरल हिन्दी में अनुवाद करके जनता के सामने रखा, ताकि जन-मानस को भी अपने ग्रन्थों की गहराई एवं सच्चाई का कुछ पता लग सके। यह आचार्य श्री के जीवन का एक महत्वपूर्ण काम था जिसे स्थानकवासी समाज कभी भूल नहीं सकता।

२. समन्वय-पुरुष

आपने अपने जीवन में समन्वय की दिशा में एक और महत्वपूर्ण काम किया। आपने एक ग्रन्थ लिखा—'तत्वार्थ-सूत्र और जैन आगम समन्वय।'' 'तत्वार्थ-सूत्र' यह दिगम्बर आम्नाय का ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु वह श्वेताम्बरों में भी मान्य है। उन्होंने इस ग्रन्थ का आगमों के साथ समन्वय किया और यह सिद्ध किया कि 'तत्वार्थ-सूत्र' जैन आगमों से ही उद्धृत किया गया है। यह उनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है। उनका विचार था कि दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दोनों सम्प्रदाय भगवान महावीर के युग में ही थे। दिगम्बर जिन-कल्पी का अर्वाचीन रूप है और श्वेताम्बर स्थविर-कल्पी का नवीन रूप है। दोनों ही सम्प्रदाय एक ही डाली के दो फूल हैं। आचार्य श्री जी समन्वयवादी थे, वे हर दृष्टि का समन्वय करते थे और समन्वय करके सर्वत्र एकता लाने का प्रयत्न करते थे।

किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी आचार्य लुधियाना में आता तो वह आचार्य श्री जी के दर्शन किये बिना नहीं जाता था। कोई भी व्यक्ति—बच्चा, बूढ़ा, छोटा, बड़ा, गरीब, अमीर किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति जो उनके चरणों में आ जाता था उसको ऐसा लगता था कि आचार्य श्री जी उसी के हैं—वे मेरे से ही प्रेम करते हैं और फिर दूसरी बार उनके चरणों में आए बिना वह रह नहीं पाता था। जो भी आता था उसको उनसे प्रेम मिलता था, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता था। जो भी उनके चरणों में आ जाता था वह हमेशा के लिए उनका हो जाता था।

एक बार जर्मनी से एक विद्वान् आया था, वह पन्द्रह दिनों तक आचार्य श्री जी के चरणों में रहा। जैन धर्म पर वह कोई शोध-कार्य कर रहा था। उसके मन में कुछ जिज्ञासाएं तथा शंकाएं थीं और वह उनका समाधान चाहता था। वह शिमला में पहुंचा तो वहां पर उसको पता चला कि लुधियाना में एक विद्वान् जैन आचार्य हैं, वे ही आपकी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं। शिमला से वह लुधियाना आया। उन दिनों पर्युषण-पर्व चल रहा था। आचार्य श्री जी ने उसे इतना प्रेम दिया जैसे कि वह अपने से सर्वथा अभिन्न हो। आचार्य श्री जी विद्वानों का बहुत सम्मान करते थे। वह विद्वान् संस्कृत तथा प्राकृत का पण्डित था। वह प्राकृत में भी अच्छी तरह बोल सकता था। बहुत से शास्त्रों के पाठ भी उसको कण्ठस्थ थे, किन्तु वह शास्त्र-रहस्य का जिज्ञासु था।

आचार्य श्री जी के सामने उसने बहुत से जटिल प्रश्न रखे। आचार्य श्री जी ने उन सबका युक्ति-युक्त समाधान किया। वह लगभग पन्द्रह दिन लुधियाना में ठहरा और अपने देश को वापिस जाता हुआ आचार्य श्री जी के कितने ही फोटो वह अपने साथ ले गया था जाते समय उसने कहा था—"मेरी शंकाओं का समाधान जो कहीं से नहीं मिल पाया था वह समाधान मुझे आचार्य श्री जी के चरणों में मिल पाया है। मैंने अपनी ज़िन्दगी में जैन आगमों का इतना बड़ा विद्वान् कभी नहीं देखा।"

३. त्याग-मूर्ति—

आचार्य श्री जी के जीवन का तीसरा गुण-रत्न था त्याग। वे कहा करते थे कि "यदि आप घर में तथा संघ में शान्ति चाहते हैं तो आपको एक दूसरे के लिये त्याग करना सीखना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री जी एक उदाहरण दिया करते थे। वे कहा करते थे कि **"नौका पानी में ही चलती है, दलदल में वह नहीं चल सकती। जैसे दलदल में नौका नहीं चल सकती वैसे ही क्लेश में किसी परिवार समाज तथा संघ की कभी वृद्धि नहीं हो सकती।"**

क्लेश होता क्यों है? वस्तुतः अधिकारों की छीना-झपटी से क्लेश

होता है। जब किसी के अहं को कोई ठेस लगती है तो फिर वह व्यक्ति संघर्ष करने की ठान लेता है, संघर्ष का मूल परिग्रह है तथा परिग्रह का मूल अभिमान है। यदि व्यक्ति अपने मन से परिग्रह का त्याग करदे तो फिर संघर्ष और क्लेश का कोई कारण नहीं रह जाता। आप अपने सुख की अपेक्षा दूसरे को ज्यादा सुख दें तो वह त्याग होगा। त्याग होने से संघर्ष नहीं होगा। संघर्ष नहीं होगा तो क्लेश भी नहीं होगा और क्लेश के अभाव में आपको परम शान्ति मिलेगी। शान्ति रहेगी तो सामायिक-योग स्थिर रहेगा—समता की साधना अक्षुण्ण बनी रहेगी। समता होगी तो वीतरागता भी आयेगी, वीतरागता आयेगी तो व्यक्ति फिर अवश्य पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकेगा।

व्यक्ति बहुत कुछ कर सकता है, किन्तु जल्दी से त्याग नहीं कर सकता। यदि वस्तु का त्याग कर भी देता है तो मान का वह त्याग नहीं कर पाता। जीवन में सच्चा त्याग आने से सभी समस्याओं का समाधान अपने आप ही हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना अधिक उपयुक्त रहेगा।

आकाश से जब पतंग नीचे गिरती है तो आपने देखा होगा कि कुछ बच्चे उस पतंग को पकड़ने के लिए दौड़ पड़ते हैं। प्रत्येक बालक यह चाहता है कि पतंग को मैं पकड़ लूं, किन्तु आपने कभी ध्यान दिया होगा कि एक बालक पतंग पकड़ता है तो दूसरा भी उस पर हाथ मारता है और उस छीना-झपटी में पतंग फट जाती है। जब पतंग फट जाती है तब सभी ढीले पड़ जाते हैं। सब को यह इच्छा होती है कि पतंग मेरे पास ही आनी चाहिए किसी साथी के पास नहीं जानी चाहिए। वैसे तो सब साथी हैं, एक ही गली में खेलते हैं, इकट्ठे बैठते हैं, अपने आपको हमजोली समझते हैं, किन्तु जब पतंग सामने आती है तो सब की दृष्टि यह रहती है कि वह पतंग मेरे साथी के पास नहीं जानी चाहिए। जरा सोचिये कि यदि पतंग सुरक्षित रूप में दूसरे के पास चली जाये तो इसमें दुःख की क्या बात है? यही न कि दूसरा पतंग या डोर ले गया है। दूसरे के सुख को अन्य सहन नहीं कर सकता, किन्तु पतंग के फट जाने पर उसे सभी सहन कर लेते हैं। मानव की

यह वृत्ति कितनी निकृष्ट है। इस मानवीय दौर्बल्य से बचने के लिए आचार्य श्री जी के जीवन के तीन प्रेरक तत्त्व आप याद रखें, भूले नहीं।

४. तीन स्मरणीय बातें

पहला है 'स्वाध्याय', वे स्वाध्याय को जीवन कहते थे, स्वाध्याय से ही व्यक्ति के जीवन में आत्म-ज्ञान की ज्योति जागृत होती है और ज्ञान से व्यक्ति कर्तव्य को समझने लगता है।

दूसरा तत्त्व है—'मैत्री', मैत्री को बढ़ाने के लिए व्यक्ति को उदार होना पड़ता है।

तीसरा तत्त्व है 'त्याग', क्लेश एवं अनावश्यक संघर्ष से बचने के लिए व्यक्ति को त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

यदि यह तीन सूत्र मानव के जीवन में आ जायें तो उसका जीवन स्वच्छ एवं सुन्दर बन सकता है।

एक बार नालन्दा के पाली विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता बौद्ध भिक्षु श्री जगदीश चन्द्र काश्यप आचार्य श्री से मिलने के लिए लुधियाना आये थे। जैनागमों तथा बौद्ध-पिटकों में पारस्परिक कितना साम्य है? इस सम्बन्ध में आचार्य श्री जी ने कितने ही समान पाठों के उद्धरण प्रस्तुत किये। जिससे आचार्य श्री जी के समन्वयवादी दृष्टिकोण से वे बौद्ध भिक्षु बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने जैन गर्ल्स हायरसेकेण्ड्री स्कूल में अपने सम्मान में रखी हुई एक सभा में आचार्य श्री जी के मैत्री-पूर्ण उदार स्वभाव की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

आचार्य श्री संसार से चले गये हैं और मैं भी रहनेवाला नहीं हूं। एक दिन मेरा और सब का जाना भी अनिवार्य है। मृत्यु का दिन सबके लिए निश्चित है। आज उनकी हम याद कर रहे हैं और हम भी यदि कुछ अच्छा काम करें तो दुनियां कभी हमें भी याद कर सकती है। एक महामानव सारे विश्व के लिए एक ज्ञान का प्रदीप होता है, जो कि अपने जीवन-काल में भी प्रकाशित होता है और उसका जीवन-दीप बुझ जाने पर भी वह प्रकाश देता रहता है।

आपके स्वर्गारोहण पर सारा लुधियाना बन्द हो गया था, लगभग ढाई लाख लोग आपकी अन्तिम यात्रा में सम्मिलित हुए थे ।

भाद्र-पद शुक्ला द्वादशी उनकी जन्म-तिथि है और ३० जनवरी उनकी पुण्यतिथि है, किन्तु जो महापुरुष इस दुनिया से चला गया है उसका आप जन्म-दिन मनायें या पुण्यतिथि, दोनों में जीवन-प्रसंग तो समान ही रहेंगे। यह इस तथ्य का सजीव प्रमाण है कि उन्होंने जन-जन के मन में अपना प्रेम बसाया था, उनके देवलोक-गमन पर लोग अपनी आंखों के गरम-गरम आंसुओं से अपने मन के विरहानल को ही बुझा रहे थे !

अपने जीवन में तो व्यक्ति अपनी वाणी से भी जन-मानस को उद्‌बुद्ध करता है, किन्तु इस नश्वर संसार से महाप्रयाण करने के पश्चात् तो महापुरुष के मूक जीवन के अन्तरङ्ग से केवल उसका आदर्श ही बोलता है, वही संसार के लिए प्रेरक होता है। यदि हम उनके जीवनोद्यान के सुरभित गुण-पुष्पों से स्वयं को अलङ्कृत करें तो यही उनके चरण-सरोजों में हमारे श्रद्धा-सुमनों का एक सजीव समर्पण होगा।



४२

जैन शासन के कोहेनूर उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द्र जी महाराज



वन्दनीय 'श्रमण' श्री फूलचन्द्र जी महाराज के साधनामय जीवन में मुझे सदैव निष्ठा रही है। श्रमण जी महाराज में मेरी श्रद्धा का कारण यह नहीं कि वे मेरे अपने परिवार के सन्त थे, बल्कि उनमें मेरी आस्था का आधार रहा है रत्नत्रय की जीवन-स्पर्शी साधना। रत्नत्रय में भी चारित्र सर्वोपरि रहता है। चारित्र भी वह जो व्यवहार, प्रदर्शन एवं दम्भ से अलिप्त रह कर आत्मा के अन्तर्वैभव 'सामायिक योग' को जन्म देने में सक्षम हो। ऐसे ही चारित्र का एक कमनीय तथा सुरभित फूल श्री फूलचन्द्र जी महाराज की जीवन-वाटिका में अम्लान एवं विकसित रूप में मुझे सदा ही दृष्टिगोचर होता रहा है और अब भी वह फूल अपनी सहस्रसहस्र पंखुड़ियों से श्रमण-संघ तथा जैन-शासन को सौरभान्वित कर रहा है।

मैं वर्षों तक श्रमण जी के चरणों में रहा हूं। उनके संयम-निष्ठ जीवन को निकट से देखने का सौभाग्य मुझे मिलता रहा है। श्रद्धा की आंखें सदैव जीवन के शुक्ल पक्ष पर ही रहती हैं। श्रद्धा सम्यक् दृष्टि से मिलकर जीवन-शुक्ति में से गुण-मुक्ताओं को निकाल लाने में समर्थ होती है। जैसे आकाश के तारों, धरती के रज-कणों, वर्षा के जल-बिन्दुओं, सागर की लहरों तथा मानव-हृदय की विचार-तरंगों की गणना

करना असम्भव है, ऐसे ही श्रमण जी के त्याग एवं वैराग्य - प्रधान ज़ीवन की समस्त गुण-राशि को कथनी व लेखनी की परिधि में लाना किसो भी वक्ता तथा लेखक के लिये सम्भव नहीं है। शायद मेरी इन पंक्तियों में किसी को अतिशयता की गन्ध आने लगे, किन्तु मैं यह तथ्य स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह केवल मेरी श्रद्धा का अतिरेक ही नहीं, वल्कि इसमें मेरी लेखनी का विवेक भी है। मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए कभी कुछ नहीं लिखता। मुझे जो भी सत्य एवं यथार्थ लगता है उसे ही मैं प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता हूं।

मैं श्रमण जी को एक 'महापुरुष' समझता हूं। यह वसुन्धरा केवल एक ही नहीं, वल्कि अनेकों महापुरुषों से अलंकृत रही है। महापुरुष की महानता में जाति, सम्प्रदाय एवं वेश का प्राधान्य नहीं रहता, उसमें प्राधान्य होता है व्यक्ति के उन अलौकिक गुणों का जो जीवन की सत्य-साधना से उद्भूत होते हैं। सत्य व्यक्ति को महापुरुष बनाता है और महापुरुष ही गुरु के सर्वोच्च आसन पर आसीन हो मानव मात्र की हृदय-गुहा में प्रकाश विखेरता है, ऐसे ही गुरु के लिये शायद निम्न दोहा किसो के अन्तरंग से निकला होगा। यह दोहा पढ़ने में पुराना सा लगता है, किन्तु जब हृदय में नवीन चिन्तन का उन्मीलन होता है तो फिर सब कुछ नया ही नया लगने लगता है। वह दोहा है :—

सात समुद को मसि करौं, लेखनी सब बनराय।
सब कागज धरती करौं, गुरु-गुण लिखा न जाय।

जब मैं श्रमण जी के चरणाम्बुजों के समीप था, उस समय वे न तो उपाध्याय थे और न ही प्रवर्त्तक पद से वे अलंकृत हुए थे। वे केवल नवकार मन्त्र के पंचम पद का ही स्पर्श करते थे। यह पद तो साधक के जीवन में सदैव बना ही रहता है, भले ही वह उपाध्याय बन जाये या आचार्य। साधु-पद की साधना ही साधक को पदों तथा उपाधियों से विभूषित करती है। श्रमण जी ने अपने जीवन में साधुत्व की बहुत ऊंची साधना की है। उनका ध्यान सदैव आदर्श पर रहा है और वे सदैव उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

आकाश के असख्य तारों में जैसे सप्त ऋषि अपनी अलौकिक

आभा रखते हैं, इसी तरह 'श्रमण' जी के आध्यात्मिक जीवन के गुण-गगन में सत्य, सरलता, सादगी, सौम्यता, सहृदयता, समता तथा सहिष्णुता रूप सप्त सकार अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे समाज के श्रद्धा-केन्द्र बने।

अपने विहार-काल में वे श्रद्धेय श्री प्रेमचन्द जी महाराज के एक अभिन्न सहयोगी रहे हैं। श्री प्रेमचन्द जी उनके बड़े गुरु भाई थे। इस मधुर एवं अटूट सम्बन्ध का कारण था श्रमण जी का अपना नम्र एवं विनीत स्वभाव। इनके कोमल हृदय के आगे श्री प्रेमचन्द जी महाराज भी एक प्रेम की मूर्ति बनकर रह जाते थे।

श्रमण जी युग-धर्म की अपेक्षा आत्म-धर्म में अधिक श्रद्धा रखते थे। वे सामाजिक साधना से अधिक विश्वास रखते थे वैयक्तिक साधना में।

श्रमण जी के हाथ में पंजाब संघ का शासन-सूत्र भी आया। वैसे एक आत्म-ज्ञानी मुमुक्षु पुरुष अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य पर शासन नहीं करता, किन्तु अपना दायित्व निभाने के लिए उसे संघ-धर्म का पालन भी करना पड़ता है। शासन कितना ही न्याय पर आधारित क्यों न हो, वह विपक्षी वर्ग के अहंजन्य विरोध को उभार ही देता है। इस तरह कहीं राग तो कहीं द्वेष का वातावरण निष्कारण ही बन जाता है। साधक की साधना का लक्ष्य है राग-द्वेष पर विजय पाना। जो साधक साधना-निरत हो कर तथा राग-द्वेष से अलग रह कर संघ का शासन-सूत्र सम्भालता है वह श्रमण धन्य है, वन्द्य है।

श्रमण जी जैन शासन के ऐसे कोहेनूर हीरे थे, जिसकी चमक उसके अभाव में भी चारों ओर फैल रही है और फैलती रहेगी, क्योंकि यह चमक उनके शाश्वत साधनाशील आत्म-तत्व की है।



४३

भारत के दिव्य गगन में चमकता अलौकिक दिवाकर



इस गगन-मण्डल पर दिवाकर का उदयास्त अनन्त बार हो चुका है, क्षितिज पर इसका शुभागमन इस धरती पर दिव्य प्रकाश लेकर आता है और अस्ताचल की ओर इसका प्रयाण धरती पर अन्धकार का गहनावरण डाल देता है, किन्तु महापुरुष एक ऐसा दिवाकर है कि जब इस संसार में उसका उद्भव होता है तो वह अपने साथ दिव्य-संस्कारों का अनन्त प्रकाश लेकर आता है और जब तक वह इस दुनिया में रहता है तब तक वह लोक-मानस के सचेतन धरातल पर अपने जीवन के तप, त्याग, सत्य, संयम, माधुर्य मैत्री, सौहार्द, स्नेह तथा उपदेश-वाणी की प्रकाश किरणें बिखेरता रहता है, किन्तु जब वह इस नश्वर जगत से मृत्यु के अस्ताचल की ओर महाप्रयाण कर जाता है तब भी वह इस धरा पर अपने पावन एवं पुनीत आदर्शों का अनन्त प्रकाश छोड़ कर जाता है। आकाश के उस दिवाकर में और धरती के इस दिवाकर में यही अन्तर है। यह अन्तर भी कोई कम नहीं है, यह वह अन्तर है जो एक को लौकिक और दूसरे को अलौकिक बना देता है। जड़ दिवाकर और चेतन दिवाकर में इतना अन्तर तो होना ही चाहिये। जड़ सूर्य सदैव पूर्व दिशा में उदित होता है और पश्चिम में अस्त हो जाता है, किन्तु चेतन सूर्य के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

महापुरुष रूप दिवाकर इस धरती पर किसी भी दिशा से प्रकट हो सकता है। उसके लिए दिशा का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उस दिशा-मुक्त दिवाकर का अस्त भी इस धरती पर कहीं भी हो सकता है। तत्त्व-दृष्टि से देखा जाये तो दुनिया में महापुरुष का अस्त कभी होता ही नहीं, क्योंकि उसके सजीव आदर्श लोक-मानस में ज्ञानालोक के रूप में सदैव उदित रहते हैं। केवल इस धरातल पर चर्म-चक्षुओं के लिए उसका अदर्शन ही उसका 'अस्त' होना है।

जैन - दिवाकर मुनिराज श्री चौथमल जी महाराज इस धरती के एक ऐसे ही ज्ञान एवं चारित्र के प्रकाशमान दिवाकर थे। आपका उदय मध्य प्रदेश के नगर नीमच में हुआ और उनके पार्थिव शरीर का अस्त हुआ कोटा की धरती पर। किन्तु आपका स्मरण-सूर्य हर हृदय-गगनांगन में जैन-दिवाकर के रूप में आज भी उदित है। दुनिया के मनो-गगन से वह कभी अस्त नहीं हुआ। अवश्य उस व्यक्तित्व में कुछ वैशिष्ट्य होगा। नहीं तो दूसरों के अन्तःकरण रूप आकाश में सूर्य बन कर चमकना कोई साधारण बात नहीं है।

गंगाराम की आंखों का तारा और केसरा देवी के कुल का दीपक आगे चल कर "जैन-दिवाकर" बन जायेगा, प्रकृति के इस गुप्त रहस्य को कोई नहीं जानता था।

दुनिया में जीव कर्म से बन्धा हुआ चला आता है और मृत्यु के आने पर चला जाता है। आने और जाने में कोई विशेषता नहीं। "मानव इस धरती पर अपने जीवन-काल में रहता किस तरह से है?" उसके व्यक्तित्व का सारा रहस्य इस तथ्य पर ही आधारित रहता है। केवल जीवन-यापन मात्र जीवन का कौशल नहीं है।

मानव अपने साथ मोह लेकर आता है। सारी उमर वह अपने मन, वचन और काया के कर्म-जल से उस मोह का सिंचन करता रहता है, स्व-सुख से बन्धा हुआ जीव केवल मोह को ही बढ़ाता है और मोह-शील व्यक्ति जीवन भर दुख और कर्म-बन्ध के रूप में उस मोह-वृक्ष के कटु फल भोगता रहता है, किन्तु कभी पूर्व जन्मों के पुण्योदय से व्यक्ति के अन्तरंग में सद्ज्ञान का जन्म हो जाता है।

ज्ञानोदय जीवन की वह मंगल-वेला है जिस वेला में मानव के मिथ्या मोह का उपशमन होने लगता है, उसे अपनी आंखों के सामने अपनी आत्मा का दिव्य प्रकाश एवं शाश्वत सुख नजर आने लगता है। वह जगत के समस्त चेतन एवं अचेतन सम्बन्धों के नागपाश से मुक्त होने के लिये अधीर हो उठता है। चित्त की इस विरक्त दशा को शास्त्रीय-भाषा में वैराग्य कहा जाता है।

श्री चौथमल जी महाराज के हृदय में एक ऐसा ही सच्चा एवं पक्का वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे त्याग के शिखर पर चढ़ने लिए बेचैन हो उठे। वैराग्य और त्याग के बीच में संघर्ष की एक विकट घाटी साधक को पार करनी पड़ती है। उसके हृदय में लगन एवं धैर्य का जितना अधिक वेग होता है उतनी ही जल्दी वह उस विषम स्थल से आगे समता की पावन भूमि पर पहुंच जाता है।

श्री जैन-दिवाकर जी के जीवन-चरित के अध्ययन से मालूम होता है कि उन्हें भी त्याग-पथ के पथिक बनने के लिए अनेक ऐसे ही घोर संघर्षों का सामना करना पड़ा। स्मरण रहे कि व्यक्ति को विराग का भूमिका पर आने के लिए सबसे पहले अपने ही हृदय के मोह-पिशाच से लड़ना पड़ता है। इस संघर्ष में वर्षों भी बीत सकते हैं, किन्तु जब साधक इस द्वन्द्व-युद्ध में पूर्ण विजयी होता है तभी वह ज्ञान-गर्भित-वैराग्य की उच्च भूमिका पर आरोहण कर पाता है। इसके पश्चात् त्याग की चोटी पर पहुंचने के लिए साधक के जीवन में बाह्य जगत् के मोहक सम्बन्धों का संघर्ष शुरू होता है। इस संघर्ष में कभी वर्षों लग जाते हैं और कभी वह कुछ दिनों में ही समाप्त हो जाता है। जो साधक अपने भीतरी मोह पर विजय पा लेता है उसके पगों में फिर मोह की स्वर्ण-शृंखला कोई नहीं डाल सकता। उसे साधना एवं संयम-पथ के लिए स्वयं को सहमत करने की अपेक्षा इस मार्ग का अनुगामी बनने के लिए दूसरे बन्धुओं की सहमति प्राप्त करना अधिक दुष्कर नहीं होता। वैराग्य की चट्टान से दुनिया के किसी भी मोह को टकराने की हिम्मत नहीं हो सकती। बन्धुओं का मोह वैराग्य से टकराता नहीं केवल झूठे प्रलोभन दिखला कर फुसलाता है, किन्तु ज्ञानी

इस फुसलाहट में नहीं आता।

श्री चौथमल जी महाराज के जीवन-पृष्ठ देखने से ज्ञात होता है कि वे प्रयत्न करने पर भी किसी प्रलोभन के जाल में नहीं फंसे। उनका विवाह भवितव्यता की इच्छा-पूर्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। उसके लिए उनकी अपनी कोई इच्छा व कामना नहीं थी। जो भ्रमर फूल की पंखुड़ी के निकट पहुंच कर भी उसके कोमल एवं कमनीय स्पर्श से अनभिज्ञ रहे, वह भ्रमर कितना निस्पृह होगा? श्री चौथमल जी महाराज एक ऐसे ही निस्पृह थे। उनके अग्रज और पिता के निधन ने उनके वैराग्य को और भी परिपुष्ट कर दिया। जीवन की अमंगल घटनाओं से मां केसरा देवी का मन दुनिया से विरक्त हो चुका था। जो स्वयं विरक्त हो जाये वह दूसरों के लिए बन्धन नहीं बन सकता। जो मां स्वयं साधिका बनने के लिए तत्पर हो उसका जीवन अपने साधक पुत्र के लिए कभी बाधक नहीं बन सकता। पुत्र के स्वरों में मां ने अपने स्वर मिलाये।

श्री चौथमल जी अब किसी आचार-निष्ठ गुरु की खोज में निकल पड़े।

जो हृदय के अज्ञानतम को मिटा कर जीवन में सत्य का दिव्य प्रकाश बिखेर सके वही गुरु के सिंहासन पर समासीन होने के योग्य होता है। गुरु जीवन का चतुर-चितेरा तथा एक कुशल कलाकार माना जाता है। योग्य को योग्य की ही खोज होती है और वह उसे निस्सन्देह प्राप्त हो ही जाता है।

आखिर श्री चौथमल जी को आशु कवि श्री हीरा लाल जी महाराज के दर्शन हुए। यह दर्शन श्री चौथमल जी की खोज की बस अन्तिम सीमा थी, परन्तु यह दर्शन गुरु और शिष्य का एक प्रकार से मधुर मिलन था। कभी-कभी जन्म-जन्म के बिछुड़े हुए हृदय-संस्कारों का पारस्परिक आकर्षण अद्भुत एवं अचूक होता है। पूज्य श्री हीरालाल जी के चरणों को पाकर मोक्षार्थी श्री चौथमल जी के तृषातुर नयनों को अनुपम सुखानुभूति हुई। हृदय गुरु-चरणों में समर्पित होने के लिए

विह्वल हो उठा। आपकी जैनेन्द्री दीक्षा की उत्कण्ठा-नदी में प्रबल वेग आ गया।

दीक्षा केवल वेश-परिवर्तन नहीं, वल्कि त्याग के महापथ पर जीवन का सम्पूर्ण-समर्पण है, आत्मा के अनन्त लोक में माया-विमुख मन का आनन्दमय प्रवेश है। दीक्षा केवल वाह्याचार का आग्रहण ही नहीं, वल्कि समता-योग की साधना के लिए विषय-कषायों का विसर्जन है। दीक्षा मात्र प्रदर्शन नहीं, वल्कि चारित्र-रत्न का सम्यक् परिपालन एवं जीवन का ऊर्ध्वीकरण है। कोई व्यक्ति दीक्षा को भूल से सुविधा-वाद न समझ ले, यह तो व्रतों की असिधारा पर साधक का प्रफुल्ल मन से अनुगमन है, हर्षमय प्रयाण है।

श्री चौथमल जी संयम की इस सुतीक्ष्ण असिधारा पर चलने के लिए कटि-वद्ध थे। वे किसी मंगल अवसर की उत्सुक हृदय से प्रतीक्षा कर रहे थे, किन्तु विधि के लेख अमिट होते हैं। विधाता उनके संयम-पथ पर अवरोध के कांटे विखेर रहा था। उनके ससुर श्री पूनमचन्द जी का विरोध प्रत्येक संघ को सोचने के लिए वाध्य कर देता था। पुत्री-मोह उन्हें ऐसा करने के लिए विवश कर रहा था। वह ससुर असुर नहीं वना। उसका विरोध उचित था कि अनुचित? मैं इस समीक्षा में उतरना नहीं चाहता, किन्तु एक वात अवश्य कहूंगा कि दीक्षा के उपरान्त उसका विरोध उपेक्षा वन कर अवश्य रहा होगा, किन्तु वह प्रतिकार नहीं वना। मोह वड़ा नीच और पतित होता है, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए गजसुकुमार और सोमिल का एक उदाहरण ही पर्याप्त है, किन्तु चरित-नायक के जीवन-चरित के पवित्र-पृष्ठों से ज्ञात होता है कि दीक्षा के उपरान्त रुष्ट ससुर ने उनको किसी भी उपसर्ग से आतंकित नहीं किया। शायद दिवाकर की कुछ रश्मियां उस की तमसावृत हृदय-गुहा में पहुंच गई हों और उसने आपके निष्काम त्याग का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया हो। त्याग से बड़ा संसार में कोई वल नहीं। उसके सामने कभी पाषाण भी नवनीत-पिण्ड वन कर पिघल जाता है।

आपके त्याग-मार्ग को ग्रहण करने के मंगल क्षणों की शोभा को

तो कुछ ही आंखों को देखने का अवसर मिला, क्योंकि आपकी दीक्षा परम्परागत आडम्बरों से एकदम मुक्त रही।

किसी साधक की दीक्षा-शोभा हजारों हृदयों को वाह-वाह करने पर विवश कर देती है, किन्तु जीवन-साधना किसी को भी आकृष्ट नहीं कर पाती और किसी साधक की दीक्षा बड़े ही साधारण रूप में सम्पन्न होती है, किन्तु वह साधक अपने साधना-बल से संघ में एक असाधारण व्यक्तित्व बन जाता है और उसके आध्यात्मिक जीवन की अलौकिक शोभा जन-मानस को आश्चर्य-चकित कर देती है। सर्व-वन्दनीय पूज्य श्री चौथमल जी महाराज भी जैन-शासन में एक ऐसे ही साधक थे, जिनकी दीक्षा साधारण, किन्तु आत्म-साधना असाधारण ही थी।

आत्म-साधना साधु-जीवन का सबसे ऊंचा लक्ष्य है। आत्म-साधना का उद्देश्य है आत्म-गुणों का उत्तरोत्तर विकास तथा अन्ततः पूर्णता की उपलब्धि। विकास के लिए बाधक कारणों को हटाना आवश्यक होता है।

जैन-धर्म की दृष्टि में कषाय साधना-पथ का सबसे बड़ा विघ्न है। कषाय का पूर्ण विजेता अरिहन्त है। जैन साधना कषायों पर विजय पाने की एक साधक-सरणि है। श्रावक तथा श्रमण कषाय पर विजय पाने वाले केवल साधक मात्र हैं।

पूज्य श्री चौथमल जी महाराज भी अपने आपको अरिहन्त-मार्ग का एक साधक ही समझते थे। जो अपने को साधक मानता है वह अवश्य उत्तरोत्तर विकास करता है और एक दिन संसार में महान् व्यक्तित्व का स्वामी बन जाता है।

श्री चौथमल जी महाराज भी गुरु की चरण-शरण में रह कर आत्म-साधना करने लगे और एक दिन जैन-शासन की शान बन गये। जैन-शासन में चारित्र का सम्यक् परिपालन ही आत्म-साधना है, किन्तु वह ज्ञान के बिना सफल नहीं होती।

मंजिल पर पहुंचने के लिए चरणों में वेग, हृदय में उत्साह तथा

आंखों में ज्योति ये तीनों अपेक्षित हैं। ठीक इसी तरह आत्म-सिद्धि पाने के लिए जीवन में चारित्र, हृदय में वैराग्य तथा ज्ञान का सम्यक् प्रकाश ये तीनों तत्व आवश्यक माने जाते हैं।

आपका जीवन इन तीन तत्वों का एक त्रिवेणी-संगम था। आप आत्म-ज्ञानी तो थे ही, इसके साथ-साथ आप एक उच्च-कोटि के विद्वान् भी थे। जैन मुनि के नाते से आप ने जैनागमों का गहन अध्ययन किया था, यह एक प्रकार से आपके अपने परम कर्त्तव्य का परिपालन मात्र था। यह तो अहिंसा धर्म की तरह आपके जीवन का परम धर्म था।

किन्तु अन्य धर्मों के ज्ञानोपवन के कमनीय फूल चुन कर भी आपने अपने स्मृति के आंचल में संग्रहीत किये। यह आप की ज्ञान-साधना का विशेष अंग था। आपका ज्ञान केवल वाणी-विलास या बुद्धि का चमत्कार बन कर नहीं रहा, आपने उसे चिन्तन के द्वारा आत्मसात् भी किया। वह ज्ञान फिर आपके अन्तरङ्ग में अनुभूति के रूप में प्रकट हुआ। ज्ञान और अनुभूति का मधुर मिलन किसी भी साधक के जीवन में किसी अन्य जन्म की साधना के परिणाम-स्वरूप ही होता है। विज्ञानी और ज्ञानी बनने के बाद आप एक कुशल प्रवचनकार भी बने। देखा गया है कि कुछ लोग विद्वान् तथा ज्ञानी तो खूब होते हैं, किन्तु अपने अन्तरङ्ग की बात दूसरे के अन्तरङ्ग में नहीं उतार सकते, किन्तु वे अपनी बात दूसरों के हृदय में उतारने में खूब प्रवीण थे। प्रकृति ने आपको इस प्रवचन-पटुता के अलौकिक गुण से भी खूब विभूषित किया था। आप की धर्म-सभा एक समवसरण के रूप में लगती थी। आपकी ज्ञान-गंगा में आत्म-स्नान करके सभी धर्मावलम्बियों को आत्म-सन्तोष मिलता था। आपके विराट् अध्ययन ने आप के चिन्तन को विराट् बना दिया था। यही कारण था कि सभी धर्मों के लोग आपको प्रवचन-सभा की शोभा बन कर बैठते थे। झोंपड़ी के किसान व मज़दूर, अट्टालिकाओं के सेठ साहूकार तथा राज-भवनों के शहन-शाह सभी आपकी वाणी का अमृत-पान करने के लिए आतुर रहते थे। इस अलौकिक दिवाकर की ज्ञान-रश्मियां हर छोटे-बड़े के मन को आलोक से भर देती थीं।

कुछ विदेशी विद्वान् भी आपके व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट थे। उन्हें भी आपका उपदेशामृत-पान करने में आनन्द आता था।

आपकी सद्प्रेरणा से बुनकर, मोची, चमार, खटीक आदि कितने ही कुसंस्कारी जनों ने अपने हृदय को आपके चरणों में समर्पित करके सदा के लिए सन्मार्ग ग्रहण कर लिया। आप अस्पृश्यता को भारत के माथे का कलंक समझते थे। आप जहां भी जाते थे वहां—

मानव मानव एक समान, सबको सन्मति दे भगवान— का नारा लगा कर साम्यवाद की मन्दाकिनी बहा देते थे।

शासक प्रजा पर शासन करते हैं, किन्तु आप शासकों के हृदय पर भी शासन करते थे। आप निसन्देह वीर थे, किन्तु मूक पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर आप अधीर हो जाते थे। अभयदान का अभियान आपके इस कारुणिक हृदय का ही एक सुपरिणाम था। आप अपने युग के एक महान् शासन-प्रभावक मुनीश्वर थे। संघ-ऐक्य की योजना में आपका सहकार अविस्मरणीय एवं अद्वितीय रहेगा। 'संगठन समाज की रीढ़ है' आपके इस उपदेश ने शासन की जड़ों को काफी बल प्रदान किया। कितने ही सामाजिक उपकार आपके जीवन के कीर्तिमान बन कर इस भारत-वसुन्धरा की शोभा बढ़ा रहे हैं।

दिवाकर उदित होकर आखिर अस्त भी होता है। यह अलौकिक दिवाकर भी एक दिन दुनिया की नजरों से ओझल हो गया, किन्तु उसके चिन्तन का दिव्य प्रकाश उसके साहित्य के अमर पृष्ठों तथा इस धरती के विस्तृत वक्षस्थल पर युग-युगान्तरों तक बना रहेगा। ●

४४

भारत की एक महान् विभूति

आचार्य श्री काशीराम जी महाराज



मैंने अपनी छोटी अवस्था में आचार्य देव के दिव्य वपु-रत्न के पावन दर्शन अपने बाल नयनों से किये तो हैं, किन्तु हृदय-पटल पर उस समय की स्मृति-रेखा स्पष्ट नहीं है। सिवाय दर्शन एवं चरण-स्पर्श के और यह अबोध बालक कर भी क्या सकता था ? उनके आध्यात्मिक जीवन के अन्तरङ्ग में दूर तक जाने की क्षमता तो इस बालक में उस समय नहीं थी। मेरे साधना-पथ के पथिक बनने से दो वर्ष पूर्व आप इस नश्वर लोक को छोड़ कर अमर लोक के वासी बन चुके थे, अतः साधना की किसी राह पर चलते हुए आपके जीवन की कोई भी भव्य झांकी देखने का सौभाग्य मेरी आंखों को नहीं मिल पाया।

साधक जब तक साधना की आंखों से किसी साधक के जीवन को निकट से नहीं देख लेता तब तक अपनी लेखनी की तूलिका से उसके चरित्र का चित्र बनाना उसके लिए कठिन हो जाता है, फिर भी साधना की उस महान् विभूति के सम्बन्ध में जो कुछ पढ़ा एवं सुना है केवल उसी के आधार पर अपने कुछ श्रद्धा-सुमन गूंथ कर प्रस्तुत कर रहा हूं। चाहे ये सुमन दो चार ही हैं, किन्तु हैं सुगन्धित, क्योंकि महापुरुषों का जीवन ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के सुरभित सुमनों का एक बगीचा होता है। मैं उन्हीं के आध्यात्मिक जीवनोपवन के कुछ फूल लेकर उन्हीं के चरण-सरोजों में अर्पण कर रहा हूं, अपने चिन्तन के सूत्र में पिरो कर।

पसरूर उनकी जन्म-भूमि है, कुल और जाति से वे उच्च थे, ऐश्वर्य से भी वे सम्पन्न थे, किन्तु उनके प्रबुद्ध मन ने इन सब उपलब्धियों का आदर नहीं किया, क्योंकि ये सब उनके मार्ग में बाधक थे। उनका

४५

दुर्बल शरीर में एक प्रबल आत्मा
तपस्वी श्री पन्ना लाल जी महाराज

●

इस प्राणी-जगत में मानव-जीवन सर्व श्रेष्ठ माना गया है और मानव-समूह में सन्त-जीवन का उदय और भी अधिक दुर्लभ समझा जाता है।

भारत की धर्म-प्राण वसुन्धरा पर सन्त सदैव ही जन-मानस के लिए श्रद्धा का केन्द्र रहा है। प्रत्येक मानव को जीवन की पगडण्डी पर चलने के लिये आलोक-किरण की अपेक्षा रहती है, उसके लिए वह अपने से उच्च किसी अन्य त्याग-केन्द्र में अपनी श्रद्धा को स्थिर करने का प्रयत्न करता है। जीवन के इस तथ्य ने भारतीय जीवन को सदैव सन्त के पुनीत चरणों की ओर मोड़ने की प्रेरणा दी है।

भारत की आध्यात्मिक संस्कृति में साधु सदा ही प्रकाश-स्तम्भ के रूप में अर्चनीय रहा है और अभी तक भी उसकी पूजनीयता के अ... प्रति भारतीय जनों की श्रद्धा-शिखा किन्हीं कारणों से चंचल एवं जीव... [illegible] होकर भी जल हो रही है, वह बुझ नहीं पाई।

चारित्र के... [illegible] जीवन का सब से बड़ा

शिक्षाविद हो... है

सम्पदा भी अनुपम थी। आपकी प्रवचन-शैली सरल एवं रहस्य पूर्ण होती थी। सम्प्रदाय-वाद में आपका विश्वास नहीं था। "एगे आया" और "एगो धम्मो" यही आपके उद्घोष होते थे। यही कारण था कि हर कोई आपको अपना ही समझता था।

समन्वय-दृष्टि और उदार हृदय ने आपको लोक-प्रिय बना दिया था। धर्म-प्रचार के संकल्प ने आपको पंजाब से बहुत दूर ले जाकर ख्याति के गगन पर पहुंचा दिया।

दिल्ली, उत्तर प्रदेश, गुजरात, कच्छ, महाराष्ट्र तथा राजस्थान आपका विहार-क्षेत्र रहा। कितने ही वर्षों तक आप उस धरती को अपने अमृत-जल से सींचते रहे। लाखों लोग आपका चरण-स्पर्श पाकर कृतार्थ हो गये। पंजाब का नाम आपने सर्वत्र चमका दिया और वापसी पर पञ्जाब का कण-कण हर्ष और गौरव से नाच उठा था। बस, अम्बाला में उनका स्थिर-वास हो गया, शारीरिक अस्वस्थता के कारण।

सूर्य यदि उदित होता है तो वह एक दिन अस्त भी होता है। महत्त्व आने और जाने का नहीं, वल्कि दुनिया में रहने और कुछ कर दिखाने का है और इसी से व्यक्ति का इतिहास बनता है। आपने जो कुछ भी अपने पीछा छोड़ा है वह प्रत्येक साधक के लिए उसके साधना-पथ के लिए प्रकाश की रेखाएं बन कर रहेगा। आपके दिवंगत होने के वाद आपकी पावन-स्मृति में कितने ही संस्थान बने हैं। वे सब अपने-अपने स्थान पर अपना महत्त्व रखते हैं।

किन्तु पञ्जाब के जैन-बन्धुओं ने आपकी याद में जो कुछ बम्बई खार में बनाया है, वह अनुपम है, अद्वितीय है। वह है "अहिंसा-भवन" जो धर्म-ध्यान, लोक-सेवा तथा परोपकार जैसी सुप्रवृत्तियों का एक प्रसिद्ध केन्द्र है। यह सब पंजाबी जैन भाइयों के अनथक परिश्रम का ही सुफल है। बम्बई का यह भव्य स्मारक आचार्य देव के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा का एक सजीव उदाहरण है।

अपने इन्हीं शब्दों के साथ उनकी जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में समर्पित कर रहा हूं उनके चरण-सरोजों में अपने श्रद्धा-सुमन। ●

गन्तव्य तो मोक्ष-धाम था। यह भोग का पथ उधर नहीं जाता था। उन्होंने सत्पथ की खोज की। वह मार्ग उन्हें मिला ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में। आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज की चरण-शरण में आ कर उन्हें जीवन का प्रकाश मिला। वे पहले से कहीं अधिक सम्पन्न बन गये। वे कुल और जाति से तो ऊंचे थे ही अब मोक्ष-पथ के राही बन कर चारित्र की दृष्टि से भी वे उच्च हो गये।

वे साधु बन गये, केवल वेष से नहीं मन से—हृदय के सच्चे भाव से। अगर ऐसा सच्चा भाव न होता तो वे घर वालों के प्रलोभनों के आगे झुक जाते और फिर वे अनन्त संसार-पथ के ही राही बने होते, मुनि बनने के बाद सब कुछ भूले बिना 'अपने' को आज तक कोई नहीं पा सका। अपने को पाने के बाद व्यक्ति अपने में सबको और सब में अपने को देखने लगता है। यही है क्षुद्र से विराट् होना। वीतरागता का मूल यही समभाव एवं आत्म-भाव है। सन्त श्री काशीराम जी इस इस समता-साधना एवं आत्म-साधना में लग गये। उन्होंने अपने मन, वचन एवं शरीर के समस्त वीर्य को उपधान-तप के लिए समर्पित कर दिया। वे सन्तत्व के मार्ग पर बढ़ते हुए युवाचार्य और आचार्य बन गये, किन्तु यह सब उनके लिए लौकिक ही था। मुनि-पद सर्वोपरि होता है। मोक्ष मुनि पद से ही मिलता है न कि पुण्य-जनित लौकिक पदों के बल पर, इस तथ्य के वे ज्ञाता थे। इसलिए इन नश्वर पदों का मोह उन्हें बांध नहीं सका। वे संघ के स्वामी बनने में नहीं, बल्कि अपने मन के स्वामी बनने में अधिक गौरव का अनुभव करते थे।

आपके युग में "आचार-पालन" ही जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता था। समझा तो आज भी जाता है, किन्तु कठोरता से पाला नहीं जाता। आज का साधक शिक्षा, प्रचार एवं प्रसार को अधिक महत्व देने लगा है। शिक्षा जीवन का आलोक है और चारित्र जीवन की गति है। शिक्षा के प्रकाश में मञ्जिल नजर आती है और चारित्र के बल पर उस तक पहुंचा जाता है। आपका विश्वास था कि शिक्षाविद् होना अच्छा है, किन्तु सबसे अधिक उत्तम है "आत्मविद्" होना। आपकी शरीर-सम्पदा तो अनूठी थी ही, किन्तु आपकी गुण-

सम्पदा भी अनुपम थी। आपकी प्रवचन-शैली सरल एवं रहस्य पूर्ण होती थी। सम्प्रदाय-वाद में आपका विश्वास नहीं था। "एगे आया" और "एगो धम्मो" यही आपके उद्घोष होते थे। यही कारण था कि हर कोई आपको अपना ही समझता था।

समन्वय-दृष्टि और उदार हृदय ने आपको लोक-प्रिय बना दिया था। धर्म-प्रचार के संकल्प ने आपको पंजाब से बहुत दूर ले जाकर ख्याति के गगन पर पहुंचा दिया।

दिल्ली, उत्तर प्रदेश, गुजरात, कच्छ, महाराष्ट्र तथा राजस्थान आपका विहार-क्षेत्र रहा। कितने ही वर्षों तक आप उस धरती को अपने अमृत-जल से सींचते रहे। लाखों लोग आपका चरण-स्पर्श पाकर कृतार्थ हो गये। पंजाब का नाम आपने सर्वत्र चमका दिया और वापसी पर पञ्जाब का कण-कण हर्ष और गौरव से नाच उठा था। बस, अम्बाला में उनका स्थिर-वास हो गया, शारीरिक अस्वस्थता के कारण।

सूर्य यदि उदित होता है तो वह एक दिन अस्त भी होता है। महत्व आने और जाने का नहीं, बल्कि दुनिया में रहने और कुछ कर दिखाने का है और इसी से व्यक्ति का इतिहास बनता है। आपने जो कुछ भी अपने पीछा छोड़ा है वह प्रत्येक साधक के लिए उसके साधना-पथ के लिए प्रकाश की रेखाएं बन कर रहेगा। आपके दिवंगत होने के बाद आपकी पावन-स्मृति में कितने ही संस्थान बने हैं। वे सब अपने-अपने स्थान पर अपना महत्व रखते हैं।

किन्तु पञ्जाब के जैन-बन्धुओं ने आपकी याद में जो कुछ बम्बई खार में बनाया है, वह अनुपम है, अद्वितीय है। वह है "अहिंसा-भवन" जो धर्म-ध्यान, लोक-सेवा तथा परोपकार जैसी सुप्रवृत्तियों का एक प्रसिद्ध केन्द्र है। यह सब पंजाबी जैन भाइयों के अनथक परिश्रम का ही सुफल है। बम्बई का यह भव्य स्मारक आचार्य देव के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा का एक सजीव उदाहरण है।

अपने इन्हीं शब्दों के साथ उनकी जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में समर्पित कर रहा हूं उनके चरण-सरोजों में अपने श्रद्धा-सुमन।

४५

दुर्बल शरीर में एक प्रबल आत्मा
तपस्वी श्री पन्ना लाल जी महाराज



इस प्राणी-जगत में मानव-जीवन सर्व श्रेष्ठ माना गया है और मानव-समूह में सन्त-जीवन का उदय और भी अधिक दुर्लभ समझा जाता है।

भारत की धर्म-प्राण वसुन्धरा पर सन्त सदैव ही जन-मानस के लिए श्रद्धा का केन्द्र रहा है। प्रत्येक मानव को जीवन की पगडण्डी पर चलने के लिये आलोक-किरण की अपेक्षा रहती है, उसके लिए वह अपने से उच्च किसी अन्य त्याग-केन्द्र में अपनी श्रद्धा को स्थिर करने का प्रयत्न करता है। जीवन के इस तथ्य ने भारतीय जीवन को सदैव सन्त के पुनीत चरणों की ओर मोड़ने की प्रेरणा दी है।

भारत की आध्यात्मिक संस्कृति में साधु सदा ही प्रकाश-स्तम्भ के रूप में अर्चनीय रहा है और अभी तक भी उसकी पूजनीयता के प्रति भारतीय जनों की श्रद्धा-शिखा किन्हीं कारणों से चंचल एवं अस्थिर होकर भी जल हो रही है, वह बुझ नहीं पाई।

सन्त-दर्शन जीवन का सब से बड़ा पुण्य एवं सौभाग्य है। सन्त-सेवा जीवन का सबसे बड़ा सुकृत है और सन्त-समागम जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। ये समस्त मंगल-सूक्त आज भी भारतीय

जनता की जबान से सुनाई देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भारत का मानव अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक बातों से गुजरने के पश्चात् भी सन्त-जीवन के अनुपमेय महत्व तथा उसके समुज्ज्वल इतिहास को भूला नहीं है। साधु - सन्तों के प्रति उसकी आस्था किसी न किसी रूप में अभी भी बनी हुई है।

श्रद्धा का केन्द्र तप, त्याग एवं वैराग्य होता है। जिनके जीवन में ये सद्गुण जितना उच्च रूप लेकर रहते हैं उनके प्रति श्रद्धा भी उतनी ही सुदृढ़ बन कर रहती है। इस तथ्य को अधिक स्पष्टता देने के लिये एक उदाहरण देना उपयुक्त रहेगा।

दीपक में जब तक तेल भरा रहता है, उसकी बत्ती की तेजस्विता; भी बनी रहती है। जब तेल कम हो जाता है तो उसकी ज्योति भी मन्द होने लगती है। तेल के समाप्त होते ही बत्ती बुझ जाती है। हम देखते हैं कि तब घर की हर चीज को दृष्टिपथ पर लाने वाला दीपक स्वयं ही दूसरों की दृष्टि से ओझल हो जाता है। ठीक यही स्थिति जीवन की भी है।

जीवन में जब तक तप-त्याग का तेल भरपूर रहता है तब तक उस जीवन में तेज अक्षुण्ण बना रहता है। तप-त्याग का तेल जब कम हो जाता है तो फिर जीवन-तेज की बाती भी क्षीण होने लगती है। दीपक की क्षीण शिखा जैसे अन्धकार से लड़ने में असमर्थ हो जाती है, ठीक इसी प्रकार त्याग एवं तेजहीन जीवन में अपने अन्तरंग के विकारों से संघर्ष करने की क्षमता भी क्षीण हो जाती है। अन्धकार में संघर्ष-रत दीपक जैसे बुझ कर अन्धकार में ही विलीन हो जाता है, ऐसे ही त्याग-हीन जीवन भी दूसरों की दृष्टि में अपना अस्तित्व खो बैठता है। वैसे तो त्याग प्रत्येक जीवन की शोभा है, किन्तु साधु-जीवन का तो यह सर्वस्व ही समझा जाता है। भारत के चिन्तन जगत् में एक अकिंचन सन्त का स्थान एक वैभवशाली शहनशाह से भी ऊंचा माना जाता है।

तपोमूर्ति श्री पन्नालाल जी महाराज—

आज एक ऐसे ही सन्त की जीवन-गाथा पर दो शब्द लिखने का

संकल्प मेरी लेखनी के अन्तरंग में उत्पन्न हुआ है। केवल कोरे व्यवहार से ही नहीं, बल्कि हृदय की गहन श्रद्धा से ही इस पुनीत संकल्प का उद्‌भव हुआ है।

जैन-शासन के तपस्वी सन्तों में पूज्य श्री पन्नालाल जी महाराज का नाम काफी प्रसिद्ध था। मेरे इस वाक्य का अन्तिम शब्द "था" इस बात का द्योतक है कि वे अब इस धरती पर नहीं रहे। मृत्यु के निष्ठुर हाथों ने उन्हें कुछ वर्ष पहले हम से अलग कर दिया। मृत्यु किसी भी व्यक्ति को इस धरती से उठा कर ले जा सकती है, किन्तु किसी के हृदय से उसकी स्मृति को उठा देने की शक्ति उसमें नहीं है। नियम है कि व्यक्ति दूर जा कर अधिक याद आने लगता है, उसके आदर्श नक्षत्र बन कर हृदय-गगन में चमकने लगते हैं, उसकी पावन स्मृति कभी-कभी श्रद्धा बन कर आंखों से ढुलकने लगती है और मस्तक उनके चरणों में बरबस श्रद्धानत हो जाता है।

पूज्य श्री पन्नालाल जी महाराज सरलता एवं भावुकता की सजीव प्रतिमा थे। पंजाब की हर आंख ने उस ऋजु आत्मा के दर्शन किये हैं। मुझे जालन्धर तथा लुधियाना में अनेक बार आपके चरणों का पुनीत संस्पर्श करने का सौभाग्य मिला। आचार्य श्री जी जब तक लुधियाना में विराजमान रहे तब तक लुधियाना एक तीर्थ-स्थान तथा एक तपोभूमि बना रहा। अध्यात्म-भूमि तो वह आज भी है, किन्तु एक आत्म-तरु की शीतल छाया का अभाव वहां पर रहने वाले सभी सहृदय अब भी अनुभव करते हैं। जैसे एक सघन वृक्ष के नीचे बैठने से नाना पक्षियों के नाना प्रकार के कलरव इन कानों को सहज में ही सुनने को मिल जाते हैं, ऐसे ही उस ज्ञान-कल्पवृक्ष के नीचे बैठने मात्र से ही दूर-दूर से आने वाले सन्तों के दर्शन अनायास ही हो जाते थे। कितना पुण्य था उन आंखों का।

कवि श्री चन्दन मुनि जी महाराज आचार्य श्री जी से आगम-ज्ञान लेने के लिये कितनी ही बार लुधियाना पधारे। तब मुझे तपस्वी जी के चरणों की शीतल छांह में बैठने का कभी-कभी अवसर मिल जाता

था। उनकी भोली-भाली और सीधी-सादी बातें एकदम हृदय में बैठ जाती थीं। माना कि उनकी गणना समाज के प्रकाण्ड पंडितों, प्रौढ़ विद्वानों, कुशल कवियों, महान लेखकों तथा प्रसिद्ध वक्ताओं में नहीं थी, किन्तु एक आत्मा के साधक, निवृत्ति-मार्ग के महापथिक एक मुमुक्षु मुनि के जीवन में यह सब कुछ होना इतना आवश्यक भी नहीं है। ये जीवन के अन्तर गुण हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम तथा शुभ नाम कर्म के उदय से किन्हीं साधकों को ये लौकिक उपलब्धियां प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु यदि इन के साथ संयम और विवेक का सम्बन्ध न रहे तो ये साधक के जीवन में मोह जागृत कर के उसे आत्म-योग से विचलित भी कर देती हैं। यदि साधु के जीवन में मूल गुणों के साथ उत्तर गुण भी हों तो यह 'सोने में सुहागा' समझा जाता है, या इसे सोने में सुगन्ध कह सकते हैं, किन्तु यदि सुहागा और सुगन्ध न हों तो सोना कोई पीतल नहीं बन जाता, वह तो सोना ही रहता है। सोने में सुगन्ध यह विशिष्ट गुण के बखान में असत् उपमा का आश्रयण मात्र है। उत्तर गुणों के न होने से मूल व्रतों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। साधु-जीवन की आध्यात्मिक साधना का मूल तो मूल व्रत ही हैं. न कि लौकिक उपलब्धियां। पूज्य श्री पन्नालाल जी महाराज को अपने मूल व्रतों में पूरी आस्था थी और वे अपने व्रतों का पालन पूरी श्रद्धा के साथ तीन करण और तीन योग से करने के लिये सदैव प्रयत्न-शील रहते थे।

आज के युग की हवा उन्हें नहीं लगी थी। वे कोरे तार्किक तथा दार्शनिक नहीं थे, बल्कि सत्य पथ पर चलने वाले एक सच्चे साधक थे। विनय, सरलता तथा अप्रमाद ये आत्म-साधना के तीन स्वर्ण-सूत्र हैं। जिस साधक में ये सूत्र नहीं समझ लीजिये कि उसमें कुछ भी नहीं। इन तीन गुणों के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने साधक को उद्बोधन देते हुए कहा—

१. नच्चा नमइ मेहावी।
२. सोही उज्जुयभूयस्स।
३. अप्पमत्तो परिव्वए॥

१. विनय के स्वरूप को जान कर मेधावी साधक सदैव नम्र होकर रहता है।

२. ऋजुभूत साधक की सदा शुद्धि होती है।

३. साधक को सदैव अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिये।

आज का साधक अपने जीवन में इन तीनों साधना-सूत्रों की ही सबसे अधिक उपेक्षा कर रहा है। मिथ्या अधिकारवाद साधक के विनय गुण को नष्ट कर देता है, जड़ बुद्धिवाद उसे सत्य से दूर ले जाता है और भौतिकवाद व्यक्ति को बाह्यमुखी बना कर उसे प्रमाद के गर्त में धकेल देता है।

जीवन से जब विनय निकल जाती है, तब उच्छृङ्खलता बढ़ जाती है, सरलता जाती रहती है तो छल के लिए प्रवेश द्वार खुल जाता है और जब जीवन में प्रमाद आ जाता है तो साधक के जीवन पर विषयों और कषायों का आधिपत्य बढ़ जाता है।

साधना के प्रांगण में आज जो कुछ भी नजर आ रहा है वह इस तथ्य का प्रमाण है कि साधक के जीवन में चारित्र के मौलिक तत्त्वों की उपेक्षा प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

मैं मानता हूं कि समाज में आत्म-निष्ठ साधक भी कम नहीं हैं, किन्तु जैन-शासन जैसे विशुद्ध आध्यात्मिक जगत् में भी कलह, ईर्षा, विद्वेष तथा वैमनस्य आदि दोष बढ़ रहे हैं। तो इनका कोई न कोई कारण तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि बिना कारण के तो कोई कार्य नहीं होता। जीवन के मौलिक गुणों की अवहेलना के अतिरिक्त शायद इसका अन्य कोई कारण नहीं है।

वन्दनीय श्री पन्नालाल जी महाराज अपने युग के एक योगनिष्ठ मुनीश्वर थे। अपने गुरुजनों का तो वे आदर करते ही थे, अपने से छोटों के प्रति भी बहुत मधुर थे। उनके मन, वचन और काया में सदैव एक-रूपता रहती थी। आलस्य उनको छू भी नहीं गया था। अपनी संयम-क्रियाओं में वे बहुत सजग थे। स्वावलम्बन में ही वे सच्चा सुख समझते थे। वे उपदेश तो नहीं देते थे, किन्तु उनका प्रत्येक आचरण

ही अन्य साधकों के लिए मार्ग-दर्शन का काम करता था। वे सचमुच ही एक मौन योगी महापुरुष थे।

राजस्थान का 'ढावां' ग्राम उनके जन्म से धन्य बना। पंजाब का डबवाली नगर उनकी दीक्षा से उज्ज्वल हुआ। बरनाला उनके निर्वाण से पावन हो गया। अपने पूज्य गुरु श्रद्धेय श्री चन्द जी महाराज के नाम को उन्होंने चार चांद लगा कर अपनी गुरु-भक्ति का सच्चा परिचय दिया। उन्हें अपने जीवन में एक ही शिष्य मिले— वे हैं कवि-चक्र-चूड़ामणि श्री चन्दन मुनि जी महाराज, जिनके शीतल-ज्ञान-सौरभ से सारा जैन-शासन चन्दन की तरह महक रहा है। आकाश के अगणित तारों में चन्द्रमा एक ही होता है जो सारे अन्धकार को दूर कर देता है।

योग्य शिष्य एक ही वहुत होता है। गुरु की वृद्धावस्था में योग्य शिष्य की सेवा का सम्बल इस धरती पर चित्त-समाधि का सबसे बड़ा अवलम्वन है। यह सहारा पूज्य श्री पन्नालाल जी महाराज को अपने प्रिय एवं सुविनीत शिष्य श्री चन्दन मुनि जी से जीवन के अन्तिम क्षणों तक निरन्तर मिलता रहा है। तपस्वी जी महाराज का शरीर वैसे भी कुछ दुर्बल ही था और वार्धक्य में व्यक्ति और भी अशक्त हो जाता है, किन्तु जिस के पास चारित्र-बल है, उसकी आत्मा सदैव बलवान् रहती है। मृत्यु को सम्मुख देख कर भी वह हंसता रहता है। पूज्य श्री पन्नालाल जी महाराज सचमुच एक ऐसे ही सन्त थे, जिनका शरीर दुर्बल और आत्मा बलवान् थी।

४६

पुरुषार्थ के साकार रूप महान् सन्त बाबा श्री विजय मुनि जी महाराज



आज मैं आपको एक ऐसे सन्त पुरुष की जीवन झांकी दिखाने लगा हूं जो वृद्ध होकर भी एक युवक का हृदय रखते थे। उनके मन की मञ्जूषा में श्रद्धा, उत्साह, कर्त्तव्य-निष्ठा तथा समता जैसे अमूल्य रत्न भरे हुए थे। जिस मन में यह सब कुछ था, वहां इतना कुछ ही नहीं था, वहां और बहुत कुछ था, और क्या-क्या था? लीजिए उनके सम्बन्ध में कुछ लिख ही देता हूं।

उनकी आंखों में दिव्यता का प्रकाश था। गले में मधु सा माधुर्य भरा था। उनकी आवाज़ में ऐसा आकर्षण था जो दूरस्थ हृदयों को भी खींच कर अपने पास बुला लेता था। उनके स्वभाव में बालकों जैसी सरलता थी। उनके मन का छल-कपट से कोई परिचय ही नहीं था।

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।

मन, वचन तथा काया की एक रूपता ही महात्माओं का लक्षण है, महान् आत्माओं के गुणों और उनके चित्त का अभिन्न सम्बन्ध था। उनके कर-कमलों में करुणामयी कोमलता थी, उनके चरणों में धर्म-प्रचार-हित विहार करने का पुनीत-पराक्रम था। उनके उच्छ्वास एवं निश्वास में भक्ति-भावना की सुगन्ध भरी हुई थी।

मनोहर विचारों के मनोहर चित्र-२



उपाध्याय श्री मनोहर मुनि जी महाराज के
चिर-सहयोगी स्वर्गीय संगीत-सम्राट
श्री बाबा विजय मुनि जी महाराज

एक समय था जब कि पूर्वी-भारत के विहार-पथ पर बढ़ने का साहस रखने वाला मेरे पास कोई सुयोग्य साथी नहीं था। आप उस समय मेरे पास मेरी समस्याओं का समाधान बन कर आए। इस समाधान में उपाध्याय राष्ट्र-सन्त कवि श्री अमर मुनि जी महाराज प्रेरक के रूप में थे। जिनके उपकार को मेरा कृतज्ञ हृदय कभी भी भूलता नहीं। आपका मिलन मुझे चित्त और सम्भूति सा लगा जो कितने ही जन्मों के पश्चात् मिले थे। अन्तर केवल इतना रहा कि वे सन्त और सम्राट् के रूप में एक दूसरे के सामने आए और हम मिले दोनों सन्त के वेश में और सन्त के ही हृदय से। मिले कहां ? कानपुर के प्रांगण में। आप ने आकर मेरे स्थिर पगों को गति दी और विहार-मार्ग पर हम चल पड़े एक दूसरे के अभिन्न सहयोगी बन कर पूर्वी भारत की ओर। आपके श्री-चरणों में मैंने अपने जीवन का प्रथम चातुर्मास उनके साथ किया कलकत्ता के प्रांगण में, यह मेरे जीवन का प्रथम चातुर्मास ही क्यों ? क्योंकि उनकी छत्र-छाया में और गुजराती समाज के बीच यह मेरा पहला ही वर्षावास था। शासन-देव की कृपा से हमारा यह चातुर्मास महत्वपूर्ण उपलब्धियों के साथ आनन्द एवं उल्लासमय क्षणों में सम्पन्न हुआ।

चातुर्मास के अनन्तर हमारे कदम बढ़े खड़गपुर की ओर। उस सन्त-पुरुष की प्रेरणा से वहां "अहिंसा-सम्मेलन" का आयोजन किया गया। जो बंगाल की धरती पर अहिंसा-प्रचार की दिशा में और 'सर्व-धर्म-समन्वय' के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। "इससे आगे किस ओर बढ़ना है ?" मैंने पूछा। ' निकट ही भगवान जगन्नाथ का देश कलिंग है जो कभी जैन धर्म का केन्द्र था। इस मत्स्याहारी देश में अहिंसा का प्रचार आज के युग की मांग है। उस धरती पर अहिंसा की ज्योति जगाने का पुनीत लक्ष्य लेकर उस ओर बढ़ना मुझे मंगलमय लगता है।" उस वृद्ध मुनि के मन ने उत्तर दिया। मैंने उनके वचन को ब्रह्म-वाक्य मान लिया और कलिंग की ओर चल पड़ा। हमारा आगामी चातुर्मास स्वीकृत हुआ कलिंग देश की राजधानी भुवनेश्वर के निकटवर्ती महानगर कटक में, चातुर्मास का स्थान था काजी

बाजार स्थित श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन उपाश्रय। जैन स्थानक उधर नहीं था। हमें उस उपाश्रय में संयममय जीवन के समस्त साधन उपलब्ध थे, तनिक भी असुविधा उधर नहीं थी।

यदि तत्व-दृष्टि से देखें तो साधु के लिए कहीं कोई असुविधा नहीं होती, क्योंकि उसके पास समभाव की ऐसी अमोघ शक्ति रहती है कि वह असुविधा को भी सुविधा बना लेता है। ऐसी स्थिति में दुःख क्यों हो सकता है उसे? समभावी को सर्वत्र तथा सदैव सुख ही सुख मिलता है।

दोनों संघों के श्रद्धामय सहयोग से चातुर्मास की शोभा तो बढ़ी ही, किन्तु जन-मानस के लिए वह सौहार्द, सहयोग, औदार्य एवं समन्वय का एक उदाहरण भी बन गया।

"उत्कल की धरती पर अहिंसा का उद्योत हो" मेरे सहयोगी सन्त की इस पवित्र भावना ने मेरे कदमों को उड़ीसा में ही विचरने के लिए प्रेरित किया। भुवनेश्वर, खुर्दारोड़ तथा बालासोर जैसे प्रसिद्ध नगरों में वर्षावास करके उड़ीसा की जनता को श्रमण-संस्कृति के निकट लाने का प्रयास किया गया। इस अहिंसा-प्रचार के अभियान में जो आशातीत सफलता मिली उस में मेरे परम-सहयोगी मुनीश्वर के सहयोग एवं अनथक परिश्रम का ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर हम उड़ीसा में ही थे। जिनेन्द्र वीर की पुनीत स्मृति में कटक में एक "श्रमण-संस्कृति-केन्द्र" के रूप में 'अहिंसा-भवन' का निर्माण किया गया। हमने अपना पांचवां चातुर्मास उसी भवन में बिताया। मैं उस भवन को भी अपने साथी सन्त की प्रेरणा एवं भावना का ही साकार रूप समझता हूं।

पांच वर्षों के पश्चात् हमने उड़ीसा को छोड़ा और आन्ध्र की धरती को पार करते हुए हैदराबाद जा पहुंचे। यह भी मेरे सहयोगी के अदम्य उत्साह, अद्भुत लगन तथा अनुपम धैर्य का ही फल था कि हम कटक से चल कर वर्षातप के पारणों अर्थात् [illegible]

ही हैदराबाद के प्रांगण म आ गये। यहां का चातुर्मास भी सोत्साह सम्पन्न हुआ।

हमारी अगली मंजिल थी वम्बई। विहार में जहां मनोबल अपेक्षित है वहां शरीर का स्वस्थ होना भी बहुत आवश्यक है। मेरे हमराही मुनि का स्वास्थ्य पहले जैसा नजर नहीं आता था। लम्बे विहारों, वार्धक्य रोगों के कारण शारीरिक वल में कुछ शैथिल्य झलकने लगा, किन्तु इतना होने पर भी उनके मनोवल में जरा भी कमी नहीं आई। वे प्राय: कहा करते थे कि "मैं शरीर से ही वूढ़ा नजर आता हूं, किन्तु मैं मन से अभी भी जवान हूं। मैंने कभी भी अपने आपको वूढ़ा नहीं समझा।" उनके इस कथन में आत्म - विश्वास के स्वर निहित थे। यह उनके आत्म-वल का ही चमत्कार था कि हम हैदरावाद से विहार करके लगलग तीन ही महीनों में वम्बई की धरती पर पहुंच गये। अपने सरल स्वभावी मित्र-सन्त के पावन सहयोग से कान्दीवलो, खार एवं गोरेगांव में मैंने यशस्वी चातुर्मास व्यतीत किये। इसका अधिकांश श्रेय मेरे सहयोगी वावा जी को ही है, जिनके मधुर गीतों ने जन-जन के मन को मोह लिया था।

एक प्रेम की गङ्गा बहती है, भगवान तुम्हारे चरणों में।

आपका यह प्रार्थना-गीत वम्बई में सर्वप्रिय बन गया था। अव भी वम्वई के लोग इस गोत को प्रेम-पूर्वक सुनाते हैं और अपनी प्रार्थना सभाओं में तथा जव कभी मन में आता है तब वड़े प्रेम से इसे गाते हैं। वम्वई का वच्चा-वच्चा आज भी उन्हें एक मधुर गायक के रूप में याद करता रहता है।

घाटकोपर (वम्वई) का चातुर्मास हमारे लिए सुखकर नहीं रहा। मेरे प्रिय साथी चक्करों के रोग से पीड़ित होकर अत्यन्त अस्वस्थ हो गए। यह उनके शरीर का एक पुराना रोग था। जो वृद्धावस्था तथा शारीरिक दौर्वल्य के कारण अधिक बढ़ गया था और भी अनेक प्रकार के रोगों ने उनके शरीर को घेर लिया था, ऊंचे से ऊंचे उपचार भी उन्हें स्वास्थ्य न दे सके। पूरे दस महीने वे रोग-शय्या पर पड़े रहे।

भला आयुष्य का एक क्षण भी बढ़ाने में इस दुनिया में कौन समर्थ है ? कोई नहीं। मेरे जीवन की एक-एक घड़ी उनकी सेवा के लिए समर्पित थी, किन्तु उस अन्तिम घड़ी के सन्मुख मैं असहाय बन कर नत-मस्तक था।

तब से अनेक वर्ष बीत गए हैं। मेरे अभिन्न सहयोगी को अमर लोक की ओर प्रयाण किये। वे शरीर से मेरे से बहुत दूर चले गये हैं, किन्तु मेरे हृदय-लोक में वे सदैव मेरी आंखों के सामने रहते हैं। मैं उन्हें अपना उपकारी मान कर प्रति वर्ष उनका पुण्य-स्मरण करता हूं।

कौन थे मेरे वे परम आदर्श एवं अभिन्न सहयोगी ? मैं आपके औत्सुक्य को अब अधिक समय तक आतुर नहीं रखना चाहता।

वे थे मधुर-गायक पुरुषार्थ की सजीव प्रतिमा वयोवृद्ध बाबा श्री विजय मुनि जी महाराज।

